

श्री खण्डदेवविरचिता
भाट्टदीपिका
द्वितीयं संपुटम्

प्रधान संपादकः
डॉ. मण्डन मिश्रः, निदेशकः

संपादकः
पं. श्री. संपन्नारायणाचार्यः
न्यायमीमांसा, वेदान्त विद्वान्
उपनिदेशकः



प्रकाशकः
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्
जो. एन. ४, विशाल एम्बलेव, राजा गार्डन
नई दिल्ली-११००२७

प्रकाशक:

डॉ. मण्डन मिश्र:

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान

जी. एन. ४, विशाल एन्क्लेव, राजा गार्डन,

नई दिल्ली-११००२७

मुद्रक:

अमर प्रिंटिंग प्रेस

ब/२५, विजय नगर

दिल्ली-११०००६.

भाट्टदीपिकाद्वितीयसम्पुटविषयाः.

तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः—

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | |
|---|----|
| 1 ध्रुवाज्यादिभिः स्विष्टकृदादिशेषानुष्ठानम् | 1 |
| 2 साकंप्रस्थाय्ये शेषकर्मानुष्ठानम् | 2 |
| 3 सौत्रामण्यां शेषकर्मानुष्ठानम् | 3 |
| 4 सर्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदिडादीनां सकृदनुष्ठानम् | 4 |
| 5 सोमे शेषभक्षणम् | 5 |
| 6 उद्गातृणां सह सुब्रह्मण्येन भक्षः | 6 |
| 7 धावस्तुतस्तोमभक्षः | 8 |
| 8 वषट्करणस्य भक्षनिमित्तता | 9 |
| 9 होमाभिषवयोर्भक्षनिमित्तता | 11 |
| 10 वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षः | 12 |
| 11 होतुः प्रथमभक्षः | 13 |
| 12 भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वम् | 14 |
| 13 एकपात्राणामनुज्ञापनम् | 15 |
| 14 स्वयंयष्टुः भक्षास्तित्वम् | ” |
| 15 फलचमसस्येज्याविकारता | 16 |
| 16 ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसादुप्रसर्पणम् | 18 |

तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः—

| | |
|--|----|
| 1 श्रवादिषु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिता | 20 |
| 2 सामिधेनीनां समदससङ्ख्याया विकृतिगामिता | 21 |

अधिकरणानि.

पुटान.

| | |
|--|----|
| 3 नैमित्तिकसाप्तदश्यस्य प्रकृतिगोमिता | 22 |
| 4 आधानस्य पवमानेष्टयनङ्गता | 23 |
| 5 आधानस्य सर्वार्थता | 24 |
| 6 पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्तव्यता | 25 |
| 7 उपाकरणादीनामग्रीवोमीयधर्मत्वम् | 26 |
| 8 शाखाहरणादीनामुभयदोहधर्मत्वम् | 30 |
| 9 सादनादीनां सवनत्रयधर्मत्वम् | „ |
| 10 रशनात्रिष्टुत्वाद्दीनां सर्वपशुधर्मत्वम् | 31 |
| 11 अंश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वम् ... | 32 |
| 12 चित्रिण्यादीष्टकानामग्र्यहत्वम् | 33 |
| 13 अभिषवादीनां सोममात्रधर्मत्वम् | „ |
| 14 प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मावुष्ठानम् | 35 |
| 15 श्रुतेष्वपि प्रतिनिधियु मुख्यधर्मावुष्ठानम्.... | 36 |
| 16 दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गत्वम् | 37 |

तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः—

| | |
|---|----|
| 1 बर्हिःरादीनां दर्शपूर्णमासतदङ्गोभयाङ्गता | 39 |
| 2 स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थता | 40 |
| 3 सौमिकवेद्यादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गता | 42 |
| 4 अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानोभयाङ्गता ... | „ |
| 5 दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थता | 43 |
| 6 अन्तर्वेदेयूपानङ्गता | 45 |
| 7 हविर्धानस्य सामिधेय्यनङ्गता | 47 |
| 8 अङ्गात्तामन्यद्वाराऽवुष्ठानम् | „ |
| 9 ऋत्विजां परिक्रीतानां सङ्ख्याविशेषनियमः | 49 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | | | | |
|----|---|------|------|----|
| 10 | चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वम् | | | 50 |
| 11 | „ बहुत्वनियमः | | | 51 |
| 12 | „ दशसंख्यानियमः | | | „ |
| 13 | शमितुरपृथक्त्वम् | | | „ |
| 14 | उपगस्यापृथक्त्वम् | | | 52 |
| 15 | सोमविक्रेतुः पृथक्त्वम् | | | „ |
| 16 | ऋत्विगिति नाम्नोऽसर्वगामित्वम् | | | „ |
| 17 | दक्षिादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशर्त्विक्त्वम् | | | 54 |
| 18 | ऋत्विजां स्वामिसप्तदशत्वम् | | | „ |
| 19 | अध्वर्वादीनामाध्वर्यवादिषु कर्तृतानियमः | | | „ |
| 20 | अग्नेः प्रकृतिविकृतिसर्वार्थता | | | 55 |
| 21 | समाख्यायातकर्तृत्वस्यापि क्वचिद्वाधः | | | 56 |
| 22 | समुच्चितयोरनुवचनप्रैषयोर्मैत्रावरुणकर्तृत्वम् | | | „ |
| 23 | चमसहोमेऽध्वर्युचमसाध्वर्युर्कर्तृता | | | 59 |
| 24 | इयेनवाजपेययोरनेककर्तृकता | | | 60 |

तृतीयस्याध्यायस्याष्टमः पादः—

| | | | | |
|---|--------------------------------------|------|------|----|
| 1 | क्रयस्य स्वामिकर्मता | | | 62 |
| 2 | संस्काराणां वपनादीनां याजमानता | | | 63 |
| 3 | तपसश्च याजमानता | | | 65 |
| 4 | लोहितोष्णीषतादीनां सर्वस्विगन्धर्मता | | | 66 |
| 5 | इष्टिकामनाया याजमानता | | | „ |
| 6 | आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानता | | | 67 |
| 7 | द्वयान्नातेऽभयप्रयोज्यता | | | 68 |
| 8 | अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यता | | | 69 |

| अभि करणानि. | पुस्तानि. |
|---|-----------|
| 09 9 द्वादशद्वन्द्वानामाध्वर्यवता | 69 |
| 10 10 होतुराध्वर्यवकरणादुद्घातता | 70 |
| 11 11 प्रैषप्रैषार्थयोः पृथकर्तृता | 71 |
| 12 12 प्रैषप्रैषार्थयोर्यथाक्रममाध्वर्यवाग्रीभ्रता | 72 |
| 13 13 करणमन्त्रेषु स्वामिफलस्याशासितव्यता (वचोभ्यायः) | 73 |
| 14 14 ,, कर्मार्थफलस्य कर्त्तृत्वधर्मता | 74 |
| 15 15 भद्रमित्यस्योभयगामिता | 75 |
| 16 16 द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधानार्थता | 76 |
| 17 17 पवित्रादेः परिभोजनीयवर्हिषा कर्तव्यता | 77 |
| 18 18 प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानम् | 78 |
| 19 19 काम्येष्टिष्पांश्चत्वधर्मस्य प्रधानार्थता | 79 |
| 20 20 इयेनाङ्गानां नवनीताज्यता | 80 |
| 21 21 पवमानेष्टयाधानादीनां इयेनाङ्गानामपि न नवनीताज्यता | 81 |
| 22 22 सर्वइयेनाङ्गानां नवनीताज्यता | 82 |
| 23 23 सवनीयानां मांसमयता | 83 |
| चतुर्थाध्यायस्य प्रयुक्तिनिरूपणपरस्य प्रथमोऽध्यायः | |
| 1 1 प्रतिज्ञा | 84 |
| 2 2 कत्वर्थपुरुषार्थलक्षणम् | 85 |
| 3 3 प्रजापतिव्रतानां पुरुषार्थता | 86 |
| 4 4 यज्ञाध्यानामनुवादता | 88 |
| 5 5 पश्वेकत्वादेर्विवक्षा (पश्वेकत्वव्यायः) | 90 |
| 6 6 पशुलिङ्गविवक्षा | 92 |
| 7 7 आभयिणामव्यवर्था | 93 |
| 8 8 प्रयुक्तिविवक्षारमतिज्ञा | 94 |

अधिकरणानि.

पुद्गलानि.

| | | |
|----|--|-----|
| 9 | तप्ते पयसि दध्यानयनस्याभिधाययुक्तता (वाजिनस्यायः)... | 94 |
| 10 | गवानयनस्य पदकर्माप्रयुक्तता | 96 |
| 11 | कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्तता | 97 |
| 12 | शकुल्लोहितयोः पशावप्रयोक्तृत्वम् | 98 |
| 13 | पुरोडाशस्य स्विष्टकृदप्रयुक्तता | 99 |
| 14 | अभिधारणे शेषधारणतत्पान्नयोदनदुष्टानम् | 100 |
| 15 | समानयनस्याज्यधर्मप्रयोजकता | 103 |
| 16 | औपभृत्तजौहवयोः क्रमेणोभयसंभयार्थता | 105 |
| 17 | उपभृति द्विचतुर्द्वितीताचरणम् | „ |

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः—

| | | |
|----|----------------------------------|-----|
| 1 | स्वपौष्टेदनाथप्रयोजकता | 108 |
| 2 | शाखाया आहार्यता | 110 |
| 3 | छेदनस्य शाखाप्रयुक्तता | 111 |
| 4 | शाखाप्रहरणस्य प्रतिपत्तिकर्मता | 112 |
| 5 | निनयनस्य प्रतिपत्तिकर्मता | 113 |
| 6 | दण्डदानस्यार्थकर्मता | 114 |
| 7 | प्रासनस्य प्रतिपत्तिकर्मता | 118 |
| 8 | अवभृथगमनस्य प्रतिपत्तिकर्मता | „ |
| 9 | कर्तृदेशकालादिविधीनां नियमार्थता | 120 |
| 10 | यागहोमस्वरूपनिरूपणम् | „ |
| 11 | बर्हिष आतिथ्यादिसाधारण्यम् | 121 |

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः—

| | | |
|---|--------------------------------|-----|
| 1 | द्रव्यसंस्कारकर्मणां कर्तव्यता | 123 |
| 2 | नैबिस्तिकादीनामनियार्थता | 124 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | |
|---|-----|
| 3 दध्यादोर्नैत्यनैमित्तिकोभयार्थता (संयोगपृथक्त्वन्यायः) | 124 |
| 4 पयोव्रतादीनां क्रतुधर्मता | 125 |
| 5 विश्वजिदादीनां सफलत्वादिकम् (विश्वजिन्न्यायः) | „ |
| 6 रात्रिसत्रस्यार्थवादिकफलकता (रात्रिसत्रन्यायः) | 127 |
| 7 काम्यानां यथोक्तकाम्यफलकत्वम् | 128 |
| 8 दर्शपूर्णमासादीनां सर्वकामार्थता (दर्शपूर्णमासन्यायः) | „ |
| 9 „ प्रतिफलं पृथगनुष्ठानं (योगसिद्ध्यन्यायः) | 130 |
| 10 सौत्रामण्यादीनां चयनायङ्गता | 133 |
| 11 वैश्वधादेः पौर्णमास्यायङ्गता ... | 134 |
| 12 अनयाजादीनामाग्निमारुतोर्ध्वकालता | 135 |
| 13 सोमादीनां दर्शपूर्णमासोत्तरकालता | 137 |
| 14 वैश्वानरेष्टेः पुत्रगतफलकता (जातेष्टिन्यायः) | „ |
| 15 सौत्रामण्यायङ्गानां स्वकालकर्तव्यता | 139 |

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः—

| | |
|---|-----|
| 1 राजसूयेज्यानां विदेवनायङ्गकत्वम् | 140 |
| 2 विदेवनस्य कृत्स्नराजसूयाङ्गता | 141 |
| 3 सौम्यादीनाञ्चपसत्कालकत्वम् | „ |
| 4 आमनहोमानां सांप्रहण्यङ्गता | 142 |
| 5 दधिग्रहस्य नित्यता | 143 |
| 6 वैश्वानरस्य नैमित्तिकता | 144 |
| 7 षष्ठ्यन्तेनैमित्तिकता | 145 |
| 8 पिण्डपितृयज्ञस्याङ्गता | „ |
| 9 रशनाया शृषाङ्गता | 147 |
| 10 स्वरोः पञ्चङ्गता ... | 148 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | | |
|--|------|----------|
| 11 आधारादीनामङ्गता | | 149 |
| 12 ज्योतिष्टोमे दीक्षणायादीनामङ्गता | | 150 |

पञ्चमाध्यायस्य प्रयोगक्रमनिरूपणपरस्य प्रथमः पादः—

| | | |
|---|------|----------|
| 1 क्रमानियमः (श्रुतिबलीयस्त्वन्यायः) | | 153 |
| 2 क्रमस्य क्वचिदार्थिकत्वम् | | 157 |
| 3 „ क्वचिदनियमः | | 158 |
| 4 „ क्वचित्पाठानुसारिता (पाठक्रमन्यायः) | | 160 |
| 5 „ क्वचित्प्रथमप्रवृत्त्यनुसारिता (प्रावृत्तिकक्रमन्यायः) | | 161 |
| 6 „ क्वचित् स्थानानुसारिता | | 162 |
| 7 अङ्गक्रमस्य मुख्यक्रमानुसारिता | | 163 |
| 8 अङ्गेषु मुख्यक्रमापेक्षया पाठस्य बलवत्त्वम् | | 164 |
| 9 ब्राह्मणपाठान्मन्त्रपाठस्य बलवत्त्वम् | | 165 |
| 10 प्रयोगवचनाद्योदकस्य बलवत्त्वम् ... | | „ |
| 11 विकृतौ क्वचित्प्रकृतिधर्मानतिदेशः (साकमेधीयन्यायः) | | 167 |
| 12 अनुयाजाद्युत्कर्षप्रयाजान्तापकर्षः (तदादितदन्तन्यायः) | | 168 |
| 13 प्रवृत्त्या प्रोक्षणादीनां सौमिकपूर्वभाविता.... | | 170 |
| 14 वैकृत्युपकर्ममात्रापकर्षः (यूपकर्मन्यायः) | | 171 |
| 15 दक्षिणाग्निकहोमानपकर्षः | | 172 |
| 16 पुरोडाशाभिवासनान्तस्य दर्शेऽनपकर्षः | | 173 |
| 17 संतापनीयाया अग्निहोत्रानुत्कर्षकता | | 175 |
| 18 उक्थ्यानुरोधेन षोडश्युत्कर्षः | | 176 |

पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः—

1 वाजपेयपशूनां सर्वेषामेकदोषाकरणादि-

धर्मानुष्ठानम् (पदार्थानुसमयन्यायः) 177

अधिकरणानि.

पुष्पानि

| | | |
|----|--|----------|
| 2 | सहस्राभप्रतिग्रहणस्थले एकैकस्यैकदा | |
| | सर्वधर्माहुष्ठानम् (काण्डाहुसमयन्यायः) | 178 |
| 3 | मुष्टिकपालादीनां सङ्ख्याहुसमयः | 179 |
| 4 | अवदानस्य प्रदानान्ताहुसमयः | 181 |
| 5 | अञ्जनादेः परिष्कृष्टान्ताहुसमयः | 182 |
| 6 | दैवताभ्यवदानेषु पदार्थाहुसमयः | " |
| 7 | नानाबीजैष्टाहुस्तुलादीनां तन्त्रता | 183 |
| 8 | अग्नीषोमीयपक्षौ प्रयाजानुयाजयोः पात्रभेदः | 185 |
| 9 | नारिष्ठहोमस्योपहोमपूर्वता (नारिष्ठन्यायः) | 186 |
| 10 | विदेवनादीनामभिषेकपूर्वता | 187 |
| 11 | सावित्रहोमादीनां दीक्षणीयपूर्वता | 188 |
| 12 | याजमानसंस्काराणां रुक्मप्रतिमोकपूर्वता | 189 |
| | पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः— | |
| 1 | प्रयाजादीनामेकादशादिसङ्ख्यायास्त्वसंस्थाप्यता | " |
| 2 | प्रथमोपसत्त्रयस्य स्वस्थानावृत्तिः | 191 |
| 3 | सामिधेनीष्वागन्तूनामन्ते निवेशः | 192 |
| 4 | बाहिष्पवमाने आगन्तूनां पर्यालोत्तरकालता | " |
| 5 | " आगन्तूनां साम्नां मध्ये निवेशः | 193 |
| 6 | ग्रहेष्टकादीनां क्रत्वग्निशेषता | 194 |
| 7 | चित्रिण्यादीनां मध्यमचिताहुपधानम् | 195 |
| 8 | लोकपृणातः पूर्वं चित्रिण्याहुपधानम् | " |
| 9 | इष्टिसंस्कृताग्रावाग्निहोत्राभ्युदयम् | 196 |
| 10 | अग्निचिद्वर्षणदिज्ञातानां क्रत्वन्तेऽहुष्ठानम् | 198 |
| 11 | दीक्षाया इष्टिसिद्धता | 199 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | | | |
|----|--|------|-----|
| 12 | काम्येष्टीनामनियमेनाहुष्ठानम् | | 201 |
| 13 | यज्ञानामग्निष्टोमपूर्वकता | ... | " |
| 14 | ज्योतिष्टोमविकाराणामग्निष्टोमपूर्वकता | | 202 |
| 15 | एकानेकस्तोमकानां सर्वेषामग्निष्टोमपूर्वकता | | 203 |

पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः—

| | | | |
|---|---|------|-----|
| 1 | पाठक्रमापेक्षया श्रुत्यर्थयोर्बलवत्त्वम् | | 204 |
| 2 | श्रुत्यक्रमेणाग्नेयस्य पूर्वमवदानाहुष्ठानम् | | 205 |
| 3 | इष्टिसोमयोः पौर्वापर्यनियमः | | 206 |
| 4 | ब्राह्मणस्यापीष्टिसोमयोः पौर्वापर्यनियमः | | 208 |
| 5 | नर्तनं सूर्ध्वदिवादिना सोमकालबाधः | | 211 |
| 6 | आज्यस्य सोमादनुत्कर्षः | | 212 |
| 7 | विकृतानामैन्द्राग्रादीनां सत्यस्कालता | | " |
| 8 | सोमात्सानां व्यविकारदीनामुत्कर्षः | | 215 |
| 9 | सोमविकाराणां दर्शपूर्णमासात्प्रागुक्तव्यता | | 216 |

षष्ठाध्यायस्याधिकारनिरूपणपरस्य प्रथमः पादः—

| | | | |
|---|--|------|-----|
| 1 | यागादिकर्मणां स्वर्गादिकलसाधनता (अधिकारन्यायः) | | 217 |
| 2 | यागादिषु मनुष्याणामेवाधिकारः | | 220 |
| 3 | स्त्रिया अनधिकारनिराकरणम् | | " |
| 4 | दम्पत्योस्सहाधिकारः | | 223 |
| 5 | आधाने पुरुषद्वयकर्तृकतानिराकरणम् | | 224 |
| 6 | पुरुषस्यैवोपस्थानाधिकारः | | 228 |
| 7 | शूद्रस्यानधिकारः | | 230 |
| 8 | निर्वनस्याप्यधिकारः | | 231 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | |
|--|----------|
| 9 अङ्गहीनस्याप्याधिकारः अचिकित्सयाङ्गवैकस्यस्यानधिकारः | 232 |
| 10 दर्शघुर्णमासयोस्त्यार्षेयस्यैवाधिकारः | 233 |
| 11 रथकाराधिकारः (रथकारन्यायः) | 233 |
| 12 निषादस्थपत्यधिकारः | 235 |

षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः—

| | |
|--|----------|
| 1 सत्रे प्रत्येकस्य सत्रिणः फलसंबन्धः | 237 |
| 2 दर्शादौ कत्रैक्यनियमः | 239 |
| 3 आरन्धकाम्यकर्मणोऽपि समाप्तिनियमः | 241 |
| 4 लौकिककर्मणि समाप्त्यनियमः | 242 |
| 5 प्रतिषिद्धाहुतानेऽनिष्टापातः (कळअन्यायः) | 244 |
| 6 शुर्वदुगमनादीनामुपनयनोत्तरकालकर्तव्यता | 244 |
| 7 अग्निहोत्रादियावज्जीविकर्मणां स्वकालमात्रकर्तव्यता (अग्निहोत्रन्यायः).... | 245 |
| 8 तेषां स्वकालावृत्त्याऽऽवृत्तिः | 246 |
| 9 दर्शादौ भेदाव्यावृत्त्या होमावृत्तिः | 246 |
| 10 शुर्वदुगमनादीनां प्रतिनिमित्तमावृत्तिः | 247 |
| 11 ऋणत्रयापाकरणस्य त्रैवर्णिकनित्यत्वम् | 247 |

षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः—

| | |
|---|----------|
| 1 नित्ये यथासक्त्यहुतानम् | 248 |
| 2 काम्यस्याङ्गवैकस्ये निष्फलत्वम् | 251 |
| 3 द्रव्यभेदेऽपि कर्माभेदः | 252 |
| 4 द्रव्यापचारे प्रतिनिधिना समापनम् | 253 |
| 5 देवतामन्त्रक्रियापचारे प्रतिनिध्यभावः | 255 |
| 6 प्रतिषिद्धद्रव्यस्य प्रतिनिधिस्वाभावः | 257 |

| अधिकरणानि. | पृथगि. |
|--|----------|
| 7 स्वामिनः प्रतिनिध्यभावः | 258 |
| 8 सत्रे स्वामिनोपि कस्यचित्प्रतिनिधिः | 259 |
| 9 तथा प्रतिनिहितस्यास्वामित्वम् | 260 |
| 10 तथा प्रतिनिहितस्य यजमानधर्मग्राहिता | 261 |
| 11 श्रुतद्रव्यापचारे तत्सदृश्यैव प्रतिनिधित्वम् | 262 |
| 12 द्रव्यापचारे वैकल्पिकद्रव्यान्तराहुपादानम् | 263 |
| 13 पूतीकस्य सोमप्रतिनिधित्वम् | 264 |
| 14 मुख्यपाचारे तत्प्राप्तौ तस्यैवोपादानम् | 266 |
| 15 संस्कारायोग्यस्यापि मुख्यस्यैवोपादानम् | 267 |
| 16 अह्निनिर्वाहापर्याप्तस्यापि प्रधाननिर्वाहकस्य मुख्यस्यैवोपादानम् | „ |

षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः—

| | |
|---|----------|
| 1 अवत्तनांशे पुनरवदानार्थं प्रतिनिध्यादानम् | 268 |
| 2 स्विष्टकृदार्थावत्तनांशे पुनरवदाननिराकरणम् | 270 |
| 3 ऋत्विजामेव शेषभक्षणम् | 271 |
| 4 कृत्तकदेशभेदे प्रायश्चित्ताहुगणम् | 272 |
| 5 क्षामे सर्वदाहप्रायश्चित्तम् (क्षामेष्टिन्यायः) | 273 |
| 6 एकहविरार्तावपि पञ्चशरावनिर्वापः | 274 |
| 7 होमाभिषवोभयकर्तुरेव भक्षः | 275 |
| 8 पुनराधाननिमित्तं वङ्ग्यदुग्मद्वयम् | 277 |
| 9 पञ्चशरावनिर्वापः कर्मान्तरम् | „ |
| 10 पञ्चशरावयागः त्रैमिसिकदर्शयागाङ्गम् | 278 |
| 11 सत्रायाग्याप्रवृत्तस्य विशिष्टावश्यकता | 279 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | | | |
|----------------------------|---|------|-----|
| 12 | वार्हवित्सयोः कालोपलक्षकता | | 280 |
| 13 | सहशास्त्रयेवस्य कालविधानार्थता | | 281 |
| अष्टाध्यायस्य पञ्चमः पादः— | | | |
| 1 | दर्शोऽभ्युदयेष्टौ नैमित्तिकदेवतापनयः | | 282 |
| 2 | उपांशुयागेऽपि देवतापनयः | | 289 |
| 3 | अनिरुतेऽप्यभ्युदयेष्टिः.... | | 290 |
| 4 | अनिरुतेऽप्यभ्युदये वैकृतीभ्यो निर्वापः | | " |
| 5 | किञ्चिन्निरुतेऽभ्युदयेऽवशिष्टस्य तूर्णी निर्वापः | | 291 |
| 6 | सनयदसनयदुभयस्यैवाभ्युदये प्रायश्चित्तम् | | 292 |
| 7 | सत्राय प्रवृत्तमात्रस्य विश्वजिथागः | | 293 |
| 8 | दीक्षापरिमाणविचारः | | 294 |
| 9 | द्वादशाहदीक्षापरिमाणनियमः | | 295 |
| 10 | गवामयने माघपौर्णमास्याः पुरस्तादक्षि | | " |
| 11 | दीक्षोत्कर्षे तन्नियमानामप्युत्कर्षः | | 297 |
| 12 | ज्वोतिष्टोमोत्कर्षे प्रतिहोमानहुष्ठानम् | | 298 |
| 13 | उदवसानयोत्कर्षे प्रतिहोमानहुष्ठानम् | | 299 |
| 14 | प्रतिहोमे सायमग्निहोत्रप्रभृत्यारम्भः | | " |
| 15 | भेदनादिनिमित्तकहोमस्य दर्शपूर्णमासाङ्गता | | 300 |
| 16 | व्यापन्नशब्दार्थनिर्णयः.... | | 301 |
| 17 | अपच्छेदयौगपथेऽपि प्रायश्चित्तम् | | " |
| 18 | यौगपथेऽक्षिण्यसर्वस्वदक्षिण्ययोर्विकल्पः | | 302 |
| 19 | क्रमेणापच्छेदे उत्तरापच्छेदप्राबल्यम् (अपच्छेदन्यायः) | | " |
| 20 | उद्रातुरुत्तरापच्छेदेऽपि सर्वस्वदक्षिणादानम् | | 304 |
| 21 | अहर्गणेऽपच्छेदे सर्वोदृत्तिनिराकरणम्... | | 306 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः—

| | | |
|-----|--|-----|
| 088 | 1 सत्रे समानकल्पानां सहाधिकारः | 307 |
| 188 | 2 भिन्नकल्पयोरपि राजपुरोहितयोः कुलाययनेऽधिकारः | 310 |
| | 3 सत्रे ब्राह्मणमात्रस्याधिकारः | 311 |
| 288 | 4 सत्रे विश्वामित्रसमानकल्पानामेवाधिकारः | 313 |
| 388 | 5 सत्रे आहिताग्रेरेवाधिकारः | „ |
| | 6 सत्रे जुह्वादीनां साधारण्यम् | 314 |
| | 7 विकृतसप्तदशसामिधेनपि वर्णत्रयाधिकारः | 315 |

षष्ठाध्यायस्य सप्तमः पादः—

| | | |
|-----|--|-----|
| 088 | 1 विश्वजिति पित्रादीनामदेयता | 316 |
| 088 | 2 „ पृथिव्या अदेयता | 317 |
| 288 | 3 „ अश्वादीनामदेयता | „ |
| | 4 „ विद्यमानसर्वस्वानां देयता | 318 |
| | 5 „ धर्मार्थसेवकश्च दस्यादेयता | 319 |
| | 6 „ दक्षिणाकाले विद्यमानानामेव देयता | „ |
| 188 | 7 „ दक्षिणादानोत्तराङ्गानामवधानम् | „ |
| | 8 „ अहर्गणेऽपि सर्वस्वदानम् | 321 |
| 088 | 9 „ द्वादशशतन्यूनधनस्थानधिकारः | 322 |
| 188 | 10 आधाने अपरिमितशब्दस्य सङ्ख्यानंतरत्वम् | „ |
| 288 | 11 परकृतिपुराकल्पानामर्थवादता | 323 |
| 388 | 12 सहस्रसंवत्सरशब्दार्थः | 324 |

षष्ठाध्यायस्याष्टमः पादः—

| | | |
|-----|--------------------------------------|-----|
| 088 | 1 षतुर्होतृहोमेऽनाहिताग्रेरेवाधिकारः | 327 |
| 288 | 2 अनाहितेऽग्रावुपनयनहोमः | 328 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | | |
|--|------|----------|
| 3 अनाहितेऽग्नौ स्थपतीष्टिः | | 329 |
| 4 अनाहितेऽग्नौ अवकीर्णपशुः | ... | 330 |
| 5 उदगयनादिकालता देवादिकर्मणाम् | | 331 |
| 6 ज्योतिष्टोमाङ्गयाच्चाक्रययोनित्यता | | „ |
| 7 ज्योतिष्टोमादिषु पयोव्रतादीनां नित्यता | | 332 |
| 8 अपररात्रे व्रतस्यानियमः | | 333 |
| 9 छागस्यैवाग्नीषोमीयपशुता | | „ |

सप्तमाध्यायस्य सामान्यातिदेशनिरूपणपरस्य प्रथमः पादः—

| | | |
|---|------|----------|
| 1 प्रयाजादिधर्माणामपूर्वप्रयुक्तता | | 336 |
| 2 इषौ इयेनयिविशेषधर्मातिदेशः | | 340 |
| 3 पञ्चहविष्यु सार्थवादविध्यतिदेशः | | ... 343 |
| 4 एककपालेन्द्राग्रयोस्सार्थवादविध्यतिदेशः | | 345 |
| 5 साकमेधे वरुणप्राघासिकैककपालातिदेशः | | „ |

सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः—

| | | |
|------------------------------------|------|----------|
| 1 रथन्तरादिशब्दानां गानविशेषार्थता | | 347 |
|------------------------------------|------|----------|

सप्तमाध्यायस्य तृतीयः पादः—

| | | |
|--------------------------------------|------|----------|
| 1 अग्निहोत्रादिनाम्ना धर्मातिदेशः | | 350 |
| 2 प्रायणीयनाम्ना धर्मानतिदेशः | | 351 |
| 3 सर्वपृष्ठशब्देन षट्पृष्ठानामतिदेशः | | 352 |
| 4 अवभृथनाम्ना सौमिकधर्मातिदेशः | | 354 |
| 5 वैष्णवशब्दादातिध्ये धर्मानतिदेशः | | 355 |
| 6 निर्मन्ध्यादिशब्दैर्धर्मानतिदेशः | | „ |
| 7 प्रणयनशब्देन सौमिकधर्मानतिदेशः | | 356 |

अधिकरणानि.

पुटानि.

| | | |
|---|------|----------|
| 8 स्वरसमादिशब्देन धर्मातिदेशः | | 359 |
| 9 वासआदिशब्दानामाकृतिनिमित्तता | | 361 |
| 10 गर्गत्रिरात्रे लौकिकेऽग्रावुपनिधानम् | | 362 |
| 11 शृपशब्दस्य संस्काराप्रयोजकता | | 363 |
| 12 पृष्ठशब्दस्य मन्त्रवाचिता | | ” |

सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः पादः—

| | | |
|-------------------------------|------|----------|
| 1 सौयं चरौ वैदिकेति कर्तव्यता | | 365 |
| 2 गवामयने ऐकाहिकेति कर्तव्यता | | 368 |

समाप्ता विषयाः.



श्रीः

भाट्टदीपिका.

तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः.

- (१)—आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥ १ ॥ कारणाच्च ॥ २ ॥
एकस्मिन् समवत्तशब्दात् ॥ ३ ॥ आज्ये
च दर्शनात्स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥ ४ ॥ अशो-
षत्वात् नैवं स्यात्सर्वादानादशेषता ॥ ५ ॥
साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥ ६ ॥ अक्त-
त्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥ ७ ॥
चमसवदिति चेत् ॥ ८ ॥ न चोदनाविरो-
धाद्धविःप्रकल्पनाच्च ॥ ९ ॥ उत्पन्नाधिका-
रात्सति सर्ववचनम् ॥ १० ॥ जातिविशे-
षात्परम् ॥ ११ ॥ अन्त्यमरेकार्थम् ॥ १२ ॥

उपांशुयाजप्रयाजाज्यभागानुयाजादिद्रव्याणां जौहवादीनां
स्विष्टकृदिडादीनि शेषकार्याणि कर्तव्यानि उत नेति चिन्तायां—
“उत्तरार्धात्संकृत्संकृत्समवद्यति” “सर्वेभ्यो हविर्भ्यस्समवद्य-

ति” इत्यादिवचनेभ्यः “वेद्यां हवींष्यासादयति” इतिवदङ्गप्र-
धानसाधारणहविरर्थत्वप्रतीतेः कर्तव्यानीति प्राप्ते—

यत्तावदेपां तत्तद्यागेष्वसाधारणं प्रयाजानुयाजेषु जौहवाद्येक-
देशरूपं आज्यभागोपांशुयाजेषु च वाचनिकं ध्रौवापादानकं चतुर्गृ-
हीतं तस्य तत्तद्यज्याक्षिप्तप्रक्षेपरूपविशेषप्रतिपत्तिसत्त्वात्, “चतु-
र्गृहीतं जुहोति” इति भाष्यकारोदाहृतोपांशुयाजावान्तरप्रकरण-
स्थवाक्यादेव तत्सत्त्वाद्वा न सामान्यविहितविद्यमानशेषोपक्षीण
स्विष्टकृदादिप्रतिपत्तिग्राहकता । अत एव यत्र प्रयाजशेषाभिघा-
रणादौ विशिष्यैव तद्विधानं तन्नागत्याऽवयवशस्तयोस्समुच्चयः । न
चैवमाग्नेयस्यापि विशिष्य चतुर्धाकरणभक्षणरूपप्रातिपत्तिविधानात्
स्विष्टकृदाद्यकरणापत्तिः, तत्र भक्षणस्य कल्प्यत्वेन तस्यापि वि-
लम्बोपस्थितिकत्वेन तुल्यत्वात् । नापि तत्तदपादानभूतध्रौवा-
ज्यात् स्थाल्याज्याद्वा तत्करणं, तयोः “सर्वस्मै वा एतत्”
इत्यादिवाक्याद्यज्ञादिरूपकरिष्यमाणकार्यार्थत्वस्याप्यवश्यभावेना-
कीर्णकरत्वाभावात् । न चाकीर्णकरत्वाभावेऽपि आज्येष्ठा(डा)वन्म-
ध्य एव प्रतिपत्तिः, तत्राग्रे स्थाल्याज्यस्य पिष्टलेपफलीकरणा-
दावुपयोगसत्त्वेऽपि वचनादेव पक्षोसंयाजावयवशेषस्यैव प्रतिपत्त्यु-
पपत्तावपि प्रकृते तादृशवचनाभावेन साधारणद्रव्यस्य प्रतिपत्त्य-
योग्यत्वात् । न च सर्वकार्यान्ते क्रमं बाधित्वाऽपि प्रयोजनवशेन
तत्करणं, समिष्टयजुरादिविशिष्टप्रतिपत्त्यन्तरविधानेन तत्र तदप्रा-
प्तेः । अतश्शेषाभावान्न शेषकार्याणि ॥ १ ॥

(२)—साकंप्रस्थाय्ये स्विष्टकृदिडं च तद्वत् ॥

दर्शपूर्णमासयोः “साकंप्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः” इत्यत्र
सहत्वं फलाय विधीयते । तस्य च “आग्नेयेन प्रचर्याग्नीध्रे सूचौ

प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामेत्” इति वाक्येन सान्नाय्याङ्गभूतमभिक्रमणमाश्रयत्वेनोच्यते, कुम्भयौ निरूपकत्वेन, अन्यत्सर्वमनूयते । वाक्यभेदश्च न, निपातत्वाद्वािशष्टभावनाविधानाद्वेत्युक्तं द्वितीये । तदत्र सान्नाय्याङ्गतया स्विष्टकृदादिशेषकार्याणि कर्तव्यानि न वेति चिन्तायां—अभिक्रमणे कुम्भीसाहित्येऽप्याहवनीयदेशं गत्वा चतुरवत्तमादायैव होमानुष्ठानाच्छेषसद्भावेन कर्तव्यानीति प्राप्ते—

नात्रापूर्वमभिक्रमणमाश्रयः, भेदकप्रमाणाभावात्; अपि तु सान्नाय्यप्रक्षेपाङ्गभूतमेव । तादृशाभिक्रमणकर्तुः कुम्भीनां साहित्यं च कर्त्रभिक्रमणकालोनयनसंस्कार्यत्वं, नान्यत् । नयनमपि च नेदमपूर्वं, अपि तु दृष्टार्थत्वलाभाय सूक्तचागानुवादाच्चोक्तप्रक्षेपाङ्गभूतसुगदण्डनयनमेव । अतश्च कुम्भीनामुक्तसंस्कार्यत्वान्यथानुपपत्त्याऽभिषवयुक्तपूर्तीकवत् सूक्तार्थप्रक्षेपार्थत्वावगत्या तत्स्थस्य हविषोऽपि द्वयवदानवत् प्रक्षेपप्रतिपाद्यत्वावगतेस्सर्वहोमावसायान्न साकंप्रस्थायीयप्रयोगे सान्नाय्यस्य शेषकार्याणि ॥ २ ॥

(३)—सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ॥ १४ ॥ तद्वच्च
शेषवचनम् ॥ १५ ॥

सौत्रामणी नाम पशुयागः । तत्रातिदेशप्राप्तदेवतासंस्कारार्थं पशुपुरोडाशे द्रव्यतया पयोअहास्सुराग्रहाश्च विधीयन्ते इति दशमे^१ सूत्रभाष्यकाराभ्यां वक्ष्यते, तदत्र स्थानापत्त्या पुरोडाशाङ्गं स्विष्टकृदिडं कर्तव्यमेव । न च ग्रहशब्दस्य नामातिदेशकत्वाज्ज्यौतिष्टोमिकशेषकार्यातिदेशशङ्का । ग्रहशब्दस्य प्रायणीयपदवन्नानामातिदेशकत्वानुपपत्तेरिति प्राप्ते—

^१ २-३-४. अधिकरणे इदं स्पष्टम् ।

^२ १०-१-९. अधिकरणे,

^३ ७-३-२ अधिकरणे इदं स्पष्टम्.

न तावदत्रावशिष्टशेषोऽस्ति । “यथागृहीतान् ग्रहान् ऋ-
त्विज उपाददते उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् जुह्वति दक्षिणेऽग्नौ सुरा-
ग्रहान्” इति वचनेनानवदायैव होमावगमात् । न च “उच्छिन-
ष्टि न सर्वहुतं जुहोति” इति वचनेन हुतशेषावगतेऽशेषकार्यक-
रणं, तस्य “ब्राह्मणं परिक्रीणीतोच्छेषणस्य पातारं यदि न वि-
न्देत् वल्मीकवपायामवनयेत् ततोऽप्यवशिष्टं शतातृष्णायां वि-
क्षारयन्ति” इति विशिष्य प्रतिपत्त्यन्तरविधानेनातिदेशिकप्रतिप-
त्तिबाधात् । वल्मीकवपा वल्मीकच्छिद्रम् । शतातृष्णा शताच्छि-
द्रा कुम्भी । इदं च सूत्रभाष्यकारमताभिप्रायेणोक्तम् । यदा तु
वार्तिकोक्तरीत्या देवतासंस्कारार्थं यागान्तरमेव सुरापयोद्रव्यकं
विधीयते तदाऽप्यौषधद्रव्यकत्वपयोद्रव्यकत्वाभ्यां दार्शपौर्णमा-
सिकविध्यन्तस्याष्टमे^१ वक्ष्यमाणत्वेन स्विष्टकृदादिप्राप्तावपि पूर्व-
वदेव तदभाव इत्यधिकरणं व्याख्येयम् ॥ ३ ॥

(४)—द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥

१६ ॥ अविभागाच्च शेषस्य सर्वान् प्रत्यव-
शिष्टत्वात् ॥ १७ ॥ ऐन्द्रवायवे तु वचनात्
प्रतिकर्म भक्षस्स्यात् ॥ १८ ॥

सर्वपृष्ठायामिष्टौ “इन्द्राय रथन्तरायेन्द्राय बार्हतायेन्द्राय
वैरूपाय” इत्यादि षड्ढाविष्कायां षड्भ्योऽपि निरूप्य सहावघा-
तपेषणे कृत्वा प्रकृतिवत् विभागे प्राप्ते तमकृत्वा वचनादेकमेव
रथचक्रमात्रं पुरोडाशं कृत्वा “समन्ततः पर्यवद्यति” इति वच-
नेन समन्ततः पर्यवदाय प्रधानानि क्रियन्ते । अत्र समन्तत
इत्येव कर्मभेदात्पर्यग्राहकम् । अन्यथा “अग्नये कृत्तिकाभ्यः”

^१ ८-२-१.

^२ पूर्वाधिकरणवदित्यर्थः.

इतिवत्कर्मैकत्वे सकृदवदानापत्तेः । याज्याभेदाद्वा कर्मभेदः ।
तत्र च सिवष्टकृदिडादि प्रधानभेदात्प्रत्येकं भवति । न च द्रव्यै-
कत्वात्तन्त्रता, अवदानप्रदेशभेदेन तत्तदुत्तरार्धादीनां भेदात् ।
न च संस्कारवाक्यानां परस्परांश्वये प्रमाणाभावेनोत्तरार्धस्याव-
दानप्रदेशप्रतियोगित्वाभावात्प्रकरणेन हविःप्रतियोगित्वप्रतीतेस्त-
स्य च पुरोडाशैक्येन साधारणत्वाद्द्रव्यैकत्वमिति वाच्यं, तत्त-
देवतायै चतुर्मुष्टिपरिमितस्यैव निरुप्तस्य हविष्ट्वेन पुरोडाशस्यात्र
हविःप्रकृतितया हविष्ट्वाभावात् । न च तथाऽपि हविषस्संसृ-
ष्टत्वेन साधारणत्वाद्यागकाले इन्द्राय राथन्तराय यन्निरुप्तं तत्त-
स्मै न ममेति प्रत्येकसङ्कल्पेऽपि संसृष्टोत्तरार्धादेरगृह्यमाणविशेष-
त्वात्तन्त्रत्वं शेषकार्याणामिति वाच्यं, तथाऽपि “न ह्यत्रानूयाजान्”
इतिवत् “द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति द्विर्ह्येतस्य वषट्करोति”
इत्यनेन प्रधानभेदस्य शेषकार्यभेदे हेतुत्वावगमात्तदन्यथाऽनुप-
पत्तिकल्पितव्याप्तिबलेन भेदोपपत्तेरिति प्राप्ते—

“तेन ह्यन्नं क्रियते”^१ इतिवत् विधौ लटो भूतकाललक्ष-
णापत्तेरपेक्षितस्तुतिमात्रपरत्वावसायात्, गमकमात्रस्य च न्याय-
प्राप्ततन्त्रत्वबाधकत्वानुपपत्तेस्सकृदेव शेषकार्याणि । ‘न ह्यत्र’ इ-
त्यत्र तु लक्षणाभावाद्धेतुविधित्वमिति विशेषः । एन्द्रवायवे तु
वचनादेव भक्षावृत्तिरिति त्रैषम्यम् ॥ ४ ॥

(५)—सोमेऽवचनाद्भक्षो न विद्यते ॥ १९ ॥ स्याद्वाऽ-
न्यार्थदर्शनात् ॥ २० ॥ वचनानि त्वपूर्वत्वा-
त्तस्माद्यथोपदेशं स्युः ॥ २१ ॥ चमसेषु स-
माख्यानां संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २२

ज्योतिष्टोमे उत्पत्तिशिष्टोऽपि सोमोऽभिषवादिस्कारविधिवलाद्रसप्रकृतिः । रस एव तु ग्रहचमसादिपात्रवृत्तिरिन्द्रवाखादिदेवतासम्बन्धाद्विरिति सर्व एव त्यज्यते । अस्य च “अल्पं जुहोति” इति वचनेनाल्पोद्देशेन प्रक्षेपरूपप्रतिपत्तिविधिद्वर्चवदानवत् । तत्र च “ग्रहैर्जुहोति” इत्यादिना पात्रविधिरिति स्थितिः । अतश्शेषसत्त्वात् भक्षणं तत्प्रतिपत्तिः । तत्प्रमाणं च समाख्या वचनं च । तत्र समाख्या तावत् “प्रेतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः” इत्यादिका वेदे, याज्ञिकानां सोमचमसः इत्यादिका । अदनार्थस्य चमेर्धातोर्धकारणवाचके औणादिकेऽसुच्प्रत्यये कृते चमसशब्दनिष्पत्तिः । सोमश्चम्यतेऽस्मिन् इति व्युत्पत्त्या सोमभक्षणसाधनत्वावगतेस्तत्समाख्याकल्पितश्रुत्या होत्रादिकर्तृकभक्षणस्य सोमप्रतिपत्त्यर्थत्वसिद्धिः । यदि तु उणादयोऽव्युत्पन्नाः इति पक्षाश्रयणं, तदा चमसशब्दस्य पात्रे रूढत्वेन योग्यतयैव होतृचमसादिसम्बन्धो भक्ष्यभक्षकत्वादिसम्बन्धेनैवेति तथा भक्षणसिद्धिरविकला । अतश्च होतृब्रह्मोद्गातृयजमानमैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंसिपोतुनेष्टृच्छावाकाशीध्राणां स्वस्वचमसेषु समाख्यया भक्षः । सदस्यपक्षे तस्यापि स्वचमसे । वचनं त्वग्रे निरूपयिष्यते ॥ ९ ॥

(६)—उद्गातृचमसमेकश्रुतिसंयोगात् ॥ २३ ॥
सर्वे वा सर्वसंयोगात् ॥ २४ ॥ स्तोत्रकारिणां वा
तत्संयोगाद्बहुश्रुतेः ॥ २५ ॥ सर्वे तु वेदसंयोगात्कारणादेकदेशे स्यात् ॥ २६ ॥

तत्रैव “प्रेतु होतुः” इत्यादिमन्त्रे “प्रोद्गातृणाम्” इति श्रुतम् ।

तेन किमुद्रातैवैकस्तच्चमसभक्षणे विनियुज्यते उतोद्रातृप्रस्तोतृप्रतिहर्तारस्त्रय इति चिन्तायां—प्रातिपदिकश्रुत्या उद्रातैव । न, च बहुवचनानुरोधेनास्य सर्वतोमुखादाबुत्कर्षः, प्रातिपदिकस्य वा लिङ्गसमवायेन^१ त्रितयपरत्वं, योगेन वा उत्कृष्टगानकारित्वेन तत्त्रितयपरत्वं कल्प्यतामिति वाच्यं उद्रातृशब्दस्य प्रचुरप्रयोगेनोद्गीथापरपर्यायसामद्वितीयभागरूपोद्गानकर्तरि रूढत्वाद्गुणभूतबहुवचनानुरोधेन त्वदुक्तायास्त्रिविधाया अप्यन्याय्यकल्पनायाः पाशाधिकरण^२न्यायेनानुपपत्तेः । न ह्युत्कर्षायोग एव तदधिकरणविषयः, प्रकरणवाधापादकतयोत्कर्षायोगे श्रुतिवाधापादकलक्षणाद्ययोगस्य सुतरां तदधिकरणविषयत्वात् । अतो बहुवचनमेव व्यत्याननुशासनादिरीत्या एकत्वलक्षणार्थं व्याख्येयम् । न चैकत्वलक्षणायां जहत्स्वार्थतापत्तेः प्रातिपदिक एवाजहत्स्वार्थता युक्तेति केषांचिदुक्तं युक्तं, मुख्यत्वप्राधान्याभ्यां प्रातिपदिके जघन्यवृत्त्यङ्गीकारे निरस्ते जहत्स्वार्थतायाः फलमुखत्वेनादोषत्वात् । न च प्रतिहर्त्रादिकर्मण्यपि तत्प्रतिपादकवाक्येषु च औद्रात्रं कर्म, काण्डं वेति समाख्यानात् तत्कर्तर्यपि प्रतिहर्त्रादाबुद्रातृशब्दस्य शक्त्यैव प्रयोगोपपत्तेरनेकार्थकस्योद्रातृशब्दस्य बहुवचनानुरोधेन “निषद्योद्रातारस्स्तुवते” इत्यादिवत् त्रितयपरत्वं, अविशेषाद्वा ससुब्रह्मण्यचतुष्टयपरत्वं, वा किं न स्यादिति वाच्यं, अनेकशक्तिकल्पनाभियोद्गानकर्तृवाचकस्यैवोद्रातृपदस्य लक्षणादिनाऽपि काचित्सर्वविषयप्रयोगोपपत्तेः । अत एव मुख्योद्गातुरेव कर्म मुख्यमौद्रात्रं तद्वेदसंयोगाच्चान्यत्राप्यौद्रात्रशब्दः उद्रातृशब्दश्च गौण इति द्रष्टव्यम् । अतः पाशाधिकरण^२न्यायेनोद्रातैवैकः पिबेदिति प्राप्ते—

नाद्रातृशब्दस्य ऋत्विग्विशेषे शक्तिः । क्लृप्तावयवयोगेनै-
वोत्कृष्टगानकर्तृमात्रवाचित्वेनोपपत्तावतिरिक्तशक्तिकल्पनायां प्रमा-
णाभावात् । प्रचुरप्रयोगस्याहवनीयेऽग्निपदवन्निरूढलक्षणयाऽप्युप-
पत्तेः । न चात्र रथकारादिशब्दवदवयवार्थं विहाय ऋत्वि-
ग्विशेषे प्रयोगः, येनातिरिक्ताऽपि शक्तिः कल्प्येत । न चोद्गाय-
तिरप्युद्गीथवाच्येवेति नियमः “उद्गायतीनामरविन्दलोचनम्” इ-
त्यादावन्यत्रापि प्रयोगात् । अत एव पङ्कजादिशब्दस्य मण्डू-
कादौ प्रयोगाभावेन योगरूढिकल्पनायामपि प्रकृते न तत्कल्प-
ना, अपि त्वग्निशब्दवन्निरूढलक्षणैव । अतश्च तात्पर्यग्राहकसत्त्वे
लाक्षणिकार्थग्रहणेऽपि प्रकृते “अग्निमुपनिधाय स्तुवीत” इतिवत्
मुख्यार्थसम्भवे लाक्षणिकार्थग्रहणायोगाद्बहुवचनानुरोधाच्च “नि-
षद्योद्गातारः” इतिवत् प्रकृतापूर्वीयगानकर्तृणां त्रयाणामेव ग्रहणम् ।
न सुब्रह्मण्यस्य भाष्यकारोक्तस्यापि गानकर्तृत्वाभावात् । मूल-
ग्रन्थान्यथाकरणं तु युक्त्यनुरोधेन न दोषः । सिद्धान्तेऽन्य-
थात्वाभावादिति ध्येयम् ॥ ६ ॥

(७)—गावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ॥

२७ ॥ हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ॥

२८ ॥ चमसिनां वा सन्निधानात् ॥ २९ ॥

सर्वेषां तु विधित्वात्तदार्था चमसिश्रुतिः ॥

भक्षे समाख्यां प्रमाणमुक्त्वा वचनमिदानीमभिधीयते ।

“यथाचमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति अथैतस्य हारियो-
जनस्य सर्व एव लिप्सन्ते” इति श्रुतम् । तत्र लिप्साश-

ब्देनोपक्रमस्थार्थवादानुरोधात्, लिप्सामात्रग्रहणेऽदृष्टार्थत्वापत्तेश्च लक्षणया भक्षणमभिधीयते । तच्च हारियोजने वक्ष्यमाणविधया वषट्कारनिमित्तं होमाभिषवनिमित्तं च यद्यपि प्राप्तं, तथाऽप्यत्र विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदापत्तेर्भक्षान्तरमेव सर्वकर्तृविशिष्टं विधीयते । अथवा हारियोजनावान्तरप्रकरणे पाठात्तदीयभक्षानुवादेनैव “पुरस्तादैन्द्रवायवस्य भक्षयति सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति” इत्यादिवत् गुणमात्रं विधीयते । विशेषधर्मपुरस्कारेण कर्तृविधानाच्च नैककर्त्रवरोधे कर्त्रन्तरविधानानुपपत्तिशङ्का । सर्वथा वाचनिकः कर्तृविशेषः । तदिह सर्वपदं किं चमसिमात्रपरं किं वा प्रकृतसर्वत्विकपरमिति चिन्तायां—सर्वशब्दस्य सर्वनामत्वादुपस्थितपरामर्शित्वावगतेश्चमसिनामेव च पूर्वमुपस्थितत्वात्तेषामेव ग्रहणमिति प्राप्ते—

चमसिशब्दस्यान्यचमसेषु एकैकस्यैव चमसिनो भक्षणं न्याय्यं अत्र तु चमसिनामन्येषां च सर्वेषामेव तत् युक्तमित्येवं स्तुत्यालम्बनत्वेनैवोपपत्तेर्न पुनस्सर्वपदसङ्कोचकत्वम् । अतश्च परमसर्वेण व्यवहारासम्भवादावश्यकेन प्रकरणादिनैव प्रकृतकर्मकरमात्रग्रहणोपपत्तौ पुनश्चमसिभिर्विशेषणे प्रमाणाभावः । न चैवं पक्ष्या अपि ग्रहणापत्तिः, मेषीवदेव पुल्लिङ्गेन तस्या ग्रहणानुपपत्तेः । चमसाध्वर्यूणां तु याज्ञिकाचाराभावादेवाग्रहणमिति ध्येयम् । न हि ऋत्विज एव सर्वशब्देन ग्राह्या इत्यत्रान्यत्किञ्चित्प्रमाणस्ति ॥ ७ ॥

(८)—वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥ ३१ ॥

सोम एव “वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः” इति श्रुतम् । तत् किं भक्षान्तरवचनं किं वा समाख्यादिप्राप्तभक्षानुवादेन प्राथम्य-
Vol. II.

मात्रविधिरिति चिन्तायां—भक्षान्तरत्वे प्रमाणाभावात्प्राथम्यमात्रविधिः । न च वषट्कर्तुरपि विधेयत्वे वाक्यभेदः वषट्कारे निमित्ते भक्षोद्देशेन प्राथम्यविधानात्, रथन्तरे निमित्ते ग्रहोद्देशेनैन्द्रवायवाग्रत्वविधिवच्च विजातीयानेकोद्देशे वाक्यभेदाभावात् । अतश्च यत्र चमसे हारियोजने वाऽध्वर्यादेरन्यस्य वषट्कर्तुश्च समाख्यया होमाभिषवाभ्यां लिप्सावचनेन वा भक्षप्राप्तिस्तत्र वषट्कर्तुः प्रथमं भक्षस्ततोऽन्यस्येति वचनार्थ इति प्राप्ते—

‘प्रथमभक्षः’ इति समासरूपे एकस्मिन् पदे एकांशेनोद्देश्यत्वे एकांशेन विधेयत्वे चाङ्गीक्रियमाणे एकप्रसरताभङ्गापत्तेः कर्मान्तरमेवेदम् । न च तस्मिन् दूषकताबीजाभावः सामर्थ्यभङ्गस्यैव तद्बीजत्वात् । तथा हि—सर्वत्रोद्देश्यविधेयभावस्थले उद्देश्ये विधेयान्वयात्पूर्वमुद्देश्यस्योद्देश्यत्वेन क्रियान्वयोऽवश्यं वक्तव्यः । अत एव “यद्वृत्तयोगः प्राथम्यमित्याद्युद्देश्यलक्षणम्” इत्यपि सङ्गच्छते । प्राथम्यं तत्त्वेन प्रथमं क्रियान्वयः अन्यस्यातिप्रसक्तत्वात् । तदत्र यत्र भिन्नपदस्थले यागेन स्वर्गभावोदित्यादौ तत्तत्पदात्पदार्थोपस्थित्यनन्तरं स्वर्गस्योद्देश्यत्वेन यागस्य च विधेयत्वेन क्रियान्वये प्रथमावगते पश्चादेव विधेयस्य यागस्योद्देश्ये स्वर्गोऽन्वय इति स्थितिः, तद्वज्जहाप्येकपदस्थले भक्षे प्राथम्यान्वयात्पूर्वं भक्षस्य क्रियान्वयोऽभ्युपगन्तव्यः । ततश्च क्रियान्वयात्पूर्वं भक्षप्राथम्ययोर्विशेषणविशेष्यभावानवगमादेकार्थ्यभावलक्षणसामर्थ्यभङ्गादपरिपूर्णस्य समासपदस्य पदान्तरेणाल्ल्यातेनाप्यन्वयायोगात् । यद्यपि चास्मन्मते वैयाकरणवत् विशिष्टार्थवाचकत्वं न सामर्थ्यं तथाऽपि क्रियान्वयात्पूर्वं विशिष्टार्थबोधकत्वमेव तदिति बोध्यम् । अत्र च क्रियाभिन्नं विधेयं बोध्यम् ।

क्रियात्मके विधेये तदन्वयात्पूर्वमुद्देश्यस्य तत्त्वेन क्रियान्वयस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अत एव “विविदिषन्ति यज्ञेन” इत्यादौ विविदिषोद्देशेन यज्ञादिभावनाविधानेऽपि न क्षतिः । अतश्चैकप्रसरताभङ्गभिया भक्षान्तरमेव विधेयम् । अत एव “लोहितोष्णीषाः” इत्यादावतिदेशात्पूर्वमेव लोहितोष्णीषविशिष्टकर्तार एव प्रचारोद्देशेन विधीयन्ते विशेषणमात्रविधिफलका इति तत्रतत्र एकप्रसरताभङ्गपरिहारप्रकारो वक्ष्यते । अतश्च प्रकृते एकप्रसरताभङ्गभिया प्राथम्यस्य पूर्वकर्मण्यनिवेशाद्गुणादेव वषट्कर्तृप्राथम्योभयविशिष्टं भक्षान्तरमेव विधीयते सोमसंस्कारार्थम् । तत्र च यागार्थत्वेन वषट्कारस्य क्लृप्तत्वात्कर्तृरूपलक्षणमात्रत्वेनार्थान्निमित्तत्वावगतेर्वषट्कारनिमित्तकमिदं भणक्षं ग्रहेषु चमसेषु वाऽविशेषात्सिद्धं भवति ॥

(९)—होमाभिषवाभ्यां च ॥ ३२ ॥

इदमपरं भक्षस्य निमित्तं “हविर्धाने ग्रावाभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि (भक्षान्) भक्षयन्ति” इत्यत्र हविर्धानादीनां सर्वेषां गुणानां विध्यन्तरादर्थान् प्राप्तत्वात्केवलं होमाभिषवसमानकर्तृकत्वं भक्षमात्रेऽप्राप्तं विधेयम् । यद्यपि च हारियोजनादौ होमाभिषवसमानकर्तुरपि भक्षणं प्राप्तं, तथाऽप्यवयुत्यानुवादे वाक्यवैयर्थ्यापत्तेस्तस्य विधेयता । सा च न पूर्वविहितभक्षेषु, सर्वत्रोत्पत्तिशिष्टविशेषविहितकर्त्रन्तरावरोधात् । अतश्च होमाभिषवसमानकर्तृकं भक्षणान्तरमेवेह विधीयते, कर्तृरूपगुणानुरोधेन वाऽवेष्टि^१बत् वषट्कारभक्षस्यैव प्रयोगभेदमात्रम् । न चोत्पत्तौ नियामकाभावः । प्राथम्यस्यैवोत्पत्त्यन्वायिनो वषट्कारवाक्ये नियामकत्वात् । प्राथम्यस्यापि प्रयोगान्वये तु कर्मान्तरमेवेति ध्येयम् । अत्र च होमेऽभिषवसमानकर्तृकत्वस्याध्व-

धेवसमाख्याबलादेव प्राप्तेः प्रधानान्वयस्याभ्यार्हितत्वाच्च भक्ष-
रवाभिषवसमानकर्तृकत्वं होमसमानकर्तृकत्ववद्विधीयते । होमा-
भिषवयोश्च कृतुफलकत्वाद्ब्रह्मद्वारवदेवार्थान्निमित्तत्वम् । तयोस्स-
मुच्चितयोर्निमित्ततेति षष्ठे^१ वक्ष्यते । अतश्च यो यदभ्यासे होमा-
भिषवोभयकर्ताऽध्वर्युः प्रतिप्रस्थाताऽन्यो वा ग्रहे चमसे वा स
तत्र भक्षयेत् ॥ ९ ॥

(१०)—प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तशेषे ॥

स्याद्वा कारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तु-
स्तद्वचनत्वात् ॥ ३४ ॥ चमसे चान्यदर्श-
नात् ॥ ३५ ॥

अथ यत्रैकस्मिन् पात्रेऽनेकेषां भक्षकर्तृणां, एकस्मिन् क-
र्तरि वाऽनेकेषां वषट्कारहोमाभिषवसमाख्यादिकारणानां, समवा-
यस्तत्रैकशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वाद्भक्षाणां विकल्पे, प्रत्यक्षशिष्टानामपि
वषट्कारादिभक्षाणां सामान्यविहितत्वात् कल्प्ययाऽपि समाख्य-
या विशेषनिष्ठया प्रमेयबलाबलन्यायेन बाधाद्ब्रह्मविषयत्वावगते-
र्भक्षविषयत्वे वा प्राप्ते—

“अल्पं भक्षयति” इति वचनेन कृत्स्नस्य शेषस्यैकभक्ष-
्यप्रतिपाद्यत्वासम्भवादेकेन भक्षणेन प्रतिपादितेऽपि शेषेऽवशि-
ष्टशेषस्य भक्षणान्तरेण प्रतिपत्तिसम्भवात्, प्राथम्यविधेश्च स-
मुच्चयः । नन्वेवं कर्तृभेदेनानेकेषां भक्षाणां पृथगनुष्ठानेन समु-
च्चयोपपत्तावपि यत्रैकस्मिन्नेव कर्तरि कारणानेकत्वं तत्र प्रयो-
गविध्यवगतसाहित्यसम्पत्त्यर्थं तन्त्रत्वोपपत्तेर्न पृथगनुष्ठानेन समु-
च्चयः । वस्तुतस्तु—समाख्यायाः ब्रह्मोद्गातृयजमानसदस्यचमसे-

षु कारणान्तरेणैतत्कर्तृकभक्षस्याप्राप्तत्वाद्धि श्रायकश्रुतिकल्पकत्वेऽपि होतृकचमसेषु वषट्कर्तृकत्वेनैव तेषां तत्र भक्षस्य प्राप्तत्वात् कल्ल-
प्तप्रवृत्तिनिमित्ततया न विधिकल्पकत्वावकाशः । एवं हारियो-
जनेऽपि येषां कारणान्तरेण न भक्षप्राप्तिस्तत्प्राप्तिफलक एव
सर्वत्वविधिरिति न तत्रापि कारणद्वयस्यैकस्मिन् कर्तरि सम-
वाय इति चेन्न, मैत्रावरुणादिहोतृकचमसेषु वषट्कारात्तेषामिव
होतुरपि वषट्कर्तृत्वाद्धोतृचमससाधारण्येन चाध्वर्योरपि होमा-
भिषवकर्तृत्वाद्धोत्रादीनामपि तद्भक्षणप्राप्तेर्विशिष्य तत्तच्चमस इ-
त्येवंविधसमाख्यायास्तत्तत्कर्तृकभक्षणान्तरविधिमन्तरेणानुपपत्तेः ।
अत एव तन्त्रानुष्ठाने विधिफलाभावेन तन्त्रत्वमपि न । न चै-
वमप्येकस्मिन्नेव कस्मिंश्चिदध्यासे समाख्यानिमित्तभक्षकरणमात्रे-
ण समाख्योपपत्तौ न चमससाध्याध्यासमात्रे तदापत्तिः । स-
माख्याकल्प्यश्रुतावशिष्यात्प्रकृतापूर्वसाधनचमसस्थसोमसंस्कारा-
र्थत्वेन तत्तत्कर्तृकभक्षणस्य विधेयत्वेन सर्वत्रैव चमससाध्या-
ध्यासे तत्प्राप्तेः । अतस्सर्वत्रैवैकपात्रे कर्तृभेद इवैककर्तरि का-
रणभेदेऽपि युक्तो भक्षणस्य पृथगनुष्ठानेन समुच्चयः । हारियो-
जने तु मास्तु समुच्चयः । याज्ञिकानुष्ठानं चेत्तर्हि तेनास्तु सः॥ १०

(११)—एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥

३६ ॥ होता वा मन्त्रवर्णात् ॥ ३७ ॥

वचनाच्च ॥ ३८ ॥ कारणानुपूर्व्याच्च ॥ ३९ ॥

भक्षसमुच्चये चिन्तितेऽधुना प्रसङ्गात्तत्कमो निरूप्यते । त-
त्रैकस्मिन् पात्रे कर्तृभेदेन भक्षभेदे “वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः”
इति वचनात् “होतेव नः प्रथमः पाहि” इत्यादिमन्त्रवर्णाच्च व-
षट्कर्तृस्तन्निमित्तः प्रथमो भक्षः । न च होमकर्तृरध्वर्योर्हस्ते पा-

त्रसत्त्वादर्पणप्रत्यर्पणकल्पने गौरवापत्तेस्तस्यैव न्यायेन भक्षप्राथ-
म्यावगतेस्तदपेक्षया च वषट्कर्तुः प्राथम्यविधानेऽपूर्वविधित्वाप-
त्तेस्समाख्यानिमित्तभक्षापेक्षयैव तेन प्राथम्यविधिर्नियमविधिला-
घवानुरोधेन युक्तमिति वाच्यं, नियामकन्यायप्रवृत्तेः पूर्वमेवैतस्य
वचनस्य प्रवृत्तत्वेन नियमविधित्वानपायान्नचायेन सङ्कोचानुप-
पत्तेः । अतो वषट्कारनिमित्तं प्रथमं भक्षः । मैत्रावरुणादेचम-
सेषु सवनमुखीये ऐन्द्रप्रदाने होत्रा वषट्कारान्मैत्रावरुणादिभ्य-
श्च प्रदाने मैत्रावरुणादिभिर्वषट्कारात् वषट्कर्त्तृनेकत्वे तु प्रदा-
नक्रमेणैव क्रमः । वषट्कर्तृभक्षानन्तरं च होमाभिषवोभयकर्तृस-
त्त्वे तस्य भक्षः तन्निमित्तभक्षस्य वाचनिकत्वात् । ततो दुर्बल-
समाख्याप्रमाणकः । होमाभिषवकर्तृकभक्षाभावे तु तदनन्तरं भि-
न्नकर्तृकसमाख्याप्रमाणक एव । समानकर्तृके तु होमाभिषवक-
र्तृकभक्षाभावे द्विरनुष्ठानमात्रं न क्रमाभिव्यञ्जकं किञ्चित् । त-
त्सत्त्वे तु पूर्वोक्त एव क्रम इति ध्येयम् ॥ ११ ॥

(१२)—वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥ ४० ॥ तदुप-
हूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात् ॥
४१ ॥ तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ॥ ४२ ॥

इदं च भक्षणं “नानुपहूतेन सोमः पातव्यः” इति वच-
नादनुज्ञाप्यैव । तदपि न लौकिकेन शब्देन अपि तु आम्नानव-
शात् “उपहूत उपह्वयस्व” इत्यनेनैव मन्त्रेण । तत्रापि लिङ्गेन
वाक्यं बाधित्वा विभज्यैवैकोऽनुज्ञापनेऽपरश्चानुज्ञायाम् । निषेध-
बलाच्चानुज्ञापनानुज्ञयोर्विधिकल्पना, मन्त्रबलाच्च । तत्राप्यर्थक्रमे-
ण पाठक्रमं बाधित्वा “उपह्वयस्व” इति प्रथममनुज्ञाग्रहणे “उ-
पहूतः” इति पश्चादनुज्ञादाने विनियोक्तव्यम् ॥ १२ ॥

(१३)—तदेकपात्राणां समवायात् ॥

सेयमनुज्ञा यस्यैकस्मिन्नेव पात्रे भक्षप्रसक्तिस्तस्यैव ग्राह्या, दृष्टार्थतालाभात्, भागाधिक्यादिप्रसङ्गनिमित्तकलहशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । उपायान्तरेणापि तन्निवृत्तावस्य नियमविधित्वात् । अन्यस्यानुज्ञाने त्वदृष्टार्थत्वमपूर्वविधित्वं दोषः । अत एव यत्रैकस्मिन् पात्रे एक एव भक्षयिता तत्र नैवानुज्ञाग्रहणम् । एवमन्तिमस्यापि भक्षयितुर्नानुज्ञाग्रहणं प्रयोजनाभावात् । याज्ञिकास्त्वाचरन्ति ॥ १३ ॥

(१४)—याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवरवत् ॥

४४ ॥ यष्टुर्वा कारणागमात् ॥ ४५ ॥ प्रवृ-

त्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ॥ ४६ ॥

ज्योतिष्टोमे ऋतुयाज्यासु हौत्रप्रवचनाम्नातासु अन्त्या याज्या होतुरपनीय यजमानस्य विकल्पेन विधीयते “यजमानस्य याज्या सोऽभिप्रेष्यति होतरेतद्यजेति स्वयं वा निषद्य यजति” इति । तत्र स्वयं याज्यापाठपक्षे वषट्कारभक्षयोस्स एव कर्ता उत होता वेति चिन्तायां—पृष्ठीश्रुत्या यजमानस्य याज्यामात्रं श्रुतं न वषट्कारः तस्य “याज्याया अधि वषट्करोति” इति वचनेन याज्यातो भेदात् । अतश्च वषट्कारे समाख्यानमित्तो होतैवेति तन्निमित्तो भक्षस्तस्यैव । यत्तु “स्वयं वा” इति वचनं तत् न तावद्यागकर्तृत्वविधायकं तस्य प्रधानवाक्यादेव सिद्धेः । नापि यागप्रकाशकवषट्कारप्रयोक्तृत्वविधायकं विध्यन्तरत्वे वाक्यभेदापत्तेः । अत आद्यवाक्येन यजमानस्य याज्यायां विहितायां द्वितीयेन प्रेषकर्तृत्वविधानात् प्रेषार्थकर्तृत्वानुपपत्तेरेव

याज्याविकल्पप्राप्तेर्यागकर्तृत्वस्य च याज्याप्रयोक्तृत्वमात्रेणाप्युपपत्तेस्तृतीयमर्थवादः । 'निषद्य' इत्यपि याज्यायां निषण्णत्वस्य सामान्यावेधित एव प्राप्तत्वादनुवादः । "अनवानं यजति" इति याज्यान्तरविषयमिति प्राप्ते —

आख्यातश्रवणात्, वाशब्दानुपपत्तेश्च तृतीयमेव विधायकं आद्यं त्वर्थवादः । अतश्च याज्यान्तेन वषट्कारेणैव मुख्ययागकर्तृत्वाद्वषट्कारोऽपि तस्यैव, याज्यावषट्कारयोस्समानकर्तृत्वस्यानवानस्य च बाधापेक्षया वषट्कारे होतृकर्तृत्वमात्रस्यैवैकस्य समाख्याप्रमाणकस्य बाधौचित्याच्च । एवं चाद्यस्यापि विधित्वे न कश्चिद्दोषः । अतश्च वषट्कारनिमित्तो भक्षोऽपि तस्यैव ॥ १४ ॥

(१५)—फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारश्श्रु-
तिसंयोगात् ॥ ४७ ॥ इज्याविकारो वा
संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४८ ॥ होमात् ॥ ४९
चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥ ५० ॥ लिङ्गद-
र्शनाच्च ॥ ५१ ॥

तत्रैव "यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत् स यदि सोमं विभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभिनीराहत्य तास्सस्मिप्य दध्न्युन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम्" इति श्रुतम् । तत्र द्वितीयो यदिशब्दो निस्सन्दिग्धत्वपरः । आद्यस्तु निमित्तत्वपर एव । स्तिभिनीः अङ्कुरान् फलानि च । तत्रैतस्य फलचमसपदाभिधेयस्य किं भक्षणमात्रं किं वा यागोऽपीति चिन्तायां—निमित्तत्वेनापक्षीणस्य यागस्य फलचमसान्वयित्वानुपपत्तेस्तच्छब्दपरामृष्टस्य च तस्य भक्षान्वयश्रवणात्प्राप्तयागानुवादेनानेकपेषणादि-

रूपगुणविधाने वाक्यभेदापत्तेश्चानेकगुणाविशिष्टं भक्षान्तरमेव फल-
चमसकरणकं विधीयते । फलचमसस्य विनियोगाभावेन सं-
स्कार्यत्वानुपपत्तेस्सक्तुन्यायेन^१ विनियोगभङ्गस्यावश्यकत्वात् । तद-
प्यारादुपकारकमपि यजमानसोमभक्षस्य बाधकं, “न सोमम्”
इत्यनुवादबलात्, “न गिरा गिरेति ब्रूयात्^२” इतिवदेककार्यका-
रित्वाभावेऽपि बाधकत्वरूपाया एव स्थानापत्तेरङ्गीकारात् । अ-
स्तु वाऽयं स्वतन्त्र एव तन्निषेध इति प्राप्ते —

यद्यपि भक्षान्तरमिदं तथाऽपि तस्य नारादुपकारकत्वं ‘तम्’
इति द्वितीयानिर्देशेन फलचमससंस्कारार्थत्वप्रतीतिः । अनुपयुक्त-
स्य च संस्कारायोगेऽपि “अध्वर्युं वृणीते” इत्यादिवद्विनियोगक-
ल्पना । तत्रापि “स यदि सोमं विभक्षयिषेत्” इत्याद्यनुवाद-
बलाद्यजमानकर्तृकसोमभक्षस्य च तावतैवोपपत्तौ सर्वत्र सोमबा-
धेन सर्वार्थत्वकल्पने प्रमाणाभावाद्यजमानचमसयागाभ्याससाधन-
त्वमेव फलचमसस्य कल्प्यते इति न काचिदनुपपत्तिः । वस्तुत-
स्तु-भक्षान्तरत्वे प्रमाणाभावात्सोमभक्ष एव यजमानकर्तृकः पेष-
णद्ध्युन्मृज्युत्तरकालद्वयविशिष्टः फलचमससंस्कारकत्वेन विनि-
युज्यते । “राजा राजसूयेन” इतिवत्, “तस्य वायव्यासु”
इतिवच्च विनियोगविशिष्टप्रयोगविधानादवाक्यभेदः । तस्य च
यजमानचमसाभ्यासीयद्रव्यसंस्कारकभक्षसंस्कार्यत्वात्पूर्वोक्तयुक्ते-
श्च तदीयत्वानुमानात्कल्पितवाक्येन फलचमसस्योक्तयागाभ्या-
ससाधनत्वसिद्धिः । नैमित्तिकत्वाच्च तत्र नित्यसोमबाधकत्वम् ।
एवं च स्थानापत्यैव फलचमसे इतरसोमसंस्कारवद्यजमानभक्ष-
स्यापि प्राप्तिरसम्भवे पूर्वप्रवृत्त्या तद्विध्यङ्गीकरणं गुणद्वयविधा-

^१ २-१-६ अधिकरणेऽयं न्यायो द्रष्टव्यः ।

^२ ९-१-१६ अधिकरणे एतद्वाक्यविचारो द्रष्टव्यः ।

नार्थं, फलचमसस्य यागसाधनत्वसिद्धयर्थं चेति द्रष्टव्यम् । एतेन “यदि सोमं न विन्देत् पूतकानामिषुण्यात्” इत्याभिप्रवयुक्त-
पूतकानामपि यागसाधनत्वं व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

(१६)-अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥ ५२ ॥ ब्रा-
ह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ॥ ५३ ॥

राजसूये दशपेयो नाम सोमयागविकारो राजकर्तृकः । त-
त्रातिदेशतो दशसु चमसेषु प्राप्तेषु यजमानचमसे राज्ञो भक्षणम् ।
तत्रापि “शतं ब्राह्मणास्सोमान् भक्षयन्ति,” “दशदशैकैकं चम-
समनुप्रसर्पेयुः” इति वचनद्वयं श्रुतम् । तत्र न तावत् “शतं
ब्राह्मणाः” इति विधिः ‘दशदश’ इत्यनुवादः, भक्षानुवा-
देन गुणद्वयविधाने वाक्यभेदात्, एकैकस्मिन् भक्षे शतब्राह्मण-
प्राप्त्यापत्तौ दशदशेत्यस्य प्राप्त्यभावाच्च । अतो दशदशेत्येव
लिङ्श्रवणाद्विधिः । सोऽपि च न चमसोद्देशेन दशत्वस्य
प्राप्तत्वात् । नापि तदुद्देशेन भक्षाश्रितदशकर्तृविधिः । चमसो-
न्नयनादिक्रियान्तरस्याप्याश्रयत्वप्रसङ्गेन भक्षस्यैवाश्रयत्वे प्रमा-
णाभावात्, याज्ञिकाचारसिद्धसमाख्याभक्षस्यैव नियमेनोपस्थित्य-
भावेन वषट्कारनिमित्तस्याप्याश्रयत्वापत्तेश्च, ‘चमसम्’ इति द्वि-
तीयाया अनुशब्दयोगनिमित्तत्वेन प्रतियोगित्वपरतया तस्योद्दे-
श्यत्वोपस्थापकत्वाभावाच्च । नापि चमसानुप्रसर्पणोद्देशेन दशक-
र्तृविधिः विशिष्टोद्देशो वाक्यभेदात्, चमसप्रतियोगिकत्वाच्च-
कर्तृकानुप्रसर्पणस्याप्राप्तत्वाच्च, “प्रयाजेभ्यस्तत्” इतिवत् सर्व-
चमसेष्वेकस्यैव दशकस्य प्रसक्त्यापत्तेश्च । चमसेष्वेकैकत्वविशे-
षणे पुनर्विशिष्टोद्देशः । दशदशेति वोप्सार्थविधाने वाक्यभेदः,
प्रतिचमसं विंशत्यापत्तिश्च । अतो दशकर्तृविशिष्टं प्रत्येकचमस-

प्रतियोगिकमनुप्रसर्पणमेवात्र विधीयते । तयोश्च पार्ष्टिकान्वये एकैकस्मिन् चमसे दशदश कर्तारो भवन्तीति वीप्सानुवादः । अनुप्रसर्पणस्य च प्रयोजनापेक्षायां वैमृधन्यायेन^१ चमसपद्मान्तर्गतचमिधानुप्रतिपाद्यसमाख्यानिमित्तभक्षस्यैव स्ववाक्योपस्थितत्वात्तद्वाचकपदान्तरकल्पनया प्रयोजनत्वम् । अतश्च समाख्यानिमित्तभक्षार्थं प्रतिचमसं दशानामनुप्रसर्पणे चमसानां दशत्वाच्छतसहस्रासम्पत्तेदशतवाक्यमनुवादो विधेयदशत्वस्तुत्यर्थः न तु ब्राह्मणत्वविधायकः वाक्यभेदापत्तेः । अतो ब्राह्मणग्रहणं सोमपदवदेव भूम्ना गौणमिति यजमानचमसे राजत्वजातरेव न्यायप्राप्तत्वाद्राजन्या दश भक्षयेयुरिति प्राप्ते—

ब्राह्मणत्वस्य सर्वचमसेषु प्राप्त्यभावेन “उपरि हि देवेभ्यो धारयति”^१ इतिवद्विधेयत्वोपपत्तेर्गौणत्वे प्रमाणाभावात् ब्राह्मणत्वमेवेह शतोद्देशेन विधीयते । “सोमान् भक्षयन्ति” इत्यनुवादमात्रम् । वस्तुतस्तु—भक्षयन्तिना पूर्ववाक्ये समाख्याभक्षस्योद्देश्यत्वेनोपस्थितस्यैवोपादानात्तदुद्देशेनैव ब्राह्मणत्वविधानमिति दशत्वेनैकत्वबाधवत् ब्राह्मणत्वेन राजत्वबाध इति यजमानचमसेष्वपि ब्राह्मणा एव फलचमसं दश भक्षयेयुः । न च “स यद्भि सोमम्” इत्यनेन राजकर्तृकभक्षस्य निमित्तत्वावगतेः कथं तदभावे फलचमस इति वाच्यं, निमित्तद्वयाङ्गीकारे वाक्यभेदापत्तेराद्येनैव यदिशब्देन यागगतराजकर्तृकत्वस्य निमित्तत्वप्रतिपादनात् । अयं तु यदिशब्दो निस्सन्दिग्धत्वार्थकोऽनुवाद इत्युक्तम् ॥ १६ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां
तृतीयस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः

अथ तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः.

(१)-सर्वार्थमप्रकरणात् ॥ १ ॥ प्रकृतौ वाऽ^१
द्विरुक्तत्वात् ॥ २ ॥ तद्वर्जं तु वचनप्राप्ते ।
३ ॥ दर्शनादिति चेत् ॥ ४ ॥ न चोदनैका-
र्थ्यात् ॥ ५ ॥ उत्पत्तिरिति चेत् ॥ ६ ॥ न
तुल्यत्वात् ॥ ७ ॥ चोदनार्थकात्स्नर्यात्तु मु-
ख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः ॥ ८ ॥

अनारभ्यश्रुतेन “यस्य पर्णमयी जुह्वर्भवति” इत्यादिनाऽ-
व्यभिचरितक्रतुसम्बन्धिजुह्वद्देशेन विधीयमाना पर्णता तद्वारेण
जुह्वसाध्यक्रत्वङ्गमिति स्थिते, सा किं प्रकृतिविकृतिसाधारणी
उत प्रकृतेरेवेति चिन्तायां—अविशेषात्सर्वेषामपि । न च विकृ-
तावतिदेशेनापि प्राप्तोर्द्विरुक्तत्वापत्तिः, उपदेशेनैव प्राप्तिसत्त्वे अति-
देशस्य कुशविषयत्वाकल्पनवत् पर्णताविषयत्वाकल्पनात् । न च
विकृतौ जुह्वप्राप्तेरतिदेशायत्तत्वात्तस्य च प्रकृतेस्सर्वाङ्गसम्बन्धो-
त्तरकालिकत्वेन पर्णताविधेः प्रथमं प्रकृतिविषयशाब्दबोधजनक-
त्वावश्यम्भावे पुनर्विकृतिविषये तज्जनकत्वायोगेन प्राप्तिकालवैष-
म्यापत्तिरिति वाच्यं, वैमृधा^२दिवत् पर्णताव्यतिरिक्ताङ्गसम्बन्धेनैव

^१ द्विरुक्तत्वादिति पाठे विकृताविति पदमध्याहृत्य तत्र द्विरुक्तत्वात्प्रकृता-
वेवानाराभ्याधीतानां निवेश इत्यर्थो बोध्यः । पाठद्वयं वार्तिककारेण
प्रदर्शितम् ॥

प्रकृतेः पूर्णत्वमङ्गीकृत्य विकृतावतिदेशोपपत्तौ पर्णतायाः पश्चाद्देव विधानेन साधारण्योपपत्तेः । अन्यथा वैमृधेऽपि वैमृधव्यतिरिक्तप्रयाजाद्यतिदेशानापत्तेरिति प्राप्ते—

यत्किञ्चिदितिकर्तव्यताकवैमृधोपेतसकलाङ्गसम्बन्धेनैव प्रकृतेः पूर्णत्वमङ्गीकृत्य वैमृधे अतिदेशकल्पनायामपि येषामङ्गानां स्वाङ्गसम्बन्धेन निराकाङ्क्षता तेषामेवातिदेशो न वैमृधस्य, अङ्गविशेषानवगमेन तद्भावाभावाः अपरिपूर्णत्वात् । अतश्च पर्णतारूपाङ्गसम्बन्धं विना प्रकृतेः पूर्णत्वाभावादतिदेशतो जुह्वप्राप्तधनन्नं पुनः पर्णताविधौ प्राप्तिकालवैषम्यापत्तेः प्रकृत्यर्थैव पर्णता । यथा चैवं सति “दीक्षासु यूषं छिनत्ति” इत्यत्राग्नीषोमीयसवनीयानूबन्ध्यसम्बन्ध्युपदिष्टातिदिष्टच्छेदनसाधारण्येन दीक्षाकालविधौ न प्राप्तिकालवैषम्यं तथा तत्रैव^१ वक्ष्यामः । वस्तुतस्तु—नैव तत्र साधारण्येन विधिः, प्रकृत्यर्थत्वेन विहितस्यातिदेशतोपि प्राप्ति-सम्भवात् । तथाऽपि यूषैकत्वं भिन्नकालिकत्वेनागृह्यमाणविशेषत्वात्पात्रवदेव नानुपपन्नम् ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे पर्णतालोपे वेदान्तरीयविकृतौ याजुर्वेदिकत्वात्तद्भेषप्रायश्चित्तम् । सिद्धान्ते अविज्ञातप्रायश्चित्तं विकृतिवेदीयं वा । भूरादिप्रायश्चित्तानामप्युपक्रमानुसारेणोच्चैस्त्वादिवत् वेदधर्मत्वात् ॥ १ ॥

(२)—प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ॥

“सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्” इत्यनारभ्याधीतं सामिधेन्युद्देशेन विधीयमानं सप्तदश्यं प्राकरणिकपाञ्चदश्यावरोधान्न पूर्ववत्प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोर्निविशते, सामिधेनीस्वरूपे आनर्थक्य-

प्रसक्तौ लक्षणीयस्यापूर्वविशेषसाधनत्वस्य प्रकरणेन झडित्युप-
स्थापनात् । साप्तदश्ये तु अव्यभिचारितक्रतुसम्बन्धेन कथञ्चि-
दपूर्वसामान्यस्योपस्थितावपि तद्विशेषस्य द्विरुक्तत्वन्यायेनोप-
स्थित्या विलम्बितत्वात् । किन्तु विकृतौ । न च तत्रापि क्ल-
तोपकारपाञ्चदश्यावरोधः । औपदेशिकत्वेन शस्वद्वाधकत्वोप-
पत्तेः । न चानारभ्याधीतत्वेन दौर्बल्यं निरवकाशत्वरूपप्राबल्य-
युक्तेरुभयत्रापि तुल्यत्वात् । अत एव “य इष्ट्या” इत्यनेनाव-
गम्यमानं सद्यस्कालत्वादि सर्वविकृतिषु निविशत एव । अत-
एव सर्वविकृतिषु साप्तदश्यप्राप्तौ कासुचिन्मित्रविन्दादिविकृतिषु
तत्पुनश्चरणं अन्यविकृतिषु तत्परिसङ्ख्याफलकोपसंहारार्थम् । न
च वाक्यद्वयवैयर्थ्यापत्तिः, एकेन सामिधेनीसम्बन्धोऽपरेण क्रतु-
विशेषसम्बन्धेन शीत विषयभेदात् । न चैवमपि प्राकरणिकेनैवो-
भयसम्बन्धसिद्धौ इतरवैयर्थ्यं, वाक्यद्वयाज्ञानबलेनाभ्युदयशिर-
स्कृत्वकल्पनादिति दशमे^१ वक्ष्यते ॥

(३)-नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारस्संयोग-
विशेषात् ॥ १० ॥

यत्तु प्रकरणेन एव “साप्तदश वैश्यस्य” इति नैमित्तिकं सा-
प्तदश्यं, तत् पाञ्चदश्यवाधकम् । अत्र हि षष्ठ्या निमित्तत्व-
मेव वैश्यस्योच्यते । विजातीयत्वाच्च सामिधेन्युद्देशेऽपि न वा-
क्यभेदः । वैश्यस्वामिकसामिधेन्युद्देशेन वा साप्तदश्यविधिः ।
षष्ठ्या परस्परसम्बन्धस्य प्राचीनं व्युत्पन्नत्वेन च विशिष्टोद्देशो यु-
क्तः । वैश्योद्देशेनैव वा स्वस्वामिकसामिधेनीकत्वसम्बन्धेन त-
द्विधिः, “सामिधेनीरनुब्रूयात्” इत्यस्य तात्पर्यग्राहकत्वात् । अ-

न्यक्षद्वये च वैश्याभावे साप्तदद्याननुष्ठानान्निमित्तत्वं तस्या-
र्थिकम् । तथा काम्यमपि गोदोहनादि एकविंशत्याद्यनुवचनादि
च नित्यस्य चमसपाञ्चदश्यादेर्नैमित्तिकस्य च साप्तदश्यादेर्बाधकं,
नित्यस्य सामान्यविहितत्वेन ब्राह्मणादिप्रयोगे सावकाशत्वेन च
विशेषविहिताग्निरवकाशाच्च काम्यनैमित्तिकादुर्बलत्वावगतेः । न
चैवमपि नैमित्तिकस्य कामनारहितप्रयोगे सावकाशत्ववत् का-
म्यस्यापि ब्राह्मणादिकाम्यप्रयोगे सावकाशत्वाद्यविशेषेण नैमि-
त्तिकापेक्षया बलवत्त्वानापत्तिः, साक्षात्पुरुषार्थसाधने पुरषस्यो-
न्मुखत्वेन काम्यस्य पुरस्स्फूर्तिकतया बलवत्त्वोपपत्तेः । न च का-
म्यस्य क्रत्वनङ्गत्वात् तेन क्रत्वङ्गभूतनित्यादेर्बाधे विगुणक्रत्वा-
श्रितात्काम्यादपि फलानापत्तिः, काम्यस्य लाघवेन परप्रयुक्ता-
श्रयोपजीवितया स्वातन्त्र्येणानुष्ठानशङ्काऽनुपपत्तेः, आश्रयस्यापि
परप्रयुक्तकाम्यगुणेनैवोपकारसिद्धौ नित्यनैमित्तिकचमसाद्यनुष्ठाप-
कत्वाकल्पनात् काम्यप्रयोगे चमसादेरङ्गत्वाभावेनैव वैगुण्याप्रस-
क्तेः । अतो दुर्बलस्य नित्यादेः प्रबलानास्कन्दितप्रयोगविषयत्व-
कल्पनया प्राप्तबाधविधया बाधकत्वं काम्यनैमित्तिकादेरिति सि-
द्धम् ॥ ३ ॥

(४)—इष्ट्यर्थमग्रयाधेयं प्रकरणात् ॥ ११ ॥ न

वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १२ ॥ लिङ्गदर्श-

नाच्च ॥ १३ ॥

अग्नीनामतिदेशेन पवमानेष्ट्यङ्गत्वावगमात्तत्संस्कारकत्वेन वि-
हितस्याधानस्यापि प्रकरणसहकृतवाक्यात्पवमानेष्टिसाधनीभूता-
ग्निसंस्कारकत्वेन विनियुक्तस्य पवमानेष्ट्यङ्गत्वं, पवमानेष्टीनां
विश्वजिह्वायायेन^१ फलकल्पनेति प्राप्ते—

आधानस्य किमग्न्युत्पादकत्वं उत सम्मार्गादिवदग्निनिष्ठा-
तिशयमात्रजनकत्वं, उभयथाऽपि त्वन्मते अग्निहोत्रादिष्वाहवनी-
याद्युत्पादकाभावादतिदेशस्यैवासम्भवः । अतोऽग्निहोत्राद्यङ्गभूताह-
वनीयाद्युत्पादकमेवाधानम् । पवमानेष्टयोऽप्यग्न्यङ्गभूताः, फलवदा-
धानाङ्गभूता एव वा प्रकरणात् । ततश्च पवमानोष्टिष्वसिद्ध-
त्वाद्ग्नोरातिदेशस्यैवाभावः ॥

प्रयोजनं पवमानेष्टिषु पूर्वपक्षे अन्वारम्भणीया, सिद्धान्ते प्र-
धानारम्भत्वा^१च्चेत्यादि ॥ ४ ॥

(५)-तत्प्रकृत्यर्थं यथाऽन्येऽनारभ्यवादाः ॥ १४

सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥ १५ ॥

तदाधानमग्निवदेव पर्ण^२तान्यायेनाव्यभिचारितक्रतुसम्बन्ध्य-
अग्न्यङ्गत्वेन क्रत्वङ्गत्वावगतेर्द्विरुक्ततादोषभियैव प्रकृत्यर्थमिति प्राप्ते-
नाधानस्य क्रत्वङ्गत्वं प्रमाणाभावात् । जुह्वादयो ह्याकृतिविशेषरू-
पाः पर्णतादिव्यतिरेकेणापि काष्ठान्तरेण जायमाना आनर्थक्यभ-
याद्युक्तं यत्पर्णतादेस्स्वजन्यापूर्वार्थतां बोधयन्तीति । आहवनी-
याद्यग्नयस्तु अदृष्टविशेषरूपा आधानं विनोत्पत्तौ प्रमाणाभावा-
दानर्थक्यभावेन स्वस्वरूपार्थत्वमेवाधानस्यावबोधयन्ति । अत-
एव तत्र नाग्निशब्दे अपूर्वसाधनत्वलक्षणा । अतः क्रत्वर्थत्वस्यै-
वाभावात् प्रकृत्यर्थता दूरापास्तैव । न चैवमाधानाकरणे क्रतुवैगु-
ण्यानापत्तिः, अग्न्यभावेन वैगुण्योपपत्तेः । वस्तुतस्तु—लाघवेन क्र-
तुविधीनामाधानविधिसिद्धाग्निग्रहणेनैवोपपत्तौ स्वयमग्निप्रयोजक-
त्वाभावादनहिताग्नेरनाधिकार एव क्रतुष्विति वैगुण्यशङ्का दूरा-
पास्तैव । एवं पवमानेष्टीनामप्यक्रत्वर्थत्वं व्याख्यातम् ॥

^१ पृथगारम्भाभावा. पा.

^२ ३-६-१..

प्रयोजनं पूर्वपक्षे आधानस्य कालान्तराज्ञानेन भिन्नप्रयोग-
विधिविहिततया सर्वार्थं सकृदनुष्ठानेऽपि बृहस्पतिसूत्रादिचदधि-
कारिविशेषणत्वे प्रमाणाभावान्नित्ये आधानं विनाऽप्यनुष्ठानं यथा-
शक्तिप्रयोगे । सिद्धान्ते त्वधिकारसम्पादकत्वाच्चेति ॥ ५ ॥

(६)—तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् ॥ १६ ॥

न वा तासां तदर्थत्वात् ॥ १७ ॥

पवमानेष्टीनां दर्शप्रकृतित्वादतिदेशेन प्रयाजादिवदेवाग्नयः
प्राप्नुवन्ति, ते चाधानपवमानेष्टिसाध्या इति ततः पूर्वं कर्तव्य-
मेवाधानं पवमानेष्ट्यश्च । न चानवस्था यावत्पौर्णमास्यादिकालं
करणापपत्तेरिति प्राप्ते—

न तावत्पवमानेष्ट्यादिकं प्रकृतावङ्गं, अग्निमात्रार्थत्वस्य स्था-
पितत्वात् । सत्यपि चाङ्गत्वे तेषां नातिदेशः पवमानेष्ट्यादिषु,
यत्किञ्चिदितिकर्तव्यताकपवमानेष्ट्युपेतसकलाङ्गसम्बन्धेनैव प्रकृतैः
पूर्णतां परिकल्प्य पवमानेष्टिष्वतिदेशकल्पनात्, येषामङ्गानां प्र-
कृतौ स्वाङ्गसम्बन्धेन निराकाङ्क्षता तेषामेवातिदेशः न पवमाने-
ष्ट्यादीनां, तेषामङ्गविशेषानवगमेन तद्भावनाया अपरिपूर्णत्वात् ।
अतोऽन्वारम्भणीयावैमृध्न्यायेनैव नातिदेशः । वस्तुतस्तु—ना-
ङ्गत्वमपि । अग्नीनां तु सत्यप्यङ्गत्वे साध्यत्वाच्चेहातिदेशः । अ-
वश्यं हि ये प्रथमत आधानपवमानेष्ट्यादयः कार्यास्तेभ्योऽग्नि-
सिद्धिरङ्गीकर्तव्या । ततश्च तैभ्यः कार्यसिद्धावन्येषामकरणम् ।
यथा चैवं सति पवमानेष्टिहोमादय आधानहोमा वा आधान-
जन्योत्पत्त्यपूर्वरूपाहवनीयादौ भवन्ति तथा कौस्तुभे वारणाधि-
करणे^१ अत्र च स्पष्टम् ॥ ६ ॥

^१ ३-६-४ अधिकरणे. ^२ १०-१-४. ^३ ४-३-११. ^४ ३-१-१२.

(७)—तुल्यस्सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ॥

१८ ॥ स्थानाच्च पूर्वस्य ॥ १९ ॥ श्वस्त्वे-

केषां तत्र प्राक्छुतिर्गुणार्था ॥ २० ॥ तेनो-

त्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥ २१ ॥ नै-

कदेशत्वात् ॥ २२ ॥ अथैनेति चेत् ॥ २३

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ २४ ॥ स्थानात्तु

पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ २५ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २६ ॥ अचोदना गुणा-

र्थेन ॥ २७ ॥

ज्योतिष्टोमे क्रयसन्निधावग्नीषोमीयः पशुराम्नातो वचनात्
“स एष औपवसत्येऽहन्यालब्धव्यः” इत्यस्माच्चतुर्थेऽहन्यनुष्ठी-
यते । पशुधर्माश्च तत्रैव पशूणाकरणादयस्समाप्ताः । सवनी-
यश्च पशुस्सौत्येऽहनि समाप्ताः । “आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रि-
वृता यूपं परिवार्याग्नये सवनीयं पशुमुपाकरोति” इति । अनु-
बन्ध्यश्चान्ते समाप्ताः । तदिह किं पशुधर्माणां पशुत्रयसाधा-
रण्यं, उत सवनीयमात्रार्थत्वं, उत सवनीयाग्नीषोमीयोभयार्थत्वं,
उताग्नीषोमीयमात्रार्थत्वमेवेति चिन्तायां महाप्रकरणवशाज्ज्योति-
ष्टोमसम्बद्धानां धर्माणां पशुधर्मत्वेन साक्षात्सम्बन्धायोगादान-
र्थक्यतदङ्गन्यायेन पशुयागद्वारा जनकत्वात्तगतस्तेषां च मध्ये
कस्यचित् विशिष्य प्रकरणबाधकबलवत्प्रकरणाभावोनाविशेषात्स-
र्वार्थत्वमित्याद्यः । द्वितीयस्तु—सत्यपि ज्योतिष्टोमप्रकरणस्य पशु-

धर्मग्राहकत्वे सवनीयावान्तरप्रकरणेन तद्वाधः । तस्य हि औपवसत्थ्येऽहन्येवोत्पत्तिः “आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आलब्धव्यः, ऐन्द्राग्न उक्थ्ये द्वितीयः, ऐन्द्रो वृष्णिष्णोडाशिनि तृतीयः, सारस्वतीमेष्यतिरात्रे चतुर्थी” इत्येतैर्वचनैः क्रतुपशूनां विधानात् । तस्य क्लृप्तोपकारप्राकृताङ्गसम्बन्धेऽप्यपेक्षितानां पशुधर्माणां सन्निहितत्वेन प्राकृताङ्गसन्दष्टत्वेन चावान्तरप्रकरणोपपत्तिः । ऐन्द्राग्रादिपशूनां तु संस्थाधिकरणन्यायेन^१ समानविधानत्वाभावादेव न पशुधर्मग्राहकत्वशङ्का । अस्तु वा—तेषामप्यवान्तरप्रकरणाद्धर्मग्राहकत्वं, नैतावता सर्वार्थत्वम् । न सौत्येऽहनि तद्विधिः, सवनीयोद्देशेन तस्याश्विनग्रहग्रहणोत्तरकालत्वमात्रविधायकत्वात् । यूपपरिव्याणस्य “त्रिवृता यूपं परिव्ययति” इति सामान्यविधिना, “आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा उपनिष्क्रम्य यूपं परिव्ययति” इति परिव्याणविधिना वा प्राप्तत्वेनानुवादात् । परिव्याणान्तरे त्रिवृत्वस्यापि रशनासाधारण्याधिकरण^२ एवोपपादयिष्यमाणत्वाच्च । न च तथाऽपि दूरस्थकर्मानुवादेन कालविधिर्रक्ष्यः, औपवसत्थ्येऽहनि विहितानामपि क्रतुपशूनां “वपया प्रातस्सवने चरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिने अङ्गैस्तृतीयसवने” इत्यनेनोत्कर्षविधानात् सौत्येऽहन्यनुष्ठीयमानतयोपस्थित्युपपत्तेः । तेन यथैव क्रयसन्निधावान्नातस्याग्नीषोमीयस्य औपवसत्थ्येऽहन्यनुष्ठीयमानत्वेनैव धर्मग्राहकत्वं सिद्धान्ते, तद्वादिहापीति न दोषः । न चैवमापि क्व सवनीयविधिरित्यत्र विनिगमनाविरहः, धर्मबाहुल्यस्य नियामकत्वात् । अतश्चावान्तरप्रकरणात् सवनीयार्था इति । तृतीयस्तु—सत्यं सवनीयार्थाः, स्थानादग्नीषोमीयार्था अपि । तस्य हि क्रयसन्निधौ विधिदशायामेव क्लृप्तोपकारप्राकृताङ्गैर्निराका-

^१ ३-६-१६.^२ ३-६-१०.

इक्षीकृतस्य औपवसत्थ्येऽहन्युत्कृष्टस्यार्थोपस्थितिमात्रसत्त्वेन स्थानम् । सवनीयवद्वाक्यसन्निध्यभावेन प्रकरणशङ्काऽनुपपत्तेः । अत एवेतिकर्तव्यतात्वेनायोग्यसम्बन्धयोर्वाक्यार्थयोस्तन्निधिरिति स्थानलक्षणम् । यद्यपि चात्र पशुधर्माणां श्रुत्यादिविनियुक्तत्वान्न प्रकरणस्य स्थानस्य वा विनियोजकत्वसम्भावना, तथाऽप्यपूर्वसाधनत्वलक्षणातात्पर्यग्राहकत्वं एव विनियोजकत्वव्यवहारो भाक्त इति द्रष्टव्यम् । न चैवमपि प्रकरणेन स्थानबाधापत्तिः, अग्नीषोमीयस्य पशुधर्माकाङ्क्षायामेवातिदेशकल्पनवदौपदेशिकस्थानस्यैव विनियोजकत्वकल्पनौचित्यात् । अन्यथा प्रबलौपदेशिकप्रमाणेन प्रकृत्यर्थत्वात् धर्माणां कापि विकृत्यर्थत्वानापत्तेः । इन्द्रादेरुपायान्तरेणापि स्मृतिसम्भवाच्च लिङ्गादेश्श्रुतिकल्पकत्वमिति विशेषः । अत उभयार्थत्वमिति प्राप्ते—

न सवनीयस्यावान्तरप्रकरणं सौत्येऽहन्युत्पत्तेः । अन्यथा दूरस्थकर्मानुवादेन कालरूपानुपादेयगुणविधानानुपपत्तेः । न च प्रातस्सवने उत्कृष्टत्वादेवोपस्थितिः, आनुष्ठानिकोपस्थितेरङ्गग्राहकत्वेऽपि प्रकरणान्तरप्रतिबन्धकत्वस्य काप्यदर्शनात् । अस्तु वा तत्, तथाऽपि वपाभ्यासमात्रस्य प्रातस्सवने उत्कृष्टत्वेऽप्युपाकरणोत्कर्षे प्रमाणाभावादुपस्थित्यनुपपत्तेः । यद्यपि चोपाकरोतिना याग एव लक्ष्यते, तथाऽपि शक्यार्थस्योपाकरणस्याभिव्यक्तग्रहणोत्तरकालत्वस्याप्राप्तेरनुवादानुपपत्तिः । यद्यपि च वपाश्चारात्तरभाविपदार्थानां तदाद्युत्कर्षन्यायेनोत्कर्षस्सम्भाव्येत, तथाऽपि न तत्पूर्वभाविनामुपाकरणादीनामुत्कर्षे प्रमाणमस्ति । वस्तुतस्तु - पूर्वोद्युत्कर्षन्यायेनापूर्वत्वात् तदुत्तरभाविनामपि नोत्कर्षः । वस्तुतस्तु—गङ्गायां घोष इत्यादौ शक्यार्थस्य घोषा-

न्वयप्राप्त्यभावेऽपि लक्षणादर्शनात् तस्योत्तरकालत्वप्राप्त्यभावेऽ-
 प्युपाकरोतिना वपाभ्यासलक्षणोपपत्तेः पश्वनपक्रमोपयोगियूप-
 दार्ढ्यसम्पादकद्वितीययूपपरिव्याणस्या श्विनग्रहणोत्तरकाल विधित
 एव तदुत्तरभाविवपायागस्याप्याश्विनग्रहणोत्तरकालत्वासिद्धेरेत-
 द्वाक्यवैयर्थ्यभियैवाभ्यासादेतस्योत्पत्तिविधित्वं, तत्रापीतरस्य स-
 र्वस्य द्वितीययूपपरिव्याणादेर्वाक्यान्तरप्राप्तत्वात्कालविशिष्टं शुद्ध-
 मेव वा द्रव्यदेवताविशिष्टं कर्मैव विधीयते, ततश्चानेनैव वाक्ये-
 नाग्नेयसवनोयस्यैतत्समानजातीयैश्च वाक्यान्तरैरैन्द्राग्रधादीनां वि-
 धानादौपवसत्स्थेऽहनि तेषां पुनश्चवणमनुवादमात्रं, तथाऽपि “य-
 था वै मत्स्योऽविदितो जनमवधूनुते एवमेतेऽप्रज्ञायमाना जन-
 मवधून्वते ” इत्यर्थवादकृतसन्ततकरणनिमित्तकनिन्दोपपादकैत-
 द्ब्रह्मदापेक्षितपशुसमर्पणार्थं, निन्दोन्नीतदोषपरिहारार्थं च “वप-
 या प्रातस्सवने चरन्ति ” इत्यादिना वपाप्रचारोद्देशेन प्रातस्सव-
 नादिकालविधिः । खण्डशः कालभेदेनानुष्ठाने हि मध्ये स्मृत्यर्थ-
 मवकाशलाभादोषपरिहारः । यद्यपि चात्रापि कालविधानं दूर-
 स्थकर्मानुवादेनाशक्यं, तथाऽप्यर्थवादत एव तदुपस्थितेर्न काश्चि-
 दोषः । यत्तु प्रचारविप्रकर्षस्योपादेयस्य गुणस्य सत्त्वान्न दोष इति
 मूलोक्तं समाधानं, तत् विप्रकर्षस्याशब्दस्य विधेयत्वाभावावु-
 पेक्षितम् । अतो न सवनीयस्यावान्तरप्रकरणं, स्थानात्त्वग्नीषो-
 मीययागाङ्गं पशुधर्माः । न च ज्योतिष्टोमप्रकरणेन स्थानबाधः, प-
 शुधर्माणां श्रुत्यादिभिः पशुसंस्कारकतया विनियुक्तानामयोग्यतया
 ज्योतिष्टोमप्रकरणेनाग्रहणात् । अतो यत्रैव श्रुतस्सम्बन्धः यथा
 “वाजपेयस्य ” इत्यादौ तत्रैवानर्थक्यतदङ्गन्यायः, न त्वत्र । एवं
 सत्यपि यदि तस्यापि पशोः विशेष्यप्रमाणान्तरमपूर्वसाधनत्वो-

पस्थापकं न स्यात्ततो महाप्रकरणपरिगृहीतानामेषामानर्थक्यत-
दङ्गन्यायेन भवेत्सर्वपश्वर्थत्वं, न त्वेतदस्ति, स्थानेनाग्नीषोमी-
यार्थत्वात्, तेन सिद्धमग्नीषोमीये उपदेशोऽन्यत्र त्वतिदेश इति ।
सामानविध्यप्रयोजनं दशमादौ स्पष्टम् ॥ ७ ॥

(८)—दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥

२८ ॥ प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य
कालशास्त्रम् ॥ २९ ॥

दर्शपूर्णमासयोर्दधि पूर्वद्युरपरेद्युश्च पय उत्पाद्यते । दोहध-
र्माश्च शाखाहरणादयः पूर्वद्युः क्रियन्ते । तेषामनुष्ठानसादेश्या-
हधिमाम्राङ्गत्वमिति प्राप्ते—

यद्यपि स्थानं भवेत् तथाऽपि प्रकरणेन तद्वाधः । न ह्यत्र
पूर्ववत् क्लृप्तोपकास्त्वादिना प्रकरणाभावशङ्कितुं शक्यः । न च
स्थानमपि दधियामास्यास्ति, उत्तरेद्युरेवानुष्ठानात् । दधस्तु विद्य-
मानमपि नानर्थक्यमियाऽपूर्वसाधनत्वलक्षणातात्पर्यग्राहकम् । न च
स्मारकविधयेन दधैव यागोपस्थितेस्स्थानशङ्का, तादृशोपस्थितेनै-
प्रत्यभावेन ग्राहकत्वानुपपत्तेः । किञ्च दोहधर्माः परेद्युरेवाम्राताः
तत्रैव भाव्यापेक्षया प्रकरणादुभयार्थत्वेनावगम्यमानाः पूर्वद्युरनुष्ठी-
यमानदधिसिद्धयर्थं पूर्वद्युस्तन्त्रेण क्रियमाणा अपि न तन्मात्रार्था
भवन्ति । दोहनादयस्तु सामर्थ्यादेवावर्तन्ते इति विशेषः ॥ ८ ॥

(९)—तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्भानम् ॥ ३० ॥

ज्योतिष्टोमे प्रातस्सवनिकग्रहसन्निधौ ग्रहधर्माः “उपोसेऽ-
न्ये ग्रहास्साधन्तेऽनुपोसे ध्रुवः” इत्याद्याश्रुताः । ते निस्स-
न्दिग्धस्थातात् प्रातस्सवनिकग्रहमात्रार्था इति प्राप्ते—

च “आश्विनं ग्रहं गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं परिव्ययति” इति विधिनाऽभ्यासात्परिव्याणान्तरे विहितं, आश्विनोत्तरकालस्य पाठादुपनिष्क्रमणस्य चार्थादेव प्राप्तेः । तच्च प्रकरणात् सवनीयस्यैवाङ्गम् । तदपि च न प्राकृतकार्यापन्ने, प्राकाशदानवद्विधिवैयर्थ्यापत्तेः । अत एव तत्कार्यमदृष्टं यूपदार्ढ्यं वेत्यन्यदेतत् । तदिह रशना तद्धर्माश्च त्रिवृत्त्वधर्ममयीत्वादयो नाप्राकृतकार्यापन्ने परिव्याणान्तरे यूपावटवर्हिरास्तरण इव भवन्तीति प्राप्ते—

उत्पत्तिवाक्ये त्रिवृत्त्वानुवादरूपतात्पर्यग्राहकवशाल्लाघवाच्च प्रकृतापूर्वसाधनोभूतयूपपरिव्याणत्वमेवोद्देश्यतावच्छेदकं न तु विजातीययूपपरिव्याणत्वं, तथात्वे उत्पत्तिवाक्ये त्रिवृत्त्वस्याप्राप्तत्वेन विधाने गौरवापत्तेः, अत उद्देश्यतावच्छेदकरूपसत्त्वात्तत्रापि रशनातद्धर्माः । व्याख्यातृणां तु सङ्गतिलोभेन यूपतच्छेदनपरिव्याणरशनातद्धर्माणां सर्वेषामुपदेशेनैव त्रितयसाधारण्यमङ्गीकृत्य सवनीयपरिव्याणान्तरे उपदेशेनैव तत्प्राप्तिं व्याचक्षाणानामाशयं न विद्मः ॥ १० ॥

(११)—आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैस्सन्निधानात् ॥

३२ ॥ संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्नि-

मित्त्वात् ॥ ३३ ॥ निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत ॥

ग्रहधर्माणां ग्रहस्वरूपे आनर्थक्यप्रसक्तौ ग्रहयागाभ्यासापूर्वसाधनत्वमेव ग्रहपदेन लक्ष्यते दीक्षणीयावाङ्मन्यन्यायेन, न तु ज्योतिष्टोमापूर्वसाधनत्वम् । अतश्च प्रकरणोपस्थितापूर्वसाधनत्वस्यैव लक्षणान्नानारभ्याधीतांश्वदाभ्ययागाभ्यासापूर्वसाधनत्वं धर्माणामिति प्राप्ते—

प्रकरणादन्येषामिवानुष्ठानसादेश्यादनारभ्याधीतानामप्युपस्थितेर्वाक्यसङ्कोचे प्रमाणाभावादेव सर्वार्थत्वम् । अत एव प्रब-

लेन दुर्बलेन वा प्रमाणेन साधनत्वेनावगतानां सर्वेषामेष हवि-
षां वेद्यादिकमङ्गम् । वस्तुतस्तु—अंश्वदाभ्ययोरनारभ्योत्पन्नयो-
रपि प्राकरणिकेन वाक्येनैव ऋत्वङ्गतेति तुल्यत्वमेव ॥ ११ ॥

(१२)—अग्र्यङ्गमप्रकरणे तद्वत् ॥ ३५ ॥

इष्टकाधर्माणामकृष्णत्वादीनामनारभ्याधीतचित्रिण्यादीष्ट-
काविनियोगस्याप्यनारभ्याधीतत्वात्प्राकरणिकेष्टकामात्रधर्मत्वमिति
प्राप्ते—

पूर्ववदनुष्ठानसादेश्यादिष्टकाप्रयोज्यचयनापूर्वसम्बन्धित्वस्य
तत्प्रयोज्यऋत्वपूर्वसम्बन्धित्वस्यैव वा लक्षणीयस्यानारभ्याधीता-
स्वप्यविशेषाच्चात्राग्युभयधर्मत्वम् ॥ १२ ॥

(१३)—नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं
स्यात् ॥ ३६ ॥

सोमधर्मा अभिषवादयः फलचमसेऽपि समानविधानाः, सो-
मस्वरूपे आनर्थक्यप्रसक्तौ लक्षणीयस्य ज्योतिष्टोमापूर्वसाधनी-
भूतप्रदेयप्रकृतित्वस्योद्देश्यतावच्छेदकस्य यवेष्विव फलचमसेऽ-
प्यविशेषात् । न ह्यत्र सोमत्वमपि विवक्षितं, फलचमसे स्था-
नापत्याऽप्यभिषवाद्यनापत्तेः । न च नित्यानामभिषवादीनां नित्यक्र-
तुसम्बन्धे अनित्यस्य फलचमसस्य द्वारत्वानुपपत्तिः, नित्यानाम-
पि नित्यसोमवदनित्यफलचमसस्य द्वारत्वे उद्देश्यत्व एव वा
बाधकाभावात् । इष्यत एव हि “उपांशु यजुषा” इत्यादौ
नित्यानां नैमित्तिकानां च होमादीनामुपांशुत्वादिविषयता । न
चैवं नैमित्तिकस्य नित्यविनियोगोत्तरप्रतीतिकत्वेन विलम्बितप्रती-
तिकत्वादतुल्यत्वं, तथात्वे प्रमाणाभावात् । क्वचित् सत्त्वेऽपि च
संस्कारविध्युत्तरप्रवृत्तिकत्वे प्रमाणाभावेनातुल्यत्वाभावाच्च । ३.

स्तु वा तत्, तथाऽपि संस्कारविध्युद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वस्य फलचमसेऽप्यनिवारणाच्च । न च संस्कारविधावपूर्वसाधनत्वरूपसामान्यधर्मप्रकारकसोमविशेष्यकबोधाङ्गीकारान्न फलचमस-सङ्ग्रह इति वाच्यं, एवमप्युपदेशस्य सोमतात्पर्यकत्वानिवारणेन विकारभूतेऽपि फलचमसेऽप्राकृतविशेष्यकत्वप्रसङ्गादाभिषवाद्यनापत्तेः । अतश्च सर्वत्र संस्कारविधौ प्रकृत्यपूर्वसाधनत्वप्रकारकप्रकृत्यपूर्वसाधनविशेष्यक एव बोध इति तद्वत्कुर्यादित्यादिदेशेन विकृत्यपूर्वसाधने समानविधानत्वाभावेऽपि धर्मप्राप्तिरविरुद्धा । प्रकृते तु फलचमसस्य प्रकृत्यपूर्वसाधनत्वादेव यवादिवदुपदेशविषयत्वमिति प्राप्ते—

सत्यं सर्वत्र संस्कारविधौ प्रकृत्यपूर्वसम्बन्धित्वप्रकारकप्रकृत्यपूर्वसम्बन्धिविशेष्यक एव पार्यन्तिक उद्देश्यबोधः, तथाऽपि सा सम्बन्धिता यद्धर्मावच्छिन्नस्य संस्कारविधिपार्यन्तिकशब्दबोधात्पूर्वं प्रमीयते तद्धर्मावच्छिन्नस्यैव संस्कारविध्युपदेशविषयत्वेन व्यवहारो नान्यस्य, तस्य घटादेरिव तत्त्वेनाप्रतीतस्योद्देश्यत्वानुपपत्तेः । अत्र च “तप्ते पयसि दध्यानयति” इत्यादौ प्रथमं पयस्त्वावच्छिन्नोद्देशेन विधीयमानेऽपि दध्यानयने पयस्त्वावच्छिन्नस्यापूर्वसाधनत्वबोधोत्तरमेवापूर्वसाधनत्वावच्छिन्नोद्देश्यत्वस्य पार्यन्तिकत्वात् पयस एवोपदेशविधिविषयत्वं पार्यन्तिकपदोपादानान्न विरुध्यते । प्रकृते च न फलचमसत्वावच्छेदेनापूर्वसाधनता अभिषवादिविधितः पूर्वं प्रमिता, तथात्वे “स यदि सोमं विभक्षयिषेत्तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम्” इत्याद्यनुवादानुपपत्तेः । अतस्तात्पर्यग्राहकानुरोधेन सत्यप्युद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वे नोपदेशविषयत्वं, फलचमसस्येत्यसमानविधानता । अतश्च तस्यैव धर्माकाङ्क्षायां सत्यपि कर्मकत्वे

कल्पितेन स्थानापत्याख्यातिदेशेन क्रयाभिषवादीनां सोमधर्माणां प्राप्तिः । अत एव प्राकृतिकौपदेशविषयभिन्नविषयत्वादस्य संस्कारोहत्वमाचक्षते । वस्तुतस्तु—गुणकामवाक्य इवात्र भावनान्तरमेव विधीयते अनेकगुणोपादानाच्च । अतश्च तस्या एवेतिकर्तव्यताकाङ्क्षयाऽतिदेशकल्पनमित्यपि वक्तुं शक्यम् । अत एव “न्यग्रोधस्तिभिनोराहृत्य” इत्याहरणस्यैवौपदेशिकत्वान्न क्रय इति केचित् ॥

प्रयोजनं—गुणकामप्रवृत्त्यप्रवृत्ती, सोमपदवतो मन्त्रस्य लोपोहौ च ॥ १३ ॥

(१४)—प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥ ३७ ॥ तद्वत्प्रयोज-

नैकत्वात् ॥ ३८ ॥ अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥

ब्रीह्याद्यभावे नीवारादिसदृशप्रतिनिधेरपि संस्कारविधितः पूर्वं साधनत्वानवगमादसमानविधानत्वं, सकलाङ्गयुक्तब्रीहिजन्य-यागप्रयोगासम्भवे कर्मशास्त्रेण तदाक्षेपादिति प्राप्ते—

सत्यमुत्तरकालं तदाक्षेपः, तथाऽपि ब्रीहिशास्त्रार्थालोचन-वेळायामेव ब्रीहित्वजातेर्यागसाधनत्वेऽवगते तदन्यथाऽनुपप-त्या तदवच्छिन्नव्यक्तेस्तदारम्भकीभूतावयवानां च साधनत्वमा-क्षिप्यते । अतश्च जातिव्यक्त्यवयवसाधनतानां पूर्वमेवावगतानां स-र्वासामसम्भवे कतिपयग्रहणस्योत्तरकालप्रतीतिकत्वेऽपि स्वरूपेण पूर्वावगतेस्समानविधानत्वोपपत्तिः । न हि नीवारत्वेन रूपेण ते-षामुपादानं, येन तद्रूपेण साधनत्वबोधस्योत्तरकालिकत्वादसमा-नविधानत्वापत्तिः, अपि तु ब्रीह्यारम्भकावयवसमानजातीयकति-पयावयवारब्धत्वेन । अतश्च तेषां ब्रीह्यवयवनिष्ठसाधनतासम्प-त्तयर्थमवर्जनीयतयोपादानेऽप्यवयवसाधनतायास्संस्कारविधिभ्यः

पूर्वमेव प्रमितत्वात्समानविधानत्वोपपत्तिः । संस्कारविधिषु हि प्रकृतापूर्वसाधनीभूतप्रदेयप्रकृतित्वत्वावच्छिन्नप्रकृतित्वस्यैवोद्देश्य-
तावच्छेदकत्वादवयवनिष्ठसाधनताया अवयवनिष्ठसाधनताभेदेऽ-
पि न विरोधः । एवं च यत्र नावयवघटितसादृश्येन प्रतिनि-
धिस्तत्र न समानविधानत्वं, न वा कार्यापत्त्याऽपि धर्मप्राप्तिः ।
यथा अवघातप्रतिनेधितया नखनिर्लुञ्जनादेः करणे नखेषु प्रो-
क्षणादेः, यूपावटास्तरणबर्हिर्वल्लौकिकेतिकर्तव्यतोपादानेनापि चरि-
तार्थत्वात् । फलचमसे तु “तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्” इत्यादिश-
ब्दगतलिङ्गादेवातिदेशकल्पनमिति विशेषः ॥

प्रयोजनं—“ब्रीहीणां मेघ” इति मन्त्रस्य पूर्वपक्षे लोपः ।
सिद्धान्तेऽनूहः । मन्त्रान्तर्गतब्रीह्यादिपदानां ब्रीहिवत्साधनताक्षिप्त-
साधनताकानामित्यर्थेनावयवेष्वपि प्रयोगोपपत्तेः ॥ १४ ॥

(१५)—नियमार्था गुणश्रुतिः ॥ ४० ॥

यत्र तु पूतीकादौ तत्त्वेन अभावेविधिः, तत्र सकलाङ्गयुक्त-
सोमजन्ययागप्रयोगासम्भवे पश्चादेव तत्प्रवृत्तेः न समानविधा-
नत्वम् । न ह्यत्र पूतीकगतावयवानां प्रतिनिधिनियमः । तेषां म-
न्दसदृशत्वेन पक्षेऽप्यप्राप्तेः, पूतीकपदेऽवयवलक्षणाप्रसङ्गाच्च । न
च नियमविधिलाघवानुरोधेन तदङ्गीकारः, तस्य फलमुखत्वेन
निषेधस्थपत्यधिकरणन्यायेनाकिञ्चित्करत्वादिति प्राप्ते—

पूतीकपदार्थस्य हि पूतीकत्वस्य नात्र करणत्वं श्रुतं, द्विती-
यान्तत्वात् । अतश्च नियमविधिलाघवानुरोधेन तया न पूती-
कत्वस्य साक्षाद्यागसाधनत्वं लक्ष्यते, अपित्ववयवनिष्ठसाधनताना-
न्तरीयकप्रयोजकत्वमेवेति न पूतीकपदेऽवयवलक्षणा, सदृशनि-
यामकन्यापप्रवृत्तौः पूर्वमेव चास्य विधेः प्रवृत्तेर्नियमविधित्वोप-

पत्तिः । अतश्चात्रापि कतिपयावयवसाधनत्वस्य सोमशास्त्रादेव सिद्धेस्समानविधानत्वम् ॥ १५ ॥

(१६)—संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणावि-
शेषात् ॥ ४१ ॥ व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥ ४२ ॥
विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वा-
त् ॥ ४३ ॥ अपि वा द्विरुक्तत्वात्प्रकृतेर्भ-
विष्यन्तीति ॥ ४४ ॥ वचनान्तु समुच्चयः ॥
४५ ॥ प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गनाम् ॥ ४६ ॥
गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥ ४७ ॥

ज्योतिष्टोमे चतस्रस्संस्थाः अग्निष्टोमोऽथ्यषोडश्यतिरात्रसं-
ज्ञकाः । संस्था नाम क्रतुप्रयोगवृत्तिस्तोत्रोपरमः । तत्र द्वादश-
स्तोत्राण्यग्निष्टोमे, तत्राग्निष्टोमस्तोत्रमन्यम् । साऽग्निष्टोमसंस्था नि-
त्या काम्या च, संयोगपृथक्त्वात् दध्यादिवत् । उक्थ्येऽग्निष्टो-
मस्तोत्रोत्तरं त्रीण्यन्यान्युक्थ्यस्तोत्राणि, सा उक्थ्यसंस्था । षो-
डशिनि तदुत्तरं षोडशिस्तोत्रं, सा षोडशिसंस्था । अतिरात्रे
तदुत्तरं द्वादशस्तोत्रात्मकास्त्रयो रात्रिपर्यायाः आश्विनस्तोत्रं च,
सा अतिरात्रसंस्था । यास्तु अत्यग्निष्टोमवाजपेयाप्तोर्यामाख्याः
अन्यास्तिस्त्रस्मृतौ गण्यन्ते, ता एतास्वेवान्तर्भूताः । यत्राग्नि-
ष्टोमस्तोत्रोत्तरमुक्थ्यान्यकृत्वा षोडाशस्तोत्रं क्रियते, सा अग्नि-
ष्टोमसंस्थैवात्यग्निष्टोमपदवाच्या । यथाऽवस्थितषोडश्युत्तरं यत्र
वाजपेयस्तोत्रं क्रियते, सा षोडशिसंस्थैव वाजपेयपदवाच्या ।
यत्रातिरात्रे चतुर्थी रात्रिपर्यायस्तोत्रत्रयात्मको वर्धते, तत्रा-
तिरात्रसंस्थैवाप्तोर्यामपदवाच्या । तत्रात्यग्निष्टोमो राजन्यस्य नि-

त्यः “ ज्योतिष्टोमे राजन्यस्य गृहीयात् ” इति वचनात् । अन्यास्तूक्थ्यादयः काम्याः “ पशुकाम उक्थ्यं गृहीयात् ” “ षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत ” “ अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत् ” इति वचनेभ्यः । अत्राग्निष्टोमादिशब्दानां प्रचुरप्रयोगात् संस्थास्वेव शक्तिः, तद्वति ज्योतिष्टोमे निरूढलक्षणा, तद्वति क्रत्वन्तरे साम्प्रतिकी, ग्रहणे स्तोत्रे च गौणी इत्येवं कौस्तुभे द्रष्टव्यम् । अतश्च संस्थानामेव फलसम्बन्धः । ग्रहणस्तोत्रादिकं तु तत्तद्वाक्ये वाक्यान्तरप्राप्तमनूद्यते । संस्थापदार्थवृत्तिप्रयोगस्य प्रतिसम्बन्धपेक्षायां च प्रकरणाज्ज्योतिष्टोमक्रतुरेवाश्रयत्वेनान्वीयते । तदेतत्सर्वमिन्द्रियकामाधिकरणे^१ स्थितमेव ।

इह तु सर्वगुणकामानामाश्रयसामानविध्यचिन्तायां—फलवत्त्वेन संस्थादीनामपि ज्योतिष्टोमादिवत् प्रकरणाविशेषात् दीक्षणीयादिधर्माणामुभयार्थत्वमिति प्राप्ते—

फलवत्त्वज्ञानं विना धर्माणामङ्गत्वबोधानुपपत्तेः, तस्य च गुणस्थले आश्रयसम्बन्धव्यतिरेकेणाबुद्ध्यमानत्वादाश्रयस्य च स्वविधिविहितस्य लाभसम्भवे गुणेनोत्पत्तिविनियोगप्रयोगाणामनाक्षेपाद्धर्माणां गुणान्वयात्पूर्वमेवाश्रयान्वयस्य तद्विधिपर्यवसानार्थमवश्यं वाच्यत्वेन विरम्यव्यापारत्वापत्तेर्नोभयार्थत्वम् । न ह्येवमाश्रयनिष्ठफलवत्त्वज्ञानं गुणान्वयाधीनं, तद्वोधव्यतिरेकेणापि यागस्य क्रियारूपस्य फलवत्त्वबोधोपपत्तेः । गुणे तु फलवत्त्वज्ञापकविधिवैयर्थ्यापस्यैव कृतिसाध्याश्रयान्वयस्य धर्मान्वयात्पूर्वमवश्यं वाच्यत्वम् । अत एवाश्रयो गुणनिष्ठकरणतासम्पादको गुणकरणतावच्छेदककोटिप्रविष्टो वेति, करणाकाङ्क्षैव वितता आश्रयाकाङ्क्षेति मूलप्रवादः । अतो धर्माणामाश्रयाङ्गत्वमेव । गुणभावनायां तु आश्रयतो धर्मातिदेश इति सिद्धम् ॥

प्रयोजनं यद्यपि न गुणकामप्राप्तिरूपं सम्भावि, संस्थानां विकृतित्वेऽपि तदाश्रयभूतस्य ज्योतिष्टोमस्य प्रकृतिभूतस्य सत्त्वे-
नैव सदोमानाद्याश्रितगुणकामानां, षोडश्याद्यभ्यासाङ्गभूतग्रहणा-
द्याश्रितानां वा गुणकामानां प्राप्त्युपपत्तेः । नाप्युद्भिदादीनां वै-
कल्पिकसंस्थाप्रकृतिकत्वरूपं, यागसादृश्याधिक्येन ज्योतिष्टोमप्रकृ-
तिकत्वस्यैवौपत्तेः, तथाऽपि यत्र “अथैष भूर्वैश्वदेवः” इत्यादौ
न यागत्वपरिचायकपदश्रवणं, तत्र वैकल्पिकसंस्थाप्रकृतिकत्वं पू-
र्वपक्षे । सिद्धान्ते ज्योतिष्टोमप्रकृतिकत्वमेवेति द्रष्टव्यम् । संस्थाऽङ्ग-
भूतधर्मश्रेष्ठे याजुर्वेदिकादिप्रायश्चित्तं पूर्वपक्षे । सिद्धान्ते त्वविज्ञा-
तमपि । तथा “यज्ञस्याशी रुद्रमशीय” इत्यादियज्ञपदोपेतमन्त्रेऽ-
विकृतप्रयोगः पूर्वपक्षे, संस्थायामस्य लोपात् । सिद्धान्ते यज्ञ-
स्य संस्थायाश्चाशीरित्येवमूहितव्यम् ॥ १६ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

तृतीयस्याध्यायस्य षष्ठः पादः.

—♦—

अथ तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः.

(१)—प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥ १ ॥

सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥ २ ॥

आरादपीति चेत् ॥ ३ ॥ न तद्वाक्यं हि

तदर्थत्वात् ॥ ४ ॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५ ॥

दर्शपूर्णमासयोर्वेदिबर्हिणी तद्धर्माश्च खननलवनादयः किं
अङ्गप्रधानसाधारणहविरासादनार्थाः, उत प्रधानाङ्गभूतहविरासा-

दनमात्रार्था इति चिन्तायां—“वेद्यां हवींष्यासादयति” “व-
हिंषि हवींष्यासादयति” इति वचनेन वेदिवर्हिंसादनस्य हवि-
रुद्देशेन विधानादर्थोक्तयोरपि हविरर्थत्वप्रतीतिः हविस्स्वरूपे चा-
नर्थक्यप्रसक्तावपूर्वसाधनत्वलक्षणातात्पर्यग्राहकजिज्ञासायामप्रतिब-
द्धफलवत्प्रधानाधिकाराख्यप्रकरणस्यैव तात्पर्यग्राहकत्वावसाया-
त्तेन चाङ्गत्वसम्बन्धस्यैव शाब्दस्य लक्षणाघटकतयाऽऽश्रयणात्
प्रधानापूर्वाङ्गभूतहविरर्थत्वमेवेति प्राप्ते—

प्रकरणेन वाक्यसङ्कोचे प्रमाणाभावादानर्थक्यपरिहारार्थं य-
था प्रधानप्रकरणेन तात्पर्यग्रहः, तथा दुर्बलेनाप्यङ्गाधिकाराख्य-
तत्प्रकरणेनापि । अत एवानारभ्याधीताङ्गानुष्ठानसादेश्यस्यापि
तात्पर्यग्राहकत्वमुक्तम् । तेन सर्वार्था एवैते । अस्तु वा प्रधा-
नप्रकरणेन तत् । तथाऽपि नाङ्गत्वं सम्बन्धघटकं, गौरवात्,
अपि तु उपकारकत्वमात्रमभ्युदितेष्ट्यां दधिपयसोरिव । सम्बन्ध-
मात्रं वा स्वर्गादिवत् “अगन्म” इत्यत्र । अतश्च प्रधानापूर्वोपकार-
कहविरर्थत्वमात्रावगतेरङ्गतदङ्गहविषामप्यनारभ्याधीतानां प्राकर-
णिकानां वा प्रधानोपकारकत्वाविशेषात् सर्वार्थत्वम् ॥ १ ॥

(२)—फलसंयोगात् स्वामियुक्तं प्रधानस्य ॥६॥

दर्शपूर्णमासयोः ज्योतिष्टोमादौ च केशश्मश्रुवपनादयस्ता-
वत् क्रतुयुक्तपुरुषसंस्कारार्थाः, न त्वारादुपकारकाः “केशश्मश्रु
वपते” “नखानि निकृन्तते” “दतो धावते” “आङ्गे” “अभ्य-
ङ्गे” इत्यादावात्मनैपदनिर्देशेन पुरुषार्थत्वावगमात् । क्रियाफल-
स्य ह्यात्मगामित्वे अत्मनैपदम् । आरादुपकारकत्वे तु तत्फलस्य
क्रतुसाद्रूप्यस्य क्रतुगतत्वेन नात्मगामित्वम् । यत्त्ववान्तरादृष्टं,
न तत्क्रियाफलम् । यद्यपि कृतीअङ्गधातुः परस्मैपण्येव, तथाऽपि

छन्दस्यात्मनेपददर्शनात्, तस्यापि च सार्थकत्वे सम्भवति सा-
धुत्वार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् 'स्वरित' इत्यादिविधेरेवानित्यत्वं प-
रिकल्प्य आत्मगामिक्रियाफलकत्वाङ्गीकारो न दोषाय । एवं
“दतो धावते” इत्यादौ दन्तानां द्वितीयया संस्कार्यत्वावगमः ।
“पयोव्रतं ब्राह्मणस्य” इत्यादौ षष्ठ्या । स्नानस्य तु मला-
पकर्षणार्थत्वलिङ्गात् । एवं तपसोऽपि वक्ष्यते । अन्ततो यत्र न
किञ्चिद्रमकं, तत्र दीक्षासमाख्यैव तथा, यमादिपरिग्रहानुकूल-
पुरुषसंस्कारवाचित्वात् । पुरुषस्य च क्रतूपयोगित्वं कर्तृतया, क्र-
तुजन्यफलभोक्तृतया वा ।

तदिह संस्काराः किं कर्तृत्वांशोपयोगिनः, उत भोक्तृत्वां-
शोपयोगिनः इति चिन्तायां भोक्तृत्वार्थत्वे समप्राधान्यापत्तेः
प्रकरणावगतक्रतुसम्बन्धबाधापत्तिः । अतः कर्तृत्वार्थाः । दन्त-
धावनादीनां शरीरसंस्कारार्थत्वात्तस्य च परलोकभोग्यफलभोक्तृ-
त्वेऽनुपयोगादपि तथात्वम् । अतश्च कर्तुरङ्गप्रधानार्थत्वात्संस्का-
राणामपि तथात्वमिति प्राप्ते—

कर्तृत्वस्य शरीरादिवदेव संस्कारव्यतिरेकेणापि जायमान-
त्वाद्वैयर्थ्याददृष्टरूपभोक्तृत्वार्थत्वमेव युक्तम् । भोक्तृत्वस्य कर्तृ-
त्वार्थत्वाऽऽभ्यहितत्वाच्चैवम् । शरीरादीनामपि स्वावच्छेद्यजीव-
व्यक्तिगतत्वसम्बन्धेन भोक्तृत्वोपयोगित्वमव्याहतम् । न चैवं प्रा-
धान्यापत्तिः, क्षेत्रसंस्काराणां बीजावपनार्थत्वस्यैवात्मसंस्काराणा-
मपि क्रतुजन्यफलाधानयोग्यताजननार्थानां क्रत्वङ्गत्वोपपत्तेः । अत-
एव सर्वैरेव संस्कारैस्स्वस्वावान्तरादृष्टद्वारा समुच्चित्य स्तौ जन्यते ।
प्रधानफलमेव वाऽऽत्मन्युत्पद्यते इति तदर्थं एव संस्काराः, ना-
ङ्गार्थाः, तत्फलस्य क्रतुगामित्वात् । यत्र तु दृष्टविधया वचना-
देव वा कर्तृत्वोपयोगित्वं यथा प्राथमिकशुद्ध्यर्थस्नानाचमनादौ, “हि-

रण्यमालिनः प्रचरन्ति” इत्यादौ च, बहुवचनात्तत्र कर्तृत्व एवो-
पयोगादङ्गप्रधानार्थत्वम् । अत एव तादृशस्थलेऽङ्गविकृतिषु त-
स्यातिदेशः ॥ २ ॥

(३)—चिकीर्षया च संयोगात् ॥ ७ ॥

सोमे षट्त्रिंशत्प्रक्रमादिपरिमाणं वेदिं विधाय श्रुत्वा
“इयति शक्ष्यामहेऽस्यां कर्तुं” इति । सा वेदिर्यद्यपि देशत्वा-
दङ्गप्रधानार्थतया प्रसज्यते, तथाऽपि दीक्षादक्षिणन्यायेनोक्तवच-
नात्प्रधानमात्रार्था । ‘कर्तुं’ इति हि तुमुना इच्छार्थकेन चिकी-
र्षितार्थत्वप्रतीतिः, प्रधानस्यैव चिकीर्षितत्वात्, अङ्गानां चाचि-
कीर्षितानामपि चिकीर्षितप्रधानार्थत्वेनैवानुष्ठानात् प्रधानमात्रा-
र्थैव वेदिः ॥ ३ ॥

स्थितं तावदपर्यवसितं—

(४)—तथाऽभिधानेन ॥ ८ ॥ तद्युक्ते तु फल-
श्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥ ९ ॥
गुणाभिधानात्सर्वार्थमभिधानम् ॥ १० ॥

दर्शपूर्णमासयोः “चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत् पञ्चहो-
त्राऽमावास्यां” इति श्रुतम् । तत्राप्येतौ मन्त्रौ पौर्णमास्यमावा-
स्यापदवाच्यप्रधानमात्रसंयोगात्तद्विराभिमर्शनार्थावेव । न ह्यत्र
पौर्णमास्यादिशब्दौ कालपरौ, तथात्वे द्वितीयया सप्तम्यर्थलक्ष-
णपक्षेः, “आसन्नानि हवींष्यभिमृशति” इति प्राप्ताभिमर्शना-
नुवादेन मन्त्रकालोभयविधौ वाक्यभेदापत्तेश्च । काले निमित्ते
अभिमर्शनोद्देशेन मन्त्रविधौ प्रतिपदादिकालीनाभिमर्शने मन्त्राना-

१ एकान्तारितोत्तराधिकरणेऽयं न्यायो द्रष्टव्यः ।

पक्षेऽपि । पौर्णमास्यामावास्यापदाभ्यां पौर्णमास्यादिप्रयोगस्याधि-
करणत्वविधौ चोभयत्र प्रातिपदिके प्रत्यये च लक्षणाप्रसङ्गो वा-
क्यभेदश्च तदवस्थ एव । प्रयोगस्य निमित्तत्वाङ्गीकारे च ल-
क्षणाद्वयप्रसङ्गो विकृतावप्राप्त्यापत्तिश्च । अतो लाघवात्प्रातिप-
दिकेनैव पौर्णमास्यादिप्रधानमात्रसम्बन्धिहविलक्षणात्तदुद्देशेनैव
मन्त्रविशिष्टमभिमर्शनं धिनियुज्यते, मन्त्रमात्रं वा तदुद्देशेन वि-
धीयते, अभिमर्शनं तु प्रकरणप्राप्त्यानुवादः । उत्पत्तिवाक्ये च
हविश्शब्देन प्रधानमात्रहविरूपादानं उपसंहारविधया न वि-
रुध्यते, अतः प्रधानमात्रार्थौ मन्त्रौ ॥

स्थितादुत्तरं—यद्यपि चिकीर्षितार्था वेदिः, तथाऽपि साङ्ग-
स्यैव फलसामग्रीत्वेन चिकीर्षितत्वाद्ङ्गप्रधानार्थैव सा । वस्तु-
तस्तु—देशत्वात्तस्याः प्रकरणादेवाङ्गप्रधानार्थत्वासिद्धेरर्थवाद ए-
वायं 'इयति शक्ष्यामहे' इति । अत एव 'शक्ष्यामहे' इति
वचनात् कर्तृप्रचारमात्रार्थत्वमङ्गीकृत्याङ्गप्रधानार्थत्वमप्यपास्तम् ।
अतस्सर्वार्थाया वेदेः अग्नीषोमीयादौ प्राकृतहविरासादना-
र्थवेदिबाधकत्वं, तद्विकृतौ चातिदेशस्सिद्धो भवति । यत्तु द्वा-
दशे प्राकृतवेदेः प्रसङ्ग इति वक्ष्यते, तत् कर्तृप्रचारमात्रार्थत्वं
कृत्वाचिन्तया ॥

द्वितीयस्योत्तरं—सत्यं पौर्णमास्यादिशब्दाभ्यां प्रधानसम्ब-
न्धिहविलक्षणा, तथाऽपि सम्बन्धो नाङ्गत्वाख्यः, तथात्वे वाक्य-
सङ्कोचापत्तेः, अपि तु उपकारकत्वाख्य इत्यङ्गप्रधानार्थावेव मन्त्रौ ॥ ४

(५)—दीक्षादक्षिणं तु वचनात् प्रधानस्य ॥

११ ॥ निवृत्तिदर्शनाच्च ॥ १२ ॥

ज्योतिष्टोमे दीक्षा “दण्डेन यजमानं दीक्षयति” इत्यादिका, दक्षिणा च “गौश्चाश्वश्च” इत्यादिका, श्रुता । सा अङ्गप्रधानार्था । दीक्षायास्तावत् द्वितीयया पुरुषसंस्कारिकाया वपनाधिकरणन्यायेन^१ फलिसंस्कारकत्वप्रसक्तावपि “यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते” “दीक्षितस्सौमं क्रीणाति” इत्यादौ दीक्षितग्रहणात् “निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति” इत्यादिवद्विशेषणीभूतदीक्षाया अपि कर्तृसंस्कारद्वारा अग्नीषोमीयाद्यर्थत्वप्रतीतेः, तस्य च स्वतन्त्रविध्युन्नायकत्वे गौरवादनुवादविधया “दण्डेन दीक्षयति” इत्यादौ “हिरण्यमालिनः” इति बहुवचनवत् कर्तृसंस्कारकतातात्पर्यग्राहकत्वावगतेः कर्तुरङ्गप्रधानार्थत्वेन दीक्षाया अप्यङ्गप्रधानार्थत्वम् । दक्षिणायास्तु कर्त्रानमनद्वाराऽङ्गप्रधानार्थत्वं स्फुटमेव । एवं च “दीक्षाऽसोमस्य,” “दक्षिणा सोमस्य” इति वचनद्वयं साक्षात्परम्परासाधारणसम्बन्धसामान्यमादायानुवादः, इतरथा परिसङ्ख्यापत्तेरिति प्राप्ते—

वचनानर्थक्यमिया प्रधानमात्रार्थत्वम् । फलतः परिसङ्ख्यात्वाच्च न त्रैदोष्यापत्तिः । न च वचनस्य प्रधानप्रयुक्तत्वमात्रपरत्वेनाप्युपपत्तेरङ्गाङ्गत्वनिवृत्तिपरत्वे मानाभावः, प्रसङ्गासिद्धकृतिकारकत्वादेर्निराकर्तुमशक्यतया वचनस्याङ्गोद्देश्यतामात्रनिवृत्तिफलकत्वावसायात् । तस्याश्च प्रयुक्तत्व इवाङ्गत्वेऽपि प्रविष्टत्वेनोभयनिवृत्त्युपपत्तेः । प्रयुक्तत्वनिवृत्तौ अङ्गत्वाङ्गीकारे फलाभावाच्च । न च दक्षिणावाक्ये परिसङ्ख्यार्थत्वोपपत्तावपि ‘दण्डेन’ इत्यादिवाक्येन दीक्षायाः प्रसक्तस्य प्रधानमात्रार्थत्वस्य “यो दीक्षितः” इत्यादिवाक्येन दीक्षायास्तत्तदङ्गाङ्गताविधायकेन बाधितस्य प्रतिप्रसवार्थता “दीक्षा सोमस्य” इति वाक्यस्यास्तिवाति वाच्यं, गौरवेणाग्नीषोमीयादिवाक्यस्य दीक्षाविधायकत्वानुपपत्तेः ।

अतोऽनुवादविधयैव तद्बाधकत्वाद्युक्तमेव परिसङ्ख्यात्वम् । वस्तु-
तस्तु—गौरवभियैवानुवादविधयाऽपि न बाधकत्वं, अपितु प्र-
धानाङ्गभूतदीक्षायुक्तपुरुषानुवाद एव “य एवं विद्वान्” इति-
वत् दीक्षितपदम् । अतश्च दीक्षावाक्यस्यानुवादकत्वमेव दाक्षि-
णाप्रशंसाफलकम् । अतः प्रधानमात्रार्थमेव दीक्षादक्षिणम् । त-
थाऽपि तु नाङ्गेषु प्राकृती अन्या वा दक्षिणा, प्रसङ्गेन कार्यसिद्धे-
र्द्वादशे^१ वक्ष्यमाणत्वात् ॥

प्रयोजनं—अग्नीषोमीयादिविकारेषु दीक्षादक्षिणयोरनतिदेशः
सिद्धान्ते । ततश्च तेष्वपेक्षितत्वात् शतोकथ्यादिवत् प्रकृतिप्र-
कृतितोऽन्वाहार्यदक्षिणायास्स्वतन्त्रातिदेशः, अर्थाक्षिप्तं यत्किञ्चि-
दानतिसाधनद्रव्यं वा दक्षिणेत्यपि तत्रैव वक्ष्यते ॥ ५ ॥

(६)—तथा यूपस्य वेदिः ॥ १३ ॥ देशमात्रं
वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात् ॥ १४ ॥

दर्शपूर्णमासयोः “होतुरन्तर्वेद्येकः पादो भवति बहिर्वेद्ये-
कः” इति श्रुतम् । तथा सोमे अग्नीषोमीययूपमानं प्रकृत्य “अ-
र्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्धं बहिर्वेदे” इति तन्त्रान्तर्वेदिदेश एव तत्त-
दङ्गत्वेन विधीयते उत अन्तर्वेदिबहिर्वेदिशब्दलक्षितदेशविशेषो
वा इति चिन्तायां—लक्षणायां प्रमाणाभावात् अन्तर्वेदिदेश एवै-
कपादोद्देशेन यूपार्धोद्देशेन च विधीयते, तद्विधौ पादार्धान्तर-
योर्बहिर्वेदिदेशः प्राप्त एवानूद्यत इति प्राप्ते—

आद्योदाहरणे तावद्धविरासादनार्थाया दार्शिक्या वेदेरेकपा-
दोद्देशेन विधौ एकत्वस्योद्देश्यविशेषणस्याविवक्षापत्तेः “बहि-
र्वेद्येकः” इत्यस्यानुवादायोगाद्विधाने वाक्यभेदापत्तेरगत्या देश-
विशेष एव लक्षणया हौत्रस्थानोद्देशेन विधीयते । न च देश-

विशेषलक्षणापेक्षया लाघवादन्तर्वेदित्वविशिष्टबहिर्वेदित्वमेव लक्षणया विधीयतामिति वाच्यं, विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहात् ।

द्वितीयोदाहरणेऽपि सौमिक्याः वेदेर्देशत्वेनाङ्गप्रधानार्थत्वस्य स्थापितत्वात्, यूपार्थद्वयेऽपि वेदेः प्राप्तत्वादर्थोद्देशेन तद्विधाने परिसङ्ख्यापत्तिः । न चाग्नीषोमीयादिरूपाङ्गाङ्गत्वेऽपि वेदेस्तदङ्गभूतयूपमानाङ्गत्वे प्रमाणाभावः, प्रयोगविधिना साङ्गानामेवाङ्गानां प्रयोगविधानात् । अन्यथा तदङ्गप्रयाजपशुपुरोडाशादिहविरासानादौ वेद्यादेरनापत्तेः । न च वाक्येन वेदेर्यूपार्थाङ्गत्वेन विधानात् प्रकरणगम्यसर्वार्थत्वस्य बाधोपपत्तेः परिसङ्ख्यात्वानापत्तिः, षट्त्रिंशत्प्रक्रमपरिमाणार्थवादस्य “इयति शक्यामहे” इत्यस्यार्थमात्रार्थत्वेऽनुपपद्यमानत्वेन सर्वार्थत्वबाधानुपपत्तेः । न चैवमपि फलतः परिसङ्ख्यात्वात्त्रैदोष्यानापत्तिः, प्रापकप्रमाणप्रतिबन्धाभावेन शाब्दपरिसङ्ख्यात्वापत्त्या त्रैदोष्यावश्यकत्वात् । अतो वरं देशविशेषलक्षणैवैका । न चार्थोद्देशेन बहिर्वेदिमात्रविधानादर्थान्तरे च अन्तर्वेदेरेव प्राप्तत्वेनानुवादोपपत्तेर्न लक्षणाऽपीति वाच्यं, अनुवादवैयर्थ्याभियैव लक्षणाङ्गीकारात्, तथाऽप्यन्तर्वेदिपद एव लक्षणाङ्गीकारे बहिर्वेदेरपि विधेयत्वेन वाक्यभेदोपपत्तेः । “अर्धमन्तर्वेदि अर्धं बहिर्वेदि” इति पदैर्लक्षितदेशविशिष्टमानस्यैव यूपोद्देशेन विधानम् । तत्प्रयोजनं तु यूपैकादशिन्यां वेदेरविवृद्धिः । वस्तुतस्तु—देशविशेषलक्षणायामपि सामान्यतस्साङ्गे विहिताया वेदेरविरोधेनार्थप्राप्त्युपपत्तेः यूपैकादशिन्यामपि तदर्थं वेदिविवृद्धिरावश्यकी, अत एव “यावद्यूपं वेदिमुद्धन्ति” इति कल्पसूत्रकारवचनमपि सङ्गच्छते । अतोऽन्यत्प्रयोजनं मृग्यम् । देशविशेषलक्षणैव वा नाङ्गीकर्तव्येति ध्येयम् ॥ ६ ॥

(७)—सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्धानयोर्व-
चनात्सामिधेनीनाम् ॥ १५ ॥ देशमात्रं
वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ॥ १६ ॥ स-
माख्यानं तु तद्वत् ॥ १७ ॥

सोमे “उत यत्सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः” इति श्रुतम् ।
यत् यत्र दक्षिणहविर्धानेऽभिषवः तत्राग्नीषोमीयादिसामिधेनीरनु-
ब्रूयादित्यर्थः । तत्र हविर्धानशकटः सामिधेन्यङ्गं उत तल्लक्षि-
तो देशविशेष इति चिन्तायां—पूर्ववत् परिसङ्ख्यावाक्यभेदाद्य-
भावात् लक्षणापरिहाराय सोमधारणेन कृतार्थस्यापि हविर्धान-
स्यैव पुरोडाशकपालन्यायेन^१ सामिधेन्यङ्गत्वमिति प्राप्ते—

हविर्धानस्यात्यन्ताप्राप्तस्य सामिधेन्यङ्गत्वेन विधावपूर्ववि-
धित्वापत्तेः, प्रकृतितः आहवनीयप्रत्यग्देशस्यातिदेशप्राप्तस्यानियमेन
दक्षिणोत्तरहविर्धानसमीपवर्तितया प्राप्तेर्दक्षिणहविर्धानलक्षितदेश-
स्य नियमविधौ लाघवमिति तदनुरोधेन लक्षणाऽपि न दोषः ।
वस्तुतस्तु—लाघवस्य प्रमाणानुग्राहकत्वात् निषादस्थपत्यधिक-
रणन्यायेन^२ औत्तरकालिकत्वाच्च तदनुरोधेन लक्षणाऽनुपपत्तेः, यत्
यत्र देशे सुन्वन्ति अभिषुण्वन्ति तत् तस्मिन् अभिषवदेशे सा-
मिधेनीरनुब्रूयादित्यर्थावगमेन हविर्धानस्याप्रतीतेः अभिषवदेश-
स्यैव श्रौतत्वेन विधेयत्वात् न लक्षणाऽपि ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे हविर्धानोपरि सामिधेनीपाठः । सिद्धान्ते
अभिषवदेशे दक्षिणहविर्धानसमीपे ॥ ७ ॥

(८)—शास्त्रफलं प्रयोक्तारि तल्लक्षणत्वात्, त-
स्मात्स्वयंप्रयोगे स्यात् ॥ १८ ॥ उत्सर्गे तु

प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः
स्वयं वा स्यात् ॥ १९ ॥ अन्यो वा स्यात्प-
रिक्रयान्नानाद्विप्रतिषेधात्प्रत्यगात्मनि ॥ २० ॥

तदेवं पूर्वैस्सह प्रकरणस्थानयोर्विरोधाविरोधविचारे समाप्ते
अधुना समाख्यायास्तं कर्तुं प्रथमं तावत् स्वाम्यतिरिक्तकर्तृस-
द्भावः प्रतिपाद्यते । अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिषु दक्षि-
णायुक्तेषु कर्मसु यद्यपि तावत् “स्वर्गकामो यजेत” इति सा-
मानाधिकरण्यात् साक्षाद्या अपि यागादिकरणिकाया भावनाया-
स्स्वर्गकामकर्तृकत्वं प्रतीयते, तथाऽपि कर्तृत्वस्य “स्वतन्त्रः कर्ता”
“तत्प्रयोजको हेतुश्च” इति सूत्रद्वयानुरोधात्, “षड्भिर्हलैः कर्षति”
इति प्रयोगाच्च साक्षात्प्रयोजकसाधारण्येनैवावगतेरसति प्रमाणा-
न्तरे प्रयोजककर्तृत्वायोगेऽपि प्रकृते दक्षिणाम्नानादिना प्रयोजककर्तृ-
त्वस्याप्यवगतेस्स्वाम्यतिरिक्तस्यापि कर्तृत्वम् । कर्मकरणतिसाधन-
वचनो हि दक्षिणाशब्दो नासत्सु कर्मन्तरेषूपपद्यते । न ह्यत्रास्ति कि-
ञ्चिद्वलवद्वाधकम् । येन “यदि पत्नीस्संयाजयन् कपालमभिजुहु-
यात् वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् तस्यैकहायनो गौर्दक्षिणा तं स
द्वेष्ट्याय दद्यात्” इत्यत्र द्वेष्ट्यस्य ऋत्विक्प्रतिषेधादेवाहृष्टार्थत्वं
दक्षिणायाः कल्प्येत । सामानाधिकरण्यस्य प्रयोजककर्तृत्वेनाप्युप-
पत्तेः । आत्मनेपदस्यापि साक्षात्प्रयोजकसाधारण्येनाप्यकर्तरि फ-
लप्रतिषेधकत्वेनैवोपपत्तौ न फल्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वप्रतिषेधक-
त्वम् । अत एव “यजन्ति याजकाः” इति परस्मैपदप्रयोगः ।
तेन कस्यापि बाधकस्याभावान्न दक्षिणादानस्याहृष्टार्थत्वकल्पना,
अतस्तद्वलात् “दर्शपूर्णमासयोश्चत्वार ऋत्विजः” इति वचना-
द्धौत्रादिसमाख्यावरणाद्यान्मानबलाच्च स्वाम्यतिरिक्ता अपि कर्ता-
रः । न च स्वांमिनोऽशक्तौ दक्षिणादिनाऽन्योपादानं, दक्षिणादेर्नि-

त्यवदान्नानविरोधात् । अतः परकीयस्वत्वस्य परेणोत्सृष्टमशक्य-
त्वादुत्सर्गमात्रं स्वामिना कार्यम् । अन्यत्तु विशेषतः प्रमाणा-
भावेऽन्येनैवेति सिद्धम् ॥ ८ ॥

(९)—तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽवि-
शेषात् ॥ २१ ॥ अपि वा श्रुतिभेदात्प्रति-
नामधेयं स्युः ॥ २२ ॥ एकस्य कर्मभेदा-
दिति चेत् ॥ २३ ॥ नोत्पत्तौ हि ॥ २४ ॥

ते कियन्त इत्यपेक्षायां तत्तत्कर्मण्यध्वर्यवादिसंज्ञापुरस्कारे-
ण तत्तत्कर्मविधानात् यावतां यत्र विधानं तावन्त एव तत्र
ज्ञेयाः । अतश्चाग्निहोत्रे एक एवाध्वर्युः, दर्शपूर्णमासयोश्चत्वारः,
चातुर्मास्येषु पञ्च, पशौ षट्, सोमे षड्विंशतिः । न च परि-
क्रयवशादेकोपादानावश्यभावे तस्यैव पाचकलावकादिवत्तत्तत्कर्म-
करणनिमित्तास्तावत्यसंज्ञा भविष्यन्तीति वाच्यं, संज्ञानां कर्मक-
रणात्पूर्वमेव “अध्वर्युं वृणीते” इत्यादिना प्रयुक्तत्वेन कर्मकर-
णनिमित्तत्वाभावात्, अपि तु तत्तद्वरणाननिमित्तकत्वं तत्तद्वरणज-
न्यतत्तदानतिनिमित्तकत्वं वा उक्तविधानतिजन्याध्यवसायविशे-
षनिमित्तकत्वं वा, कृतेऽपि वरणे अहमध्वर्युस्स्यां इत्यध्यव-
सायाभावेऽध्वर्युशब्दाप्रयोगात् । वस्तुतस्तु अध्यवसायस्यापि नि-
श्चयरूपस्य क्षणिकत्वात्तज्जन्याभिमानविशेष एव निमित्तं, तस्य
च सत्रे स्वत एवानतत्त्वेन वरणाभावेऽपि इच्छात एव सत्त्वा-
दध्वर्युत्वाद्युपपत्तिः । प्रकृतावपि “होता अवृतस्सामिधेनीरन्वा-
ह” इति वरणात्पूर्वं होतृशब्दप्रयोगोपपत्तिः । अत एव वर-
णजन्यादृष्टवत्त्वमध्वर्युत्वादिकमिति प्राभाकरमतमपास्तम् । सत्रेऽ-

पि ऋतुयाज्यावरणवत् वरणापत्तेश्च । न चैवमप्येकस्यैव तत्तद-
भिमानोपपत्तेः कर्तृभेदे प्रमाणाभावः “अध्वर्युं वृणीते” “ब्रह्माणं
वृणीते” इति तत्तद्विधिविहितवरणानामभ्यासेन भिन्नानां स्-
स्कार्यभेदं विनाऽनुपपत्तेः । अप्रवृत्तस्य पुरुषस्य प्रवर्तनफल-
कमभ्यर्थनं हि वरणं, न च तदेकास्मिन् पुरुषेऽनेकं सम्भवति ।
भिन्नानां च संस्कार्याणां तत्तत्क्रियासु भिन्नास्वेव विनियोगाच्च
विकल्पाशङ्का । “दर्शपूर्णमासयोश्चत्वार ऋत्विजः” इत्याद्यनुवाद-
बलादप्येवम् । एवं च “ऋत्विजो वृणीते” इत्ययमपि न वरण-
विधिः । तथात्वे ऋत्विज इति बहुत्वानुवादानुपपत्तेः, अपि तु
ऋत्विक्संस्कारकवरणमात्रानुवादः ऋत्विग्धर्माणां तदुत्तरत्वप्रा-
प्त्यर्थः तत्तद्धर्मविधानार्थश्च । अतो यावन्ति लौकिकानि
मन्त्रवन्ति वा वरणानि तावन्तः कर्तार इति सिद्धम् ॥ ९ ॥

(१०)—चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥ २५ ॥

अध्वर्यादिसंज्ञानां रूढत्वादस्तु भेदकत्वम् । चमसाध्व-
र्युसंज्ञायास्तु चमसेषु अध्वर्युरित्येवं यौगिकत्वादध्वर्युपुरुषादय
एवैते इति प्राप्ते—

सत्यपि संज्ञाया यौगिकत्वे “चमसाध्वर्युं वृणीते” इति
पृथग्वरणाज्ञानाद्विरित्यनानां चमसाध्वर्यूणां पूर्ववदेवान्यत्वम् ।
एवं “सदस्यं वृणीते” इति वचनात्सदस्यस्यापि । एवं च
“मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो होतृकाणां चमसाध्वर्यवः”^१ इति
ऋत्विक्सम्बन्धव्यपदेशोऽपि भेदै एवोपपद्यते ॥ १० ॥

^१ होतृब्रह्मोद्गातयजमानाः चत्वारः मध्यतःकारिणः ।

मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंसिपोतनेष्टृच्छावाकामीध्राः षड्भोतकाः ।

(११)-उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥ २६ ॥

ते चमसाध्वर्यवो वरणवाक्ये बहुत्वश्रुतेर्बहवः । यद्यपि तत्रोद्देश्यविशेषणत्वाद्बहुत्वाविवक्षा, तथाऽपि “स्वाध्यायोऽध्येतव्यः” इतिवत् संस्कारविध्यन्यथाऽनुपपत्त्या विनियोगकल्पनदशायां तद्विवक्षोपपत्तिः । अनयैव दिशा “पुरोहितं वृणीते” “अध्वर्युं वृणीते” इत्यादावप्येकत्वविवक्षा द्रष्टव्या । वस्तुतस्तु—तत्रतत्र विनियोगेऽपि “चमसाध्वर्यवश्चमसानुन्नयन्ति” “अध्वर्युः पुरो विभजते” इत्यादौ बहुत्वैकत्वश्रुतेस्तद्विवक्षोपपत्तिः ॥ ११ ॥

(१२)-दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥ २७ ॥

ते च दश एकादश वा, न तु त्रयः, चमसानां तावत्त्वात् । अत एव त्वमध्यतःकारिणां होत्रादीनां चतुर्णां होतृकाणां च मैत्रावरुणादीनां षण्णां चमसाध्वर्यव इति व्यपदेशोऽपि सङ्गच्छते । सदस्यपक्षे तच्चमसे एकादशः । एवं च दशपेये ऋतौ सिद्धवद्दश चमसाध्वर्यव इत्यनुवादोऽपि सदस्याभावपक्षे सङ्गच्छते । त्रित्वपक्षे न कथञ्चिदस्योपपत्तिः ॥ १२ ॥

(१३)-शमिता च शब्दभेदात् ॥ २८ ॥ प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् ॥ २९ ॥

पशौ “शमितारमुपनयीत” इति श्रुतः शमिता तु वरणभेदानाम्नानात् सत्यपि संज्ञाभेदे यौगिकत्वेन प्रकृतेष्वेव ऋत्विक्षु अनुत्विक्षु वा वृतेषु तस्या उपपत्तेर्नान्यः । तत्राप्यध्वर्योः “पराङ्मावर्ततेऽध्वर्युः पशोस्संज्ञप्यमानात्” इति वचनेनासामर्थ्यात् तत्पुरुषः प्रतिप्रस्थाता संज्ञपयेत् । न च तस्य हिंसादोषभियाऽप्रवृत्तिः । दक्षिणादिलोभेन तदङ्गीकारेण प्रवृत्त्युपपत्तेः । अत एवार्त्विज्यं नि-

न्दान्ति । ब्राह्मणस्य च शामित्रविषये कलौ पृथङ्निबेधो दोषा-
धिक्यज्ञापनार्थः । अत एव कलौ शामित्रे ब्राह्मणालाभेन शूदे-
ण क्रियमाणे “क्लोमानं शमितुस्तद्ब्राह्मणाय दद्यात् यद्यब्राह्मण-
स्स्यात्” इति वचनं सङ्गच्छत एव । अब्राह्मणपदं यजमान-
परमिति तु प्राञ्चः ॥ १३ ॥

(१४)-उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३० ॥

एवं सोमे समाम्नाता उपगातारोपि वृतेष्वेव । न चोपगा-
तृणां गातृगुणत्वेन लोकप्रसिद्धेर्वृतानां च तुल्यकक्षत्वेन तदभा-
वादन्य इति वाच्यं, तुल्यानामपि प्रेषप्रैषार्थकारित्ववत्परस्पो-
पकारित्वस्थोचितत्वात् । स्वामिपरिकीतानामपि शिल्पकारिणां
तथा दर्शनाच्च । तत्राप्युपगानस्य सामवेदिकत्वात् उद्गात्रादीनां
त्रयाणां गानव्यापृतत्वेऽपि सुब्रह्मण्यो नियतः । अन्ये तु “ऽयव-
रा उपगायन्ति, चत्वार उपगायन्ति” इति वचनान्तरानुसारा-
दनियताः । अत एव “नाध्वर्युरुपगायेत्” इति वचनाभ्यासौ ॥

(१५)-विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥

सोमविक्रयी त्वन्य एव । वरणादिकं हि क्रत्वर्थत्वात्तदङ्ग-
पदार्थकरणाय पुरुषानुपादातुं क्रियते । विक्रयस्त्वविहितत्वात्
विहितक्रयान्यथाऽनुपपत्त्याऽऽवश्यकोपि दोषस्वीकारेण रागतः
प्रवृत्तपुरुषकर्तृकविक्रयोपजीवनेनापि क्रयसिद्धेरनाक्षेपाच्चानङ्गम् ।
अतस्तत्र वृतानामप्राप्तेरन्य एवेति ॥ १५ ॥

(१६)-कर्मकार्यात्सर्वेषामृत्विक्कुमविशेषात् ॥

३२ ॥ न वा परिसङ्ख्यानात् ॥ ३३ ॥ प-
क्षेणेति चेत् ॥ ३४ ॥ न सर्वेषामधिकारः ॥

ब्रह्मादयश्चमसाध्वर्यवश्च सोमे कर्तारस्समधिगताः, ते सर्वे ऋत्विक्पदवाच्याः ऋत्विक्पदस्य “ऋत्विग्दधृक्” इत्यादिस्मृत्या कर्तृवाचिकिन्नन्तत्वनिपातनेन यौगिकत्वावगतेः वसन्ताख्यऋतुकालीनयागप्रयोगकर्तृवाचित्वनिर्णयेनादृष्टरूपऋत्विक्ते रूढिमङ्गीकृत्यौणादिकत्वकल्पनानुपपत्तेः तस्य च सर्वपुरुषेष्वविशेषात् । “तस्यैतस्य यज्ञकतोस्सप्तदश ऋत्विजः” इति तु “एकं वृणीते” इत्यादिवदवयुत्यानुवादः । इतरथा परिसङ्ख्यायां त्रिदोषत्वापत्तेः । अदृष्टरूपऋत्विक्त्वकल्पनायां गौरवात् । अत एव च वरणमेव तज्जन्यादृष्टमेव वा ऋत्विक्पदप्रवृत्तिनिमित्तमित्यपास्तं रूढिकल्पनायां प्रमाणाभावात्, ब्रह्मादिवरणानां भेदादनेकादृष्टशक्तिकल्पनापत्तेश्च । व्यापकधर्मस्य वरणत्वस्यैव शक्यत्वाङ्गीकारे त्वातिप्रसङ्ग इत्यस्मन्मतप्रवेशः, यजमाने वरणाभावेन ऋत्विक्त्वानापत्तेश्च, सत्रे ऋत्विक्त्वसम्पत्तये वरणापत्तेश्च । अत एव “ऋत्विजो वृणीते” इत्यस्यैव वरणविधित्वादेकमेव वरणं ऋत्विक्पदप्रवृत्तिनिमित्तमित्यप्यपास्तं “ब्रह्माणं वृणीते” इत्यादिविधीनां वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेन ब्रह्मादिनिष्ठऋतुयजनान्येव ऋत्विक्पदप्रवृत्तिनिमित्तमित्यप्यपास्तं, अनेकशक्तिकल्पनातादवस्थात् । अतश्च सर्व एव ऋत्विक्पदवाच्या इति सर्वेषामेव हिरण्यमालित्वादि ऋत्विक्कार्यमिति प्राप्ते—

सत्यं ऋत्विक्पदं यौगिकं ऋतुयजनसामान्यवाचि च । तथाऽपि सप्तदशश्रुत्या उद्भिदपङ्कजादिवदेष रूढिमकल्पयित्वैव सप्तदशश्रुत्युन्नीतप्राचीनप्रयोगस्य सहकारित्वकल्पनेनैव सप्तदशानामेव ऋत्विक्पदशक्यत्वोपपत्तिः । न ह्युद्भिदादिपदेष्वतिप्रसङ्गनिराकरणार्थं रूढिकल्पनं, तथात्वे सोमादिवत् मत्वर्थलक्षणामङ्गीकृत्य गुणविधित्वस्यैवापत्तेः । न चैवं सप्तदशश्रुतेः परिसङ्ख्यात्वाप-

स्या त्रिदोषत्वापत्तिः । ऋत्विक्पदज्ञानकारणताकल्पनवेळायामेव सप्तदशश्रुतेस्तात्पर्यग्राहकत्वकल्पनेन प्राप्तपरिसङ्ख्यात्वाभावात् । अतश्च सप्तदशानामेव ऋत्विक्कार्यं हिरण्यमालित्वादि ॥ १६ ॥

(१७)—नियमस्तु दक्षिणाभिश्श्रुतिसंयोगात् ॥

३६ ॥ उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षा-
विधानात् ॥ ३७ ॥

के ते सप्तदशेत्यपेक्षायां “ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति” इत्युपक्रम्य अग्नौध्रे ब्रह्मणे उद्गात्रे इत्यादिना षोडशानामेव सङ्कीर्तनात् तेषामेव ऋत्विक्त्वम् । अत एव सत्रे यजमानानामेव ऋत्विक्त्वात्तेषामेव यजमानसहितानां दीक्षाश्रवणम् । अतः षोडश तावत् समधिगताः ॥ १७ ॥

(१८)—स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥ ३८

सप्तदशस्तु सदस्यः । तस्यापि पृथग्वरणान्नानात् चमस-
विधानाच्चेति प्राप्ते—

सदस्यकर्तव्यपदार्थाश्रवणात् वरणस्य सकुन्यायेन^१ वि-
नियोगमङ्गं कल्पयित्वाऽदृष्टार्थत्वावगतेः सदस्यस्य पाक्षिकत्वेन स-
प्तदशश्रुतेः पाक्षिकानुवादत्वापत्तेः सत्रे तस्य दीक्षाऽनाम्नानाञ्च
स्वाम्येव सप्तदशः । कर्मकरत्वेऽपि वा न पत्नी सप्तदशत्वज-
नकीभूता, अपेक्षाबुद्धौ लिङ्गवैरूप्याङ्गीकारे प्रमाणाभावात् ॥ १८ ॥

(१९)—ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वात् ॥ ३९ ॥

तत्तत्कृतुषु प्रमितानां तेषांतेषां कर्तृणां अव्यवस्थयैवासति
विशेषविधौ लिङ्गप्रकरणाभ्यां तत्तत्पदार्थकर्तृत्वं, न तु तयोः
ध्रुवल्यां आध्वर्यवादिसमाख्यया सङ्कोचः ॥ स्थितं तावदपर्य-
वसितम् ॥ १९ ॥

(२०)—अग्रयश्च स्वकालत्वात् ॥ ४० ॥ तत्सं-
योगात्कर्मणो व्यवस्था स्यात्संयोगस्यार्थ-
वत्त्वात् ॥ ४१ ॥

आहवनीयादयोऽग्नयोऽनारभ्याधीतवचनैर्होमाद्यनुवादेन वि-
हिताः पर्णतान्यायेन^१ प्रकृतिहोमाद्यर्था एव । विकृतौ तु ये ता-
वद्धोमादयोऽतिदेशेन प्राप्यन्ते तेषु प्राप्तिकालवैषम्यात् स्पष्टमेव
द्विरुक्तत्वम् । येऽप्यामनहोमादयोऽपूर्वास्तेषामपि विकृतिसम्ब-
न्धबोधव्यतिरेकेणाङ्गग्राहकत्वानुपपत्तेः विकृतेश्च कल्पोपकारा-
ङ्गग्रहणार्थं पूर्वमतिदेशकल्पनावश्यंभावात् तस्य च प्रकृतावाहव-
नीयप्राप्तिमन्तरेणानुपपत्तेस्तेष्वपि द्विरुक्तत्वम् । अतस्तेषु नोप-
देशेन, नापि यूपवटास्तरणर्वाहवदतिदेशेनाहवनीयप्राप्तिः । अ-
तोऽधिकरणं विनैव ते इति प्राप्ते—

सत्यमतिदेशप्राप्तेषु नाहवनीयाद्युपदेशः । अपूर्वेषु त्वस्या-
नारभ्याधीतत्वादुपदेशेन प्राप्तिरविरुद्धा । न ह्यामनहोमादीनां
विकृतिसम्बन्धं विना नाङ्गग्राहकत्वं, उत्पत्तिवाक्ये इष्टसामा-
न्यस्य भाव्यत्वबोधेनापि शाब्दबोधस्य पर्यवसन्नतया तदनुवा-
देनाहवनीयविधानोपपत्तेः । अतस्तेऽपि सर्वार्थाः ॥

स्थितादुत्तरं—नात्र समाख्यया लिङ्गप्रकरणयोर्बाधः, किन्तु
ताभ्यामव्यवस्थया प्राप्तानां कर्तृणां व्यवस्थामात्रमपेक्षितं कि-

यते । अतश्च हौत्रसमाख्याताः पदार्थाः होत्रा कर्तव्याः । आ-
ध्वर्यवसमाख्याताश्चाध्वर्युणा । औद्गात्रसमाख्याता उद्गात्रा । स-
र्वेषु हि ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदेषु ये पदार्था विहिताः तेषामेताः
क्रमेण समाख्याः याज्ञिकानां प्रसिद्धाः । यौगिकाश्चैते शब्दाः न
पदार्थानामध्वर्यादिसम्बन्धव्यतिरेकेण सम्भवन्ति इति तेषु तेषां
योग्यत्वात्कर्तृत्वसिद्धिः ॥ २० ॥

(२१)—तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥ ४२

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ ४३ ॥

अयं चोत्सर्गः वचनात् “यजमानस्य याज्या” इत्यादिकात्,
विशेषसमाख्याया च पोत्रीयं नेष्टीयं याजमानं इत्यादिकया अपो-
थते । न चैवं तादृशविषये सामान्यसमाख्याया निर्विषयत्वाप-
त्त्याऽऽनर्थक्यप्रतिहतन्यायेन विकल्पापत्तिः । यथाशक्तिप्रयोगे पो-
त्रादीनामशक्तौ सविषयत्वोपपत्तेः । वस्तुतस्तु—हौत्रादिसमाख्या-
यास्सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन ऋग्वेदविहितकर्मत्वमुपलक्षणी-
कृत्यैव तत्तत्पदार्थेषु होत्रादिविधायकत्वं, निरुक्तसम्बन्धेनाग्नी-
षोमीयप्राक्कालवृत्तित्वमुपलक्षणीकृत्योपांशुत्वविधायकत्वमिव “य-
त्किञ्चित्प्राचीनम्” इत्यस्य । अतश्च तद्वदेव केषुचित् पदार्थेषु त-
दभावेऽपि न क्षतिः । अत एव दक्षिणारहितकाम्यादौ यजमान-
स्यैव कर्तृत्वेऽपि समाख्याया न काचिदनुपपत्तिः ॥ २१ ॥

(२२)—प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥

४४ ॥ पुरोनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्नि-
धानात् ॥ ४५ ॥ प्रातरनुवाके च होतृद-
र्शनात् ॥ ४६ ॥

ज्योतिष्टोमे “मैत्रावरुणः प्रेष्यति चान्वाह च” इति श्रुतम् । सन्ति च तत्र केचित् केवलाः प्रैषाः “अग्नये समिद्धचमानायानुबूहि, यूपायाज्यमानायानुबूहि” इत्यादयः । केवलानि चानुवचनानि “प्रवो वाजा अभिद्यवः, अक्षन्ति त्वामध्वरे देव्यन्तः” इत्यादीनि । उपदेशातिदेशप्राप्तानि । प्रैषोत्तरत्वाच्चैषामनुवचनत्वम् । कानि चित्तु प्रैषत्वे सत्येवानुवचनानि, यथा—“होता यक्षत्” इत्यादीनि । एषां च “प्रेष्य” इत्यध्वर्युप्रैषोत्तरभावित्वात् “होतर्यज” इत्यन्ते प्रैषत्वाच्चोभयरूपत्वम् ।

तदिह मैत्रावरुणः प्रैषानुवचनोद्देशेन विधीयमानस्सर्वत्र स्यात्, न तु प्रैषान्तानुवचनेष्वेव, उद्देश्यविशेषणस्य साहित्यस्याविषक्षितत्वात् । चशब्दस्यापि प्रैषानुवचनरूपधर्मिसाहित्यपरत्वेन प्रैषत्वानुवचनत्वरूपधर्मयोरैकाधिकरण्यरूपसाहित्यबोधकत्वाभावात् । तस्य च प्रतिप्रधानं गुणानुसिन्ध्यायेनैवास्मन्मतेऽपि सिद्धेरनुवादकत्वाच्च । अतश्च सर्वत्रैव समाख्याप्राप्तकर्त्रन्तरबाधेन वाक्यान्मैत्रावरुणनिवेशः । न चात्रानेकोद्देशो वाक्यभेदो दोषः, “अर्धमन्तर्धेदि मिनोति” इतिवदाख्यातैकत्वाभावात् । अत एवैकवाक्योपादानमस्य साहित्यस्योद्देश्यगतस्याप्रतीतत्वादेव न विवक्षापत्तिः ।

न चैवमपि शुद्धप्रेषेष्वध्वर्युकर्तृकत्वस्य शुद्धानुवचनेषु च होतृकर्तृकत्वस्यैव समाख्यया प्राप्तेः कर्त्रन्तरानपेक्षत्वादेव न मैत्रावरुणविधिः । प्रैषान्तानुवचनेषु तु प्रैषत्वेनाध्वर्युकर्तृकत्वस्यानुवचनत्वेन च होतृकर्तृकत्वस्य प्राप्तेर्विरोधेनोभयोरपि निवृत्तौ कर्त्रन्तरापेक्षायां तत्रैव मैत्रावरुणविधिरिति पार्थसारथ्युक्तं युक्तमिति वाच्यम्, प्रैषान्तानुवचनानामपि हौत्र एव पाठस्य वार्तिकोक्तत्वेनाध्वर्युकर्तृकत्वाप्राप्तेः, उभयत्र पाठेन तत्प्राप्तावपि वा विकल्पेनोभयनिवेशोपपत्तेर्निवृत्त्यप्रसङ्गाच्च ।

यदपि वार्तिके अग्नीषोमीयाद्यङ्गभूतेषु प्रैषान्तानुवचनेषु यजेतिशब्दस्य प्राकृतत्वात्तन्मात्रेऽतिदेशोनाध्वर्योः प्राप्तिः, 'प्रेष्य' इति प्रैषान्तरास्मानाद्वा "इतरमन्यः" इति न्यायेन। प्रतिप्रस्थातुः सोमाङ्गान्तर्वृत्तियजेतिशब्दे तु "होतृयज" इति लिङ्गानुरोधेन समाख्यां बाधित्वा मैत्रावरुणस्य, तदतिरिक्तपदार्थान्तरेषु होतुरेव। ततश्चांशभेदेन नानाकर्तृप्राप्तेरेकपदार्थत्वेन च कर्तृद्वयासम्भवात् प्रच्युतयोस्तयोर्मैत्रावरुणविधिरित्युक्तं, तदपि यजेतिशब्दस्याग्नीषो-मोयादौ हौत्र एव प्रत्यक्षपठितत्वेन समाख्याया आतिदेशिकाध्व-र्यादिवाधेन होतृप्राप्तेस्तस्य च "होतृयज" इति लिङ्गेन बा-धेऽपि तत्पुरुषस्य मैत्रावरुणस्यैव यजेतिशब्दे तदेकवाक्यता-पक्षपदान्तरेषु च प्राप्तेरुपेक्षितम् ।

अबाधेऽपि वा समाख्याया दुर्बलत्वेन यजेतिशब्दे तदेकवा-क्यतापक्षपदान्तरेषु च प्रतिप्रस्थातुरेवैकस्य प्राप्तेर्न कर्मन्तरापेक्षा । एवं सोमाङ्गभूतेष्वग्नीषोध्यम् । अतस्सर्वत्रैव मैत्रावरुण इति प्राप्ते—

वाक्यभेदाङ्गीकारे अनुषङ्गापत्तेश्चशब्दवैयर्थ्याच्च पदद्वयेन प्रैषान्तानुवचनान्येव "अर्थमन्तर्वेदि" इतिवल्लक्षयित्वा तेष्वेव मैत्रावरुणविधानम् । चशब्देन च धर्मिणोरितरेतरयोगस्य स्वरू-पे कार्ये वाऽसम्भवात्, समुच्चयस्य च न्यायादेव प्राप्तेरानर्थ-क्यतदङ्गन्यायेन धर्मयोरेव प्रैषत्वानुवचनत्वयोरितरेतरयोगप्र-तीतेः, निषातस्थले च परस्परावयवस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वेन वाक्य-भेदभावात् लक्षणां विनैव परस्परयुक्तप्रैषत्वानुवचनत्वावच्छि-न्नोद्देशेन मैत्रावरुणो विधीयते । अत एव प्रैषानुवचनान्यतर-त्वावच्छिन्न एव लक्षणोपपत्तेन युक्तो वाक्यसङ्कोच इत्यप्यपास्तम् ।

वस्तुतस्तु शुद्धानुवाक्यास्वपि कासुचित् मैत्रावरुणस्य
याज्ञिकसम्मतत्वाच्चशब्दो नेतरेतरयोगार्थः । अपि तु धर्मिसमु-
च्चयार्थ एव सन्ननुवादः । नचैवं सार्वत्रिकत्वापत्तिः, अनुवादस्य
सतिसम्भवे सन्निहितगामित्वमिति नियमेन यानि केवलान्यनु-
वचनानि प्रेषान्तानुवचनानि च तान्यधिकृत्यायं विधिः प्रवृ-
त्तस्तद्विषयकत्वस्यैवाङ्गीकारात् ॥ २२ ॥

(२३)—चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥

४६ ॥ अध्वर्युर्वा तन्नयायत्वात् ॥ ४७ ॥

चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ४८ ॥ अशक्तौ ते

प्रतीयेरन् ॥ ४९ ॥

चमसे विशेषसमाख्यया चमसाध्वर्युरूपया तेषामेव होमा-
दौ कर्तृत्वं, समासान्तर्गताध्वर्युपदस्य रूढ्या शुद्धाध्वर्युपदवदेव
वरणादिनिमित्तत्वाविशेषात् । इयांस्तु विशेषः यत् तस्य स-
र्वकार्येषु विनियोगः, एतेषां तु चमसेष्वेवेति । यदि तु तत्त-
द्वरणानां भेदादनेकशक्तिकल्पने गौरवमाशङ्केत । ततोऽस्तु ए-
ष्वध्वर्युशब्दस्य गौणत्वम् । न च विनिगमनाविरहः, चमसा-
ध्वर्युवरणवाक्ये रूढिकल्पने चमसाध्वर्युपदस्यैव तत्कल्पनापत्तेः,
अध्वर्युपदस्य ततो भिन्नस्य शक्त्यन्तरकल्पनावश्यम्भावात् अतो
लाघवात्प्रचुरप्रयोगाच्चाध्वर्युपदस्यैव प्रसिद्धाध्वर्यावेव शक्तिः, इत-
रेषु तु गौणी, तथाऽपि तु ग्रहादौ तस्यापि होमादिकर्तृत्वा-
द्धोमकर्तृत्वसादृश्यमात्रेणैतेषु गौणत्वोपपत्तेः सामान्यसमाख्यां
बाधित्वा चमसेष्वेतेषामेव होमादिकर्तृत्वमिति प्राप्ते—

गौणत्वस्यावश्यकत्वे चमसवृत्तिहोमादिकर्तृत्वेनापि गौण-

त्वोपपत्तौ स्वोपजीव्यसामान्यसमाख्याबाधे प्रमाणाभावाच्चमस्ये-
ष्वप्यध्वर्युरेव होमादिकर्ता । तस्यान्यत्र व्यापृतत्वे तु शौणसमा-
ख्यया चमसाध्वर्यवः । तेषामप्यसम्भवे “इतरमन्यः” इत्येव
प्रतिप्रस्थात्रादयः ॥ २३ ॥

(२४)—वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं
स्युः ॥ ५० ॥ तद्गुणाद्वा स्वधर्मः स्यादधि-
कारसामर्थ्यात्सहाङ्गैरव्यक्तद्रोषे ॥ ५१ ॥

औद्गात्रे सामवेदे द्येनश्श्रुतो ज्योतिष्टोमधर्मवान् । तत्र
प्राकृताङ्गेष्वतिदेशेन नानाकर्त्विजः प्राप्ताः औपदेशिक्या औद्गा-
त्रसमाख्यया बाध्यन्त इति तेषूद्गातैव कर्ता । समाख्या हि क-
र्तृप्रापिका । कर्ता च प्रयोगाङ्गम् । प्रयोगश्च प्रयोगविधिना
साङ्गस्यैको विधीयत इति समाख्ययाऽङ्गेष्वपि कर्तृविधिरुपदेशेन ।
अतश्च यथैव “अप्स्ववभृथेन चरन्ति” इत्यत्रापां देशत्वात्
साङ्गभावनाविषयत्वप्रतीतिः प्राकृतेषु प्रयाजादिष्वग्निबाधकत्वं तथा
प्रकृतेऽपि । न च समाख्यायाः प्रधानमात्रे श्रुताया अप्यङ्गवि-
षयकत्वस्य कल्पनीयत्वेन प्रयोगविध्याश्रितत्वात् तस्यातिदेश-
प्रापिताङ्गविषयत्वेन तदपेक्षत्वादुपजीव्यचोदकप्रापितनानाकर्तृक-
त्वबाधानुपपत्तिरिति वाच्यं, सत्यपि तृतीयाश्रवणेऽपामप्यङ्गविष-
यत्वस्य कल्पनीयत्वेनोक्तविध्याऽग्निबाधकत्वानापत्तेः । न हि तृ-
तीयायास्साङ्गवृत्तिकरणत्वे शक्तिः, अपि तु प्रधानकरणत्व एव,
तत्तु अङ्गवैशिष्ट्यं विनाऽनुपपन्नमित्यङ्गविषयत्वं कल्प्यमेव । अतश्च
शरादौ क्लृप्तोपदेशस्थल इव कल्प्योपदेशस्याप्यतिदेशबाधकत्वं
वाच्यम् । अत एव यत्र प्रकृतावेव स्तोत्रशस्त्रादौ वेदान्तरीये

विशेषसमाख्यारूपेणोपदेशेनैव कर्त्रन्तरप्राप्तिः तत्राङ्गविषये कल्यायाः प्रधानसमाख्याया बाध इष्ट एव । वर्णितं होतुं गुणमुख्यव्यतिक्रमाधिकरणे^१ । प्रकृते त्वातिदेशिकत्वात्प्रधानसमाख्याया एव प्राबल्यमिति प्राप्ते—

इहापि प्रयोगविध्याश्रितायास्तस्या अङ्गविषये कल्प्यत्वेनोपजीव्यातिदेशापेक्षत्वात् तेन च कर्तृविशिष्टानामेव च प्राप्तत्वेन कर्त्रपेक्षाभावात् समाख्याया आकाङ्क्षाविरहे श्रुत्यकल्पकत्वात्, कल्पकत्वेऽपि वा प्राकृताङ्गविषयत्वाभावात् न प्राकृतकर्तृबाधकत्वम् । नचैवमप्यपि तथात्वापत्तिः, अन्विधे प्रत्यक्षत्वात्तासां च धात्वर्थान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् तृतीययाऽवभृथकरणकभावनायामन्वयावगतेर्देशत्वेन च भावनोत्पत्त्यन्वयित्वाभावेन तत्प्रयोगान्वयित्वात्, प्रयोगस्य चाङ्गप्रधानसाधारणत्वात् भावनान्वयद्वारा पाश्चात्यतद्विशेषणान्वयेऽविशेषेणोभयान्वयतात्पर्यावगत्या उपदेशेनैव प्रधान इवाङ्गेष्वप्यग्निबाधात् । अत एव यत्र तृतीयाश्रवणाभावः यथा “यज्ञाधर्वणं नै काम्या इष्टयस्ता उपांशु कर्तव्याः” इत्यादौ तत्र प्रधानकर्मकभावनायामेवान्वयात्तस्यां चाङ्गान्वयाभावेन प्रधान एव प्राकृतस्वरादिबाधकत्वम् । प्रकृते तु समाख्यायाः प्रधानमात्रविषयत्वात्तस्य च स्वामिकर्तृकत्वेनान्यकर्तृकत्वानुपपत्तेस्स्वनिर्विषयत्वान्यथानुपपत्त्या कथञ्चिदानर्थक्यतदङ्गन्यायेनाङ्गमात्रविषयत्वकल्पनेऽपि क्लृप्तकर्तृकाङ्गविषयत्वकल्पने प्रमाणाभावात् कण्टकवितोदनाद्यौपदेशिकाङ्गविषयत्वमेव कल्प्यते । वस्तुतस्तु—तेषामपि विशिष्य स्वसमाख्ययैव कर्तृप्राप्तेर्न प्रधानसमाख्याविषयत्वं, अपि तु यानि वेदत्रयाविहितानि स्मृ-

^१ ३-३-२.^२ ३-१-९.

त्यनुमितवेदविहितानि तद्विषयैव सेति ध्येयम् । अतः प्राकृताङ्गेषु
नानैव कर्तारः । किञ्च समाख्यायाः पाठमात्रनिबन्धनत्वेन “उच्चै-
रुक्त्वा” इत्यादिषु विधाननिबन्धनत्वाभावात् प्राकृतानां च सा-
मवेदेऽपठितत्वादपि तद्विषयत्वाभावः ॥ २४ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां
तृतीयस्याध्यायस्य सप्तमः पादः.

अथ तृतीयाध्यायस्याष्टमः पादः.

(१)—स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥

१ ॥ वचनादितरेषां स्यात् ॥ २ ॥

वरणं दक्षिणादानं च समाख्ययाऽध्वर्यादिभिरेव कार्यम् ।
अध्वर्युश्च यथा तान् स्वद्रव्येण परिक्रीणीते तदुपायं यजमानः
कुर्यात् । अध्वर्योश्च “इतरमन्यः”^१ इति न्यायेन वरणादिकं प्र-
तिप्रस्थाता कुर्यात् । स चाध्वर्युर्दक्षिणाज्ञानात् तेनानतस्स्वकृ-
त्यं कुर्यात् । ऋत्विगन्तरार्थं स्वद्रव्यं दातुं यजमान उपायान्तरं
कुर्यादिति प्राप्ते—

अवश्यं वृत्तोऽध्वर्युरन्यान् वृणीते, अन्यथाऽध्वर्युत्वासम्भवात्,
वरणस्यादृष्टार्थत्वाद्यापत्तेश्च । तद्वरणं च येनादौ कर्तव्यं तस्या-
ध्वर्युगणत्वसम्पत्तये वरणस्यावश्यकत्वात् तस्य चासमाख्यातक-
र्तृकत्वावश्यभावात् वरणे तावत् समाख्याबाध आवश्यक एव ।

एवं दक्षिणादानेऽप्युपायान्तरकल्पने गौरवापत्तेः प्रयोगवाक्या-
वर्गतेस्वामिकर्तृकत्वबाधापत्तेश्च समाख्याया एव कवलाया बाधः।

वस्तुतस्तु—सर्वत्र स्वामिकर्तृकत्वप्राप्तौ वरणेनेव दक्षिणा-
दानेनाप्यन्यत्रान्यकर्तृकत्वे सिद्धे समाख्याया नियममात्रं क्रियत
इति स्वलाघवानुरोधेनापि समाख्या वरणभरणविषयिणी। सत्य-
पि वा तस्मिन् उपायान्तरकल्पनाद्यनुरोधेनैव दानमात्रे स्वामि-
कर्तृकत्वम्। यत्र तु वचनं यथा “य एतामिष्टकामुपदध्यात् स
त्रीन् वरान् दद्यात्” इत्यादौ तत्राध्वर्यादीनामपि दानकर्तृत्वम्।
तत्र हि स्वामिकर्तृकत्वे उपधानस्य सामानाधिकरण्येन तत्स-
मानकर्तृकत्वावगतेस्तस्यापि तत्कर्तृकत्वे उपदध्यात्’ इति पर-
स्मैपदानुपपत्तिः, तस्य ऋक्प्रत्येनोपधात्रभिन्नगामिक्रियाफलक-
त्वावगतैः। यदि तु क्रियाफलस्याग्रथादिगतत्वात्परस्मैपदोपप-
त्तिरित्याशङ्क्येत, ततः प्राप्तोपधानानुवादेन दानस्य तत्कर्तृकत्वस्य
च विधौ वाक्यभेदापत्तेः य इत्यनेन कर्तृप्राप्तिप्रतीतिश्चोपधानस्या-
ध्वर्युकर्तृकत्वावसायात् तत्समानकर्तृकस्य दानिस्यापि तत्कर्तृ-
कत्वसिद्धिः ॥ १ ॥

(२)—संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्म-
वद्व्यवतिष्ठेरन् ॥ ३ ॥ याजमानास्तु तत्प्रधा-
नत्वात्कर्मवत् ॥ ४ ॥ व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥
गुणत्वेन तस्य निर्देशः ॥ ६ ॥ चोदनां प्र-
ति भावाच्च ॥ ७ ॥ अतुल्यत्वादसमानवि-
धानास्स्युः ॥ ८ ॥

वपनादयः फलिसंस्कारास्समाख्यानादध्वर्युकर्तृकाः । तेनाध्वर्युणा धुरं दण्डकाष्ठं जलं च गृहीत्वा यजमानस्य केशवपनादि दन्तधावनं स्नानं च करणीयं अञ्चनाभ्यञ्जनवदिति प्राप्ते—

“वपत” इत्यात्मनेपदाद्वपनफलाश्रयस्य यजमानस्यैव तत्कर्तृत्वं प्रतीयते । अस्ति च तस्यापि छेदनाख्यवपनाधारत्वेन स्थाली पचतीतिवत् कर्तृत्वं, तदादायैव “तस्मात्केशान् वपाम्यहं” इति प्रयोगः । यस्तु “नापितो वपति” इत्यादिप्रयोगः, स छेदनानुकूलधुरक्रियाकर्तृत्वमादाय । तत्प्रयोजककर्तृत्वमादायैव “नापितो यजमानं वापयति” इत्यादिप्रयोगः । अतश्च “वपत” इत्यात्मनेपदस्थले आधारत्वमादायैव कर्तृत्वोपपत्तौ धुरग्रहणकर्तृत्वेऽपि तात्पर्यकल्पने प्रमाणभावः । तेनार्थाक्षितस्य तस्य यजमानकर्तृकत्वनियम एव प्रमाणाभावेऽध्वर्युकर्तृकत्वनियमस्य कः प्रसङ्गः इति नापितकर्तृकमपि तत् । सोमे तु “प्रवपति देवभूः” इति परस्मैपदप्रयोगात् अध्वर्युकर्तृकगोदानवपनोत्तरं ‘नापिताय धुरं प्रयच्छति’ इति विधानात्तत्कर्तृकमेव तत् । एवमन्यत्राप्यात्मनेपदयुक्ते द्रष्टव्यम् । अत एव यत्र “तमभ्यनक्ति” “शरेविकयाऽनक्ति” “दण्डेन दीक्षयति” इत्यादौ परस्मैपदनिर्देशः अधिकश्रुतः, तत्र सत्यप्याधारत्वमादायात्मनेपदोपपत्त्या यजमानकर्तृकत्वे व्यापारान्तरस्यापि विधेयत्वादध्वर्युकर्तृकत्वमिष्टमेव । स्नाने तु त्वनिष्ठव्यापार एव स्नातीनि परस्मैपदस्यापि प्रयोगादन्यकर्तृके च स्नापयतीत्येव प्रयोगात् यजमाननिष्ठव्यापारस्यैव विधेयत्वेनान्यकर्तृकव्यापारस्याविधेयत्वेन नाध्वर्युनियमः । न त्वत्र परस्मैपदादन्यकर्तृकत्वनियमः, स्नाधातोस्स्वरितेत्वाद्यभावेन तदभावात् । अतः फलिसंस्कारास्स्वामिकर्तृका एव । कर्तृसंस्कारास्तु हिरण्यमालित्वादयस्तामान्यविहितास्सर्वे-

षामेव । विशिष्यविहितास्तु तेषामेवेति न तत्रापि समा-
ख्यया नियमः । तस्याः नियामकमात्रत्वेन प्रापकत्वाभावादिति
वक्ष्यते^१ ॥ २ ॥

(३)—तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥ ९ ॥ वा-
क्यशेषश्च तद्वत् ॥ १० ॥ वचनादितरेषां
स्यात् ॥ ११ ॥

सोमे “द्वयहं नाश्नाति त्रयहं नाश्नाति” इति श्रुतम् ।
तत्रायमशनप्रतिषेधः अनृतवदनप्रतिषेधवदेवारादुपकारको न
फलसंस्कारकः, आत्मनेपदाद्यभावात् । सत्त्वेऽपि वा स्वरि-
तेत्वाद्यभावाच्च । अतश्च समाख्यानादध्वर्युकर्तृकत्वम् ।

वस्तुतस्तु—अनृतवदनवदेव निषेध्याशनस्याविहितत्वादभा-
वस्य चाननुष्ठेयत्वान्न समाख्याविषयत्वमिति कर्तृमात्रविषयत्वे
प्राप्ते—

आरादुपकारकत्वपक्षे अशनस्य क्रतुवैगुण्यजनकत्वं तस्य च फ-
लप्रतिबन्धकत्वमित्यादि कल्पनापेक्षया लाघवेनाशनाभावस्य दुःख-
जनकतया क्लृप्तत्वात्तु दुःखस्य च स्वजनकीभूतपापनाशकत्वस्यापि
क्लृप्ततया केवलं तत्पापस्य सोमफलप्रतिबन्धकत्वमात्रकल्पनया
अशनाभावस्य यजमाननिष्ठफलप्रतिबन्धकाभावसम्पादकत्वमेव
“यदाऽनशनस्तदा मेधार्हः” इति वाक्यशेषानुसारात् कल्पयितु-
मुचितम् । अतश्च तस्य लिङ्गादेव यजमानमात्रनिष्ठत्वम् । न ह्यन्य-
समवेतदुःखेनान्यदीयं पापं नश्येत् । न च ऋत्विगतपापस्य स्वा-
मिगतफलप्रतिबन्धकत्वकल्पनं गौरवात् । अत एव यत्र “ऋत्वि-
ज उपवसन्ति” इत्यादिवचनं तत्रानृतवदनन्यायेनारादुपकारक-

^१ एकान्तारितोत्तराधिकरणे.

त्वकल्पनं व्यधिकरणस्यैव वा प्रतिबन्धकत्वादकल्पनमिति द्रष्टव्यम् । अत एव न तत्र समाख्या नियामिका ॥ ३ ॥

(४)—गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥ १२

ये ऋत्विक्संस्कारा हिरण्यमालित्वादयः तत्तद्वेदपठितास्ते समाख्यानादध्वर्यादिना कर्तव्याः बहुत्वस्थोद्देश्यगतत्वेनाविवक्षितत्वात् । अथाप्यनुवादापेक्षा तदा तत्पुरुषैः कार्याः इति प्राप्ते—

अनियतकर्तृप्राप्तौ समाख्यया लाघवेनापेक्षितनियमप्रात्रकरणान् प्रकृते च संस्कार्यस्य प्रतिप्रधानावृत्तिन्यायेन सर्वस्यैव नियतप्राप्ततया नियमानपेक्षत्वाच्च समाख्यायास्तन्निर्णयकत्वम् । कर्त्रन्तरपरिसङ्ख्यापकत्वं तु वैरूप्यापत्तेरयुक्तम् ।

यदि तु समाख्यायास्तत्तत्पदार्थवाचिन्याः भेदेनास्या हिरण्यमालित्वविषयिण्याः परिसङ्ख्यापकत्वमेवेत्याशङ्क्यत तथाऽपि समाख्यया वचनस्य सङ्कीर्णयोगादेव सर्वविषयत्वनिश्चयः ॥ ४ ॥

(५)—तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥ १३ ॥ व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥ १४ ॥

ये गुणजन्याः कामाः “यदि कामयेत वर्षुकः पर्जन्यस्यादिति नीचैस्सदो मिनुयात्” इत्यादयः ते मानायाश्चयस्य तावदाध्वर्यवत्वात्तत्सामानाधिकरण्याच्च कामयतेस्तत्समानकर्तृकत्वप्रतीतेः अध्वर्युनिष्ठा एव । अत एव यत्र “दध्नेन्द्रियकामस्य” इत्यादिवैयधिकरण्यं तत्र यजमानगामित्वमेव, प्रक्षेपाख्यस्य होमस्याध्वर्यवत्वादिति प्राप्ते—

“मिनुयात्” इति जितः परस्मैपदनिर्देशात् अध्वर्युभिन्नकर्तृकत्वावगतेस्सामानाधिकरण्यबाधेन याजमानत्वमेव । यत्रापि

“यो वृष्टिकामस्तु सौभरेण स्तुवीत” इत्यादौ न परस्मैपदं तत्रापि नोद्गातृगामित्वं. ऋत्विक्कामानुरोधेन यजमानफलसाधनी-
भूतनित्यगुणबाधानुषपत्तेः । अतस्तत्र सामानाधिकरण्यमात्मने-
पदं च प्रयोजककर्तृत्वाभिप्रायेणैव व्याख्येयम् । अत एव यत्र
न नित्यगुणबाधः बाधेऽपि वा साक्षादेव वचनं तत्र स्वामिभिन्न-
गामित्वेऽपि न क्षतिः यथा “आत्मने वा यजमानाय वा यं
कामं कामयते तमुद्गायेत्” इति । अत्र पृथग्यजमानपदश्रवणाद्वा-
शब्द-अवघाताच्चात्मनेपदेनोद्गातैवोच्यते । अत एवानुषङ्गेण वाक्यभे-
दोऽप्यदोषः । ‘तं’ इत्यनेनोभयनिष्ठं वैकल्पिकं कामं परामृश्यो-
द्गैयत्वविधानाद्वा न वाक्यभेदः । गायतश्च “गायन्ति यं सा-
मगाः” इत्यादावर्थाभिधानेऽपि प्रयोगाच्च कामरूपार्थस्योदयत्व-
विधातः ॥ ५ ॥

(६)—मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥ १५ ॥ विप्र-
योगे च दर्शनात् ॥ १६ ॥

इह यैऽकरणभूताः कर्मफलप्रकाशकाः कर्माङ्गभूता मन्त्राः
“आयुर्दा अग्ने” “अगन्म सुवः” इत्यादयः ते समाख्याना-
दाध्वर्यवा इति प्राप्ते—

यद्यप्येते लिङ्गादिनाऽऽहवनीयोपस्थानादौ विनियुक्ताः न
सूक्तवाकादिवत् तृतीयया इतिकरणेन वा विनियुक्तत्वाभावादा-
नुषङ्गिकफलकल्पकाः, तथाऽपि कर्मफलमेवोपस्थानादिप्रयोज्यं प्रो-
त्साहनार्थं प्रकाशयन्ति । तत्र च यत्रैतत्प्रकाश्यं फलं कर्मज-
न्यत्वेन क्लृप्तं तत्र तत् शक्त्यैव नियतमनियतं वा प्रकाशयते ।
अत एव दर्शपूर्णमासादौ स्वर्गायुरादेः फलत्वात् तत्तत्फलार्थ-
प्रयोग एव तत्तन्मन्त्रः न फलान्तरार्थप्रयोगः । यत्र तु नेतृत्व-

काश्यस्य कर्मफलत्वं तत्र लक्षणया कर्मफलमेवैतेन मन्त्रेण प्रकाश्यत इति द्रष्टव्यम् । तच्च फलं यजमानगाम्येव, ऋत्विक्फलस्योपस्थानाद्यप्रयोज्यत्वेन तत्प्रकाशने तदङ्गत्वानुपपत्तेः । तस्य यजमानादाशास्यत्वेनाग्निं प्रत्यनाशास्यत्वाच्च । न च यजमानफलमेवाध्वर्युणाऽऽशास्यतां, 'मे' इति 'अगन्म' इत्यध्वर्य्वप्रकाशकत्वेन लिङ्गविरोधात् । अतो याजमाना एवैते । अत एव यत्र नैतादृशं लिङ्गं तत्राध्वर्यवा एव ॥ ६ ॥

(७)—द्वयाम्नातेषूभौ द्वयाम्नातस्यार्थवत्त्वात् ॥ ७ ७

ये मन्त्रास्सामान्यत आध्वर्यवसमाख्याते काण्डे समाम्नाताः पुनश्च याजमानेऽपि विशेषतस्समाख्यायन्ते, यथा आज्यग्रहणमन्त्रास्तुग्व्यूहनमन्त्राश्च, ते तावत् सत्यप्यभ्यासे प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् विध्यभावाच्चाभिन्नाः । अतस्तत्र गुणभूतकर्तृद्वयस्य विकल्पः । विशेषसमाख्याबलाद्वा यजमान एव कर्ता । आज्यग्रहणस्तुग्व्यूहनादेर्वा निस्सन्दिग्धमाध्वर्यवत्वात्तदङ्गभूता मन्त्रा अपि तत्कर्तृका एव । न चैवं द्विःपाठवैयर्थ्यं, एकत्र स्वरूपज्ञानमन्यत्र विनियोग इत्येवं सार्थक्यादित्येवं प्राप्ते—

एकपाठेनैवोभयसिद्धौ द्वितीयस्य वैयर्थ्यापत्तेस्तस्योच्चारणान्तरविधायित्वावगतेस्तस्य च समाख्यान्तरेण कर्त्रन्तरसिद्धिः । उच्चारणान्तरप्रयोजनं तत्क्रियाप्रत्यवेक्षणमिति नादृष्टकल्पनाऽपि । यद्यपि च तत् नियमेन यजमानस्य न प्राप्तं, तथाऽपि द्विःपाठबलादेव तत्कल्पनमिति न दोषः । यत्र तु नैवविधं प्रयोजनं कर्तृभेदो वा सम्भवी यथा "अयं सहस्रमानवः" इत्यस्यामौज्ञात्र एव प्रगीताप्रगीतभेदे न समाम्नातायां, तत्रागत्याऽभ्युदयशिरस्कत्वं परिकल्पयोत्पत्तिविनियोगपरत्वेन सार्थक्यमिति विशेषः ॥ ७ ॥

(८)—ज्ञाते च वचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति॥

वाजपेयादौ यत्र “कलृतीर्यजमानं वाचयति” इति श्रुतं, तत्र याजमानो मन्त्रः, वाचनमाध्वर्यवमित्यविवादम् । परं तु वाचयतेः ब्रह्मचारिणो गायत्र्युपदेशादौ शिक्षणवाचित्वेन कलृप्ततया प्रकृतेऽपि शिक्षणविधायित्वावगतेस्तस्य चाहष्टार्थत्वप्रसङ्गेन ज्ञातर्यसम्भवादुक्तविधाङ्गानुरोधेनाज्ञ एव वाजपेयादावधिकारी । अतोऽन्येषां क्रतूनामध्ययनविधिसिद्धज्ञानोपजीवनेन ज्ञात्रधिका-
रित्वेऽपि वाजपेयादौ तदसम्भवादस्यैव वाचनमिति प्राप्ते—

वाचयतेर्वचनानुकूलव्यापारमात्रवाचित्वेन कचिदन्यथाऽनुप-
पत्त्या शिक्षणग्रहणेऽपि स्मारणमात्रग्रहणेनापि प्रकृते वाचनोप-
पत्तेरज्ञानाक्षेपकत्वे प्रमाणाभावात् तज्ज्ञ एव वाचनम् । तच्च खण्ड-
शो वा, इमं मन्त्रं ब्रूहि इत्येवं वेत्यन्यदेतत् ॥ ८ ॥

(९)—याजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं

स्युः ॥ १९ ॥ अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्याय-

पूर्वं समाख्यानम् ॥ २० ॥

दर्शपूर्णमासयोः “वत्समुपावसृजति” इत्यादीनि चतुर्विं-
शतिकर्माण्याध्वर्यवसमाख्यायुक्तानि प्रत्येकं भिन्नदेशे विधाय पु-
नस्तान्येव याजमानसमाख्यायुक्तानि “वत्सं चोपावसृजति उ-
खां चाधिश्रयति” इत्याद्युक्त्वा “एतानि वै द्वादश ब्रह्मनि
दर्शपूर्णमासयोस्तानि सम्पाद्य यजेत” इति श्रुतम् । तदेषां
द्यास्मात्तमन्त्रबहुभयकर्तृकत्वं तावन्न सम्भवत्यदृष्टार्थतापत्तेः ।
न चाभ्यासात्कर्मान्तरं, अन्यपरत्वात् । अत एवैककर्तृकत्वावश्यं-
भावे विशेषसमाख्यानाद्याजमानत्वे प्राप्ते—

नैषां याजमानकण्डे विधानं. आध्वर्यवे भिन्नदेशे विहिता-
नामेव द्वयोर्मिथः प्रत्यासन्नत्वाख्यद्वन्द्वतारूपगुणविधानार्थमनुवा-
दात् । अतः पदार्थेषु तावदध्वर्युरेव कर्ता । न च द्वन्द्वतायामेव
यजमानशङ्क्यः, अन्येन क्रियमाणानामन्येन द्वन्द्वतायास्स-
म्पादयितुमशक्यत्वात् । द्वन्द्वता नाम एकया वत्सोपावसर्जन-
क्रियया धेनुवत्सयोः प्रत्यासन्नत्वसम्पादनम् । एकया चावहन-
नक्रियोलूखलमुसलयोः । एवं द्वादशसु क्रियासु द्रष्टव्यम् । न
च तत्कर्तृनुरोधेन प्रधानभूतपदार्थानां कर्तृबाधः, अङ्गगुणविरो-
धन्यायेन^१ तदसम्भवात् । न च “तानि सम्पाद्य यजेत” इति
क्त्वाप्रत्ययबलेनैव द्वन्द्वताया यागसमानकर्तृकत्वावगतेर्ध्वनादे-
वाङ्गनिष्ठादपि पदार्थेषु समाख्याबाध इति वाच्यं, क्त्वाप्रत्ययस्य
प्रयोजकत्वेनाप्युपपत्तेः प्रधानसमाख्याबाधकत्वानुपपत्तेः । एवं
द्वन्द्वतानिष्ठसमाख्याऽपि प्रयोजकत्वाभिप्रायेणैव व्याख्येया । अत-
स्स्मारणमात्रं याजमानं पदार्थास्त्वाध्वर्यवा एव ॥ ९ ॥

(१०)—विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादि-
तरमन्यस्तेषां यतोऽविशेषस्स्यात् ॥ २१ ॥

दैक्षे पशौ यूपपरिव्याणे आध्वर्यवः करणमन्त्रः “परिवो-
रासि” इत्ययं श्रुतः । तथा “युवा सुवासाः” इत्ययं क्रियमा-
णानुवादी हौत्रोऽपि । तौ च द्वावपि “यूपाय परिवीयमाणा-
यन्नुह्वहि” इति प्रैषवशादेतदुत्तरपाठाच्चैतत्प्रैषाव्यवहितोत्तरक्षणे
एककालीनौ, सङ्गपरिव्याणभावनाकरणैस्मानकालीनत्वाच्च क्रिय-
माणानुवादित्वाविशेषः । सोमविकृतौ च कौण्डपायिनामन्त्रेणैव
यैव प्राप्तौ । तत्र च “यो होता सोऽध्वर्युः” इति श्रुतम् । त-

स्य च सत्रत्वात् सत्रे चानतिप्रयुक्तवरणजन्यहोतृत्वाध्यवर्त्यत्वादे-
 रानत्यभावेनाभावात् “यो होता” इत्यत्र होत्राध्यवर्त्यपदाभ्यां त-
 त्कार्यलक्षणया कार्यद्वयेऽप्येककर्तृकत्वं विधीयते । अतश्चैपदेशि-
 कैककर्तृकत्वबलेन प्राकृतैककालकत्वबाधात् प्रथमतः करणमन्त्रः
 पश्चादपर इत्यायः पक्षः । होतृत्वादेरध्यवसायमात्रनिमित्तकत्वस्य
 स्थापितत्वात् सत्रेऽपि तत्सम्भवेन पदद्वये कार्यलक्षणायां प्रमा-
 णाभावात् जघन्य एवाध्यवर्त्यपदे तल्लक्षणामङ्गीकृत्याध्यवर्त्यवपदार्था-
 नां होतृसंस्कारकत्वेन विधानम् । अप्राकृतकार्यकारित्वापत्तेः हो-
 तृपदे कर्मत्वलक्षणापत्तेश्च होतैव वा तत्कर्तृत्वेन विधीयते । त-
 थाऽपि तु “परिधौ पशुं नियुञ्जोत” इत्यत्र परिधित्वाविरोधे-
 नैव होतृत्वाविरोधेनैव कर्तृत्वविधानात् होत्रः क्रियमाणानुवा-
 दैव तेन प्रयोक्तव्यः । अपरस्तु तेन कालान्तरे/ अन्येन वा त-
 त्पुरुषेण तस्मिन्नेव काले प्रयोक्तव्यः । इति प्राप्ते—

पुरोडाशकपालवदग्निपरिधानार्थस्यैव परिधेः पशुनियोजने
 विनियोगाद्युक्तं परिधिधर्माणां सत्वत्वादीनां प्राबल्यम् । प्रकृ-
 ते त्वध्यवसायनिमित्तहोतृत्वेनैवाध्यवर्त्ये विनियोगाद्भोतृकार्यस्य
 प्रयोजकत्वकल्पने प्रमाणाभावादाध्यवर्त्यस्य करणस्यैव प्रत्यक्ष-
 वाक्यावगतशेषित्वेन प्राबल्यान्नातिदेशिकसमाख्याप्रमाणकक्रिय-
 माणानुवादिनः प्राथम्यम् । न वा कालान्तरे तस्य होत्रा पाठः ।
 “स उ श्रेयान् भवति” इति लिङ्गावगतक्रियमाणानुवादित्वबा-
 धाप्रसङ्गे । नापि करणमन्त्राव्यवहितोत्तरक्षणे होत्रा तस्य पाठः
 “धूम्रय” इत्यादिप्रैषे होतुः कर्तृत्वेन प्रैषार्थं तदसम्भवात् ।
 अतस्तस्मिन्तत्काल एव होतृपुरुषोऽन्यः कश्चिदन्तरङ्गोऽर्ध्यादिः
 कर्ता । तस्य कार्यान्तरन्यापृतौ तु बहिरङ्गोऽपि ॥ १० ॥

(११)—प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥ २२ ॥

“प्रोक्षणीरासादय” इत्यादयः प्रैषाः, प्रैषार्थाश्च प्रोक्षण्या-
सादनादयस्समाख्यानादध्वर्युणैवैकेन कर्तव्याः । न च स्वस्मिन्
स्वस्य प्रैषानुपपत्तिः “चेतो वृथा खिद्यसे” इत्यादाविव स्व-
स्मिन्नपि स्वस्योपदेशसम्भवात् । वस्तुतो नैवायं प्रैषः अपि तु
“प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च” इति चकारेण लौटोऽपि प्रा-
प्तकालतायां विधानात्प्राप्तकालतायामयं लोट् । प्रोक्षण्यासादनस्य
प्राप्तः काल इति । युष्मदर्थको मध्यमपुरुषस्तु साधुत्वार्थः ।
अथवा हे प्रोक्षण्यासादन तव प्राप्तः काल इति क्रियायां चेतन-
त्वाध्यारोपेण सः । यत्र तु ‘अग्नीदग्नीन् विहर’ इत्येवं प्रैषस्तत्रास्तु
सम्बोधनानुरोधेन प्रैषार्थस्याग्नीध्रकर्तृकत्वम् । वस्तुतस्तु हे अ-
ग्नीन् ममाग्निविहरणस्य प्राप्तः कालः इति व्याख्यातुं शक्य-
त्वात् न तत्रापि समाख्याबाध इति प्राप्ते

समाख्यानुरोधेन मध्यमपुरुषस्य साधुत्वेन क्रियायां चैत-
न्याध्यारोपेण व्याख्याते प्रमाणाभावात्सम्बोधनमध्यमयोश्चाहृष्टा-
र्थत्वापत्तेः प्रैषत्वसमाख्याबाधापत्तेश्च प्राप्तकालार्थकत्वानुपपत्तेः
प्रैषस्यापि स्वस्मिन्नौपचारिकत्वापत्त्या एकत्राध्वर्युसमाख्याबाधे-
नोभयोर्भिन्नकर्तृकत्वमेव ॥ ११ ॥

(१२)—अध्वर्युस्तु दर्शनात् ॥ २३ ॥ गौणो
वा कर्मसामान्यात् ॥ २४ ॥

तत्रापि बहुषु प्रधानभूतेषु प्रैषार्थेषु समाख्याबाधे प्रमाणा-
भावादेकस्मिन् “प्रोक्षणीरासादय” इत्यादिप्रैष एवाध्वर्युबाधेना-
न्यकर्तृकत्वम् । अत एव “तिर्यञ्चं स्फ्यं धारयित्वा सस्पृशमाह
यद्यन्वञ्चं धारयेत् स्फ्यो वज्रेणाध्वर्युं क्षिण्वीत” इति धार-
यितुर्भिन्नमध्वर्युं दर्शयतीति प्राप्ते—

प्रेषार्थेष्वन्यकर्तृकत्वेऽपि प्रयोजकत्वेनाप्यध्वर्योः कर्तृत्वोप-
पत्तेस्समाख्यायाः कुत्राप्यबाधात् प्रैषार्थान् अन्य एव कुर्यात् ।
प्रेषोच्चारणं त्वध्वर्युः । स च सोमादावसति विषेशवचने प्रति-
प्रस्थात्रादिस्तत्पुरुषः । दर्शादौ त्वाग्नीध्र एव, कर्मकरत्वेन या-
ज्ञिकप्रसिद्धत्वादिति ध्येयम् । यत्तु लिङ्गं, तत् यद्यध्वर्युरन्वञ्चं
धारयेत् तदा स्फ्यस्तं क्षिण्वीतेत्यर्थेऽपि बाधकाभावात् धारण-
प्रेषयोराध्वर्यवत्त्वेऽप्युपपन्नम् । स्फ्यधारणमपि कल्पसूत्रेष्वध्वर्य-
वमेव प्रसिद्धमित्यत्रत्यवार्तिकं प्रौढिवादः ॥ १२ ॥

(१३)—ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ॥ २५ ॥

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ २६ ॥ लिङ्ग-

दर्शनाच्च ॥ २७ ॥

ये इतिकरणेन तृतीयया वा विनियुक्ताः करणमन्त्रास्तेषां
माश्रवणिकक्रियाजन्यफलकत्वं, न तु “आयुर्दा अग्ने” इत्यादि-
वत् प्रधानफलानुवादकत्वमित्युक्तं कौस्तुभे^१ ।

तदत्र “ममाग्ने वर्चो विहवेष्विति पूर्वमग्निं परिगृह्णाति”
इत्यादावग्रथन्वाधानक्रिया तावदाध्वर्यवी, मन्त्रलिङ्गवशेन प्रधानभू-
तक्रियायां समाख्याप्राप्तकर्तृबाधानुपपत्तेः । न च याजमानेन मन्त्रे-
णाध्वर्युगतक्रियाप्रकाशनं, “वयं त्वेन्धानाः” इति मन्त्रलिङ्गेन क्रि-
यासमानकर्तृकत्वस्य मन्त्रे प्रतीतेः । अतश्च मन्त्रक्रिययोरुभयोरप्या-
ध्वर्यवत्त्वात्फलमपि वर्चःप्रभृति तद्वत्तमेव, अन्यथा “ममाग्ने” इति
“मह्यं नमन्तां” इत्यादिमन्त्रलिङ्गविरोधापत्तेः । न च साङ्गप्रधा-
नविधायिफलवाक्यगतात्मनेपदानुरोधेनाङ्गफलानामपि स्वर्गका-

^१ मन्त्राधिकरणे.

मकर्तृकत्वावगतेर्यजमानगामित्वमिति वाच्यं, श्रुतस्याप्यात्मनेपदस्य सावकाशतया तेन कल्पितस्यापि लैङ्गिकस्याध्वर्युवृत्तित्वस्य बाधानुपपत्तेः । न चात्मनेपदार्थस्यैतद्विषये बाधे विधेरग्न्यन्वाधानविषयेऽनुष्ठापकत्वस्यापि बाधापत्तिः, प्रमाणाभावात् । अतोऽग्नि-संस्कारार्थानुष्ठापितक्रियाजन्यानुषङ्गिकफलस्य कृत्वनुपपत्तिमिदोऽप्याध्वर्यवत्वेऽपि न काचित्क्षतिरिति प्राप्ते—

“यां कां चत्त यज्ञे ऋत्विज आशिषमाप्तासते यजमान-स्यैव सा” इत्यनन्यथासिद्धलिङ्गानुगृहीतात्मनेपदश्रुत्या यजमान-गामित्वावगतेरितिलिङ्गबलादेव च यत्र नात्मनेपदश्रवणं यथा ‘जु-हुयात्’ इत्यादौ तत्रापि यजमानगामित्वम् । अतश्च तदनुरोधेन “मम” इति मम यजमानस्येत्येवं व्याख्येयम् । ‘मह्यं’ इत्यादौ तु अस्मच्छब्देन यजमान एवोपचारादभिधीयते इति न दोषः ॥

प्रयोजनं सत्रेऽग्न्यन्वाधानाभावादुहानूहरूपप्रयोजनासम्भवेऽप्यर्थानुसन्धानविशेषरूपं द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

(१४)—कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिर्न प्रत्य-
र्थवत्त्वात् ॥ २८ ॥

यत्र तु “मा मा सन्ताप्तं” इत्यादौ इतिकरणविनियुक्त एवा-सन्तापनादिरूपं फलं ऋत्विग्गामित्वेऽपि क्रतुविरोधिसन्तापनि-वर्तकतया तदुपयोगि तत्र “यजमानस्य सा” इति षष्ठ्याः परम्परयाऽप्युपपत्तेर्लिङ्गानुरोधात् ऋत्विग्गाम्येव ॥ १४ ॥

(१५)—व्यपदेशाच्च ॥ १२ ॥

एवं यत्रापि “तन्नौ सह” इत्यादौ द्विवचनाद्यनुपपत्ति-स्तत्रापि ऋत्विग्गामित्वम् ॥ १५ ॥

(१६)—द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात्सर्वकर्म-
णाम् ॥ ३० ॥ निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्या-
नधिकारः ॥ ३१ ॥

बहिर्धर्माणां प्रकृतावङ्गप्रधानसाधारण्यमुक्तम्^१ । अतश्च दै-
क्षपशावपि “बहिषा यूपावटमवस्तृणाति” इति विहिते यूपा-
वटस्तरणबहिष्यपि दार्शिका बहिर्धर्मा भवेयुरिति प्राप्ते—

प्रकृतौ “बहिषि हवींष्यासादयति” इति वचनादङ्गप्रधा-
नसाधारणहविरासादनार्थ एव बहिषि धर्माः, न कार्यमात्रार्थे
इत्युत्तराधिकरणे वक्ष्यते । यद्यपि वा परिभोजनीयादिवत् प्रा-
कृतकार्यमात्रार्थत्वं स्यात्, तथाऽपि नाप्राकृतकार्ये यूपावटस्तर-
णार्थे बहिषि भवेयुः, उपकारपृष्ठभावेनैव पदार्थानामतिदेशेन
विकृतावप्राकृतकार्यकारित्वकल्पनानुपपत्तेः । न हि प्रकृतौ येन
केन चित्सम्बन्धेनापूर्वसम्बन्धिबहिष्प्रमुद्धेयतावच्छेदकं, येनाप्राकृ-
तस्यापि तत्सम्बन्धाद्धर्मग्राहकत्वं शङ्क्येत, सम्बन्धविशेषग्राहकप्र-
माणबलेन तावद्विशेषाणामैव प्रवेशेनानुपस्थितसामान्यस्योद्देश्य-
तावच्छेदकोटावप्रवेशात् । न च तथाऽपि यूपावटस्तरणभाव-
नाया धर्माणां धर्माणामेव फलचमसन्यायेन^२ धर्मग्राहकत्वं, लौ-
किकधर्मग्रहणेनापि आकाङ्क्षानिवृत्तौ उपदेशातिदेशयोरभावात् ।
फलचमसे तु स्थानापस्या भक्षानुवादबलाच्चातिदेशकल्पनमिति
विशेषः ॥ १६ ॥

(१७)—विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तशेषे ॥ ३२

प्रकृतावपि न समन्त्रकबहिर्लवनादिधर्माणां प्रकृत्यपूर्वसम्ब-
न्धिबहिर्मात्रार्थत्वं, अपि तु हविरासादनार्थबहिरर्थत्वमेव । अत एव

पवित्रविधृत्यादिबर्हिषि नैते संस्काराः । “त्रिधा तु पञ्चधा तु वा बर्हिर्लुंनाति” इति विहितलवनसंस्कृतस्य बर्हिषस्तथैव सन्नद्धस्यासादितस्य “त्रिधा तु पञ्चधा तु वा बर्हिस्स्तृणाति” इति वचनेन सर्वस्यैव स्तरणे विनियोगात् । अमन्त्रकलवनमात्रसंस्कृतस्य परिभोजनीयबर्हिषः प्राकृततदितरसर्वकार्यार्थत्वेन तत एव पवित्रादिकरणोपपत्तेः ॥ १७ ॥

(१८)—अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥ ३३ ॥

सोमे “पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवपात्रे प्रास्यति, आमिक्षां मैत्रावरुणपात्रे, धाना आश्विनपात्रे” इति श्रुतम् । तत्र शकलपदस्योत्तरार्धादिपदवदेकदेशवाचित्वेन स्वतन्त्रपुरोडाशाक्षेपकत्वाप्रसक्तेः प्रातस्सवनिकसवनीयपुरोडाशावयवपरत्वं तावन्निर्विवादम् । आमिक्षादौ तु तदभावात् “पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति” इतिवत् लौकिकामिक्षादिग्राहकत्वेनोपपत्तौ क्लृप्तप्रतिपत्तिबाधेन सवनीयगततद्ग्राहकत्वे प्रमाणाभाव इति प्राप्ते—

द्वितीयया प्रासनस्यामिक्षादिप्रतिपत्तिव्यावगमात् तदंशे औपदेशिक्या तथा आतिदेशिकप्रतिपत्तिबाधोपपत्तेः प्रातस्सवनिकसवनीयसम्बन्धिनामेव पुरोडाशादीनां ग्रहणम् ॥ १८ ॥

(१९)—विकृतौ सर्वार्थद्व्यशेषः प्रकृतिवत् ॥

३४ ॥ मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥

अनारभ्य “यज्ञाथर्वणं वै काम्या इष्टयस्ता उपांशु कर्तव्याः” इति श्रुतमुपांशुत्वं प्रधानवदङ्गेष्वपि मन्त्रोच्चारणसत्त्वात्

काम्यशब्दस्य च कामप्रयोजकत्वेनाङ्गेष्वपि प्रयोगोपपत्तेः, जन-
कत्वमात्रपरत्वेऽपि चोद्देश्योष्टिविशेषणत्वेनाविवक्षितत्वादिष्टोनमे-
वाविवक्षितत्वे सोमेऽपि तदापत्तेः साङ्केष्टञ्जमिति प्राप्ते—

अङ्गेषु कचिदपि काम्यशब्दप्रयोगाभावात् जनकत्वसम्ब-
न्धेन प्रधानमात्रपरत्वावगतेः काम्यत्वेष्टित्वोभयपरामर्शकतच्छ-
ब्दस्य चोद्देश्यपरत्वेनोभयविवक्षोपपत्तेः प्रकृतौ प्राकरणिकत्रैस्व-
र्यावरोधे निवेशासम्भवेऽपि काम्यविकृतीष्टिप्रधानमात्रे निवेशः ।
न ह्यत्र “उच्चैः प्रवर्ग्येण” “अप्स्ववभृथेन” इत्यादिवत् करण-
विभक्तिनिर्देशः, येन साङ्गस्य भवेत् । तव्यप्रत्ययेन कर्मत्वाभि-
धानात् प्रधानमात्र एव निवेशः ॥ १९ ॥

(२०)—सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ॥

इयेने “दतिनवनीतमाज्यं भवति” इति श्रुतं दतिनव-
नीतं प्रकरणाच्छयेनप्रधानाङ्गम् । न ह्यत्राज्यानुवादेन दत्यधिकर-
णकनवनीतप्रकृतिविधिः, आज्यस्य नवनीतप्रकृतिकत्वस्य प्राप्त-
त्वात्/तदनुवादेन दत्यधिकरणत्वाविधावेकप्रसरताभङ्गापत्तेश्च ।
अतो बहुव्रीहिसमासार्थ एवैको दत्यधिकरणकनवनीतप्रकृतिकं
सन्निधानाच्छयेने द्रव्यतया विधीयते । आज्यपदं तु तस्यैव नव-
नीतप्रकृतिकत्वादनुवादः अन्यपदार्थतात्पर्यग्राहकं चेति नानेक-
विधेयता । अत एव इयेनोप्याज्यद्रव्यकत्वादुपांशुयाजविकार एव ।
गमकान्तरसत्त्वे तु सोमप्रत्यास्नायमात्रमाज्यमिति प्राप्ते—

विशिष्टविधिगौरवाद्यापत्तेरतिदेशप्राप्ताज्योद्देश्यपरत्वमेवाज्य-
शब्दस्याङ्गीकृत्य तदुद्देशेन दत्यधिकरणकनवनीतप्रकृतिकत्वमेव
प्रसङ्गेगान्तःपातितया विधीयते । आज्यं चाङ्गेष्वेव प्राप्तमिति
तन्मात्रविषयता ।

यत्तु दृतिनवनीतपदस्य तत्पुरुषपदमङ्गीकृत्य दृत्यधिकरण-
कमवनीतमेवान्यपदलक्षिततत्कार्योद्दिशेन द्रव्यतया पक्षधृतसंपाज्यप्र-
त्याभ्यायत्वेन विधीयत इति न्यायसुधाकृतोक्तं, तत् आज्यपक्षे
साम्प्रतिकलक्षणापक्षेस्तदपेक्षयाऽऽनुशासनिकनिरुद्धलक्षणपदक-
बहुमीहाङ्गीकारस्यैव न्याय्यत्वादुक्तमतम् । यदि तु किञ्चिद्भक्तान्तरं
भवेत् तदा तदेवास्तु ॥ २० ॥

(२१)—आधानेऽपि तथेति चेत् ॥ ३७ ॥ ना

प्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३८ ॥

सर्वत्र धर्माणां अनारभ्याधीतप्राकरणिकसाधारण्येनापूर्वो-
पकारक एवान्वयात्पवमानेष्टाधानादीनामपि न इयेनापूर्वोपका-
रकत्वात् तत्रापि दृतिनवनीतमिति प्राप्ते—

यदुपकारकता वैधप्रमाणप्रमिता तदुपकारक एव धर्माणां
निवेशः । न तु अर्थसमाजग्रस्तोपकारकत्वेऽपि, इयेनोपकारकयज-
मानाज्यभोजनादावपि दृतिनवनीतत्वापत्तेः । न चाधानादेइये-
नोपकारकत्वं शास्त्रे प्रमितम्, अग्निमात्रार्थत्वस्यैव तत्प्रमितत्वात् ।
अतइयेनप्रयोगकर्तितदुपकारकाज्य एव तन्निवेशः ॥ २१ ॥

(२२)—तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥ ३९ ॥ स-

र्वेषां वाऽविशेषात् ॥ ४० ॥ न्यायोक्ते लि-

ङ्गदर्शनम् ॥ ४१ ॥

एवं चेत्सुत्याकाल एव इयेनवैशेषिकाणां “सहपशूनाल-
भते” इत्यादीनां दर्शनात् दृतिनवनीतत्वस्यापि सुत्याकालाङ्गा-
ज्य एव निवेश इति प्राप्ते—

साक्षात्प्राप्तोद्देशेन वाक्यसङ्कोचायोगात्सर्वार्थत्वम् । न हि-
पशुसामहित्यस्यापि सुत्याकालत्वे श्येनाङ्गत्वं प्रयोजकं, अपि तु
प्रधानप्रत्यासत्तितुल्यकालोत्कर्षवाक्याबाधरूपहेतुत्रयम् । न चात्र
तदस्ति । अतस्सर्वार्थतैव ॥ २२ ॥

(२३)—मांसं तु सवनीयानां घोदमाविशेषात् ॥

४२ ॥ भक्तिरसनिधायन्यायेति चेत् ॥

४३ ॥ स्यात्प्रकृतिलिङ्गद्वैराजवत् ॥ ४४ ॥

षट्त्रिंशदादिके शाक्यनामयनाख्ये सत्रे “संस्थिते सं-
स्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति तत्र यान् मृगान् हन्ति तेषां
तरसास्सवनीयाः पुरोडाशा भवन्ति” इति श्रुतं मांसं “भव-
न्ति” इति विधिभावनाप्रत्यासन्नत्वात्पुरोडाशस्य तदुद्देशेनैव
विधीयते । विधेरेष हि प्रवर्तनार्थं भावनाभाव्यसाकाङ्क्षत्वम् ।
अतस्तत्प्रत्यासन्नस्यैव तदुचितं, न सवनीयानाम् । यदा तु
“पुरोडाशास्सवनीयाः” इति भवदेवाविधृतः पाठस्तदा प्राथ-
मिकत्वाद्विधेयतरसप्रत्यासन्नत्वाच्च पुरोडाशकार्यस्यैवोद्देश्यत्वं स्प-
ष्टमेव । न च पुरोडाशस्य सवनीयपदेन विशेषणं, विशिष्टोद्दे-
शापत्तेः । अतस्सर्वपुरोडाशकार्ये तरसं विधीयते । सवनीयपदे
तु सवनीयासवनीयपुरोडाशमात्रे गौणं लाक्षणिकं वा । अतः
पुरोडाशमात्रस्थाने तरसं, न धानादिस्थाने इति प्राप्ते—

सवनीयपदवत्पुरोडाशपदेऽपि कार्यलक्षणापत्तेः प्राथमिक
सवनीयपदमेव सवनीययागोद्देश्यतापरम् । प्रथमायास्तु द्विती-
यार्थे लक्षणोभयवासिद्धैव । अतस्सवनीययागोद्देशेनैव धाना-
दिपञ्चकबाधेन तरसं विधीयते । पुरोडाशपदं त्वेकं जघन्यं च

पुरोडाशवत्त्वसम्बन्धेन सवनीययागेषु लाक्षणिकमनुवादः । इ-
ष्टञ्च “पुरोडाशानलंकुरु” इत्यादौ पुरोडाशशब्दस्सवनीयसम्ब-
न्धिहविःपर इति तस्य सवनीययागलक्षकत्वं सुकरमेव ॥

तदेवं श्रुत्यादिषट्प्रमाणकमङ्गत्वं निरूपितम् । अतः परं प्र-
योज्यत्वं निरूपयिष्यते ॥ २३ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

तृतीयस्याध्यायस्याष्टमः पादः.

अध्यायश्च समाप्तः.

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः.

(१)—अथातः ऋत्वर्थपुरुषार्थयोजिज्ञासा ॥ १ ॥

एवं सिद्धे शेषिनिरूपिते शेषत्वे प्रयोजकनिरूपितं प्रयो-
ज्यत्वमिदानीं निरूप्यते । तच्च परोक्षेशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वम् ।
कृतिव्याप्यत्वं चानुष्ठाप्यत्वरूपं कालादिव्यावृत्तं वाजपेयाधिक-
रणे^१ कौस्तुभ एवोपपादितम् । अतश्च कालादेः कृतिकारकत्व-
घटिताङ्गत्वसत्त्वेऽपि प्रयोज्यत्वाभावः, अङ्गत्वाच्च प्रयोज्यत्वस्य
भेदः । तेन यदुद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वं यस्य तत् तत्प्रयोज्यं,
यथा दध्यानयनप्रयाजादि आमिक्षादर्शपूर्णमासादेः । यन्निष्ठकृति-
व्याप्यतानिरूपितोद्देश्यताशालि यत् तत् तस्य प्रयोजकं, यथा
आमिक्षादर्शादि दध्यानयनादेः । उद्देश्यता चात्रानुपादेयपञ्चक-

साधारणी ग्राह्या, तेन कालानिमित्तादेः प्रयोजकत्वाविघातः । यद्यपि विधिरेव सर्वत्रानुष्ठापकः प्रवर्तनारूपत्वात् । प्रवर्तनारूपो हि विधिः इष्टसाधनत्वमिव कृतिसाध्यत्वापरपर्यायं प्रयोज्यत्वमपि विषयस्याक्षिपतीति भवति प्रयोजकः, तथाऽपि यदुद्देशेन प्रयोजयति तस्यापि प्रयोजकत्वव्यवहारश्चास्ति । अत्र च यद्यपि न प्रयोज्यत्वावच्छेदेन तन्निरूपणं प्रति शेषत्वनिरूपणस्य हेतुत्वं, निमित्ताद्यङ्गत्वाभावेऽपि नैमित्तिकस्य तत्प्रयोज्यत्वेनाङ्गत्वे व्यापकत्वस्येव, पुरोडाशकपालादेस्तुषोपवापं प्रति कारकत्वेनाङ्गत्वसत्त्वेऽपि तत्प्रयोज्यत्वाभावेन व्याप्यत्वस्याप्यभावात् । अतो * नावच्छेदकावच्छेदेन हेतुहेतुमद्भावः, तथाऽपि कचिद्ध्यानयनादिनिष्ठप्रयोज्यत्वनिरूपणे तन्निष्ठशेषत्वनिरूपणस्य उपयोगात्सामानाधिकरण्येन तन्निरूपणं प्रत्यङ्गत्वनिरूपणस्य हेतुत्वात्सङ्गत्युपपत्तिः । अत्र प्रयोज्यत्वं कचित् क्रत्वर्थपुरुषार्थविचारद्वारेण कचिदन्यद्वारेण निरूप्यते कचित्साक्षादेवेति प्रयोज्यत्वमेवाध्यायार्थः । क्रत्वर्थपुरुषार्थत्वं तु तृतीयसिद्धमप्युदाहरणविशेषनिष्ठतया प्रयोज्यत्वसिद्धयर्थं विचार्यत इति विवेकः ॥ १ ॥

(२)—यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सारथलक्षणाविभक्तत्वात् ॥ २ ॥

वक्ष्यमाणयोः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्लक्षणमुच्यते । तत्र तन्त्ररत्ने तावत् स्वयंप्रार्थितसाध्याधीनानुष्ठानं पुरुषार्थः । तदुपका-

* पुरोडाशकपालादेस्तुषोपवापं प्रति कारकत्वेनाङ्गत्वसत्त्वेऽपि तत्प्रयोज्यत्वाभावात्, निमित्ताद्यङ्गत्वाभावेऽपि नैमित्तिकस्य तत्प्रयोज्यत्वाच्च । अत उभयतो व्यभिचारादेव “निमित्त” इत्यारभ्य “अतः” इत्यन्ते ग्रन्थे पाठान्तरमिदम्.

रकं क्रत्वर्थ इत्युक्तम् । तन्न । फले काम्यकालादौ “न कलञ्जं भक्षयेत्” इति निषेधेषु चाव्याप्त्यापत्तेः, अनुष्ठेयत्वाभावात्, निषेधेषु स्वयंप्रार्थितसाध्याप्रसिद्धेश्च । क्रत्वर्थलक्षणस्य आधानादावतिव्याप्तेश्च ।

यदपि शास्त्रदीपिकायां इतिकर्तव्यतात्वेनान्वितत्वं क्रत्वर्थत्वं तद्भिन्नत्वं करणफलवृत्तिपुरुषार्थत्वमित्युक्तम् । तदपि न, क्रत्वर्थनिषेधानामक्रियात्वेनानितिकर्तव्यतात्वेन तैष्वव्याप्तेः, आधानाध्ययनयोरुभयभिन्नत्वस्य तन्त्ररत्ने त्वदुक्तत्वेन तत्र पुरुषार्थलक्षणस्यातिव्याप्तेश्च । तस्मात् स्वयंप्रार्थितवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताकत्वं पुरुषार्थत्वम् । स्वयंप्रार्थितत्वं च शास्त्रानधीनेष्टसाधनताज्ञानजन्येच्छाविषयत्वं, स्वर्गपश्वादौ हीष्टसाधनता न शास्त्रगम्या । इदं च स्वर्गस्य देशविशेषरूपत्वे । सुखविशेषरूपत्वे तु शास्त्राधीनेष्टसाधनताज्ञानाजन्येच्छाविषयत्वमप्यम् । यागक्रतूपकारादौ तु सा शास्त्रगम्येति ते न स्वयंप्रार्थिताः, स्वर्गादयश्च तथा । अतः तदुद्देशेन विधीयमानयागादिर्भवति प्रार्थः । फलस्य पुरुषार्थत्वव्यवहारो भाक्त इत्युक्तमेव “फलं च पुरुषार्थत्वात्” इत्यत्र । उद्देश्यताविधेयत्वे च स्वरूपसम्बन्धरूपविषयताविशेषात्मके लक्षणघटके, न तु साध्यत्वानुष्ठेयत्वात्मके । तेन निषेधस्थले नरकाभावोद्देशेन निवृत्तिविधानात्फलोद्देशेन च कालविधानान्नाव्याप्तिः । पुरुषार्थेष्वभ्यनुज्ञाविधिषु च दोषाभावोद्देशेन तत्तत्क्रियाविधानान्नाव्याप्तिः । एवं च स्वयंप्रार्थितभिन्नवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताकत्वमेवेह क्रत्वर्थत्वम् । क्रतुशब्दो ह्यस्मिन् प्रकरणे स्वयमप्रार्थितपरः । तेनाधानाध्ययनयोः ज्योतिष्टोमाद्यर्थत्वाभावेऽपि तादृशान्नर्थत्वज्ञानार्थत्वात्क्रत्वर्थत्वोपपत्तिः । क्रत्वर्थनिषेधेषु चोक्तविधया क्रतुवैगुण्यपरिहारोद्देशेन

मिवृत्तेर्विधेयत्वान्नाव्याप्तिः “ नातिरात्रे ” इत्यादौ च क्रतुसाद्रूप्य-
स्याङ्गान्तरजन्यत्वेऽपि षोडशिग्रहणाभावं प्रत्युद्देश्यत्वाविधातान्न
सा । एवं क्रत्वर्थाभ्यनुज्ञाविधिष्वपीति सर्वं समञ्जसम् ॥

यद्वा—नानेन लक्षणकरणम् । अपि तु—फलस्यापीतरांशवत्
भावनाविशेषणत्वाद्विधेयत्वम् । न ह्यन्यांशयोरपि विशेषणत्वातिरिक्तं
विधेयत्वम् । यदि तु विशिष्टभावनाविधावर्थादितरांशयोर्विधिरु-
च्येत तत् फलस्याप्यविशिष्टमिति प्राप्ते—

विशिष्टभावनाविधाने आर्थिकविशेषणविधेरावश्यकत्वात् त-
स्य च यदंशोऽप्राप्तिस्तदंश एव कल्पनात् फलस्य च रागप्रा-
प्तत्वेन तत्कल्पने प्रमाणाभावादविधेयत्वम् ॥

प्रयोजनं—पूर्वपक्षे श्येनफलस्याभिचारस्य विधेयत्वान्निषे-
धाविषयत्वम् । सिद्धान्ते तु रागप्राप्तत्वात् “ न हिंस्यात् ” इति
निषेधविषयत्वम् । न च हिंसाशब्दस्य मरणानुकूलव्यापारवा-
चित्वात्तस्य च वैरिमरणाख्याभिचारफलकश्येनरूपस्य विहित-
त्वात्कथं निषेधविषयत्वमिति वाच्यं, “ अभिचरन् यजेत ” इति
सामानाधिकरण्यात् श्येनसमानकर्तृकत्वावगतेः अभिचारपद-
स्य मरणानुकूलश्येनकर्तृनिष्ठविषदानादिरूपव्यापारवाचित्वावगते-
स्तस्यैव श्येनफलत्वावसायात् रागप्राप्तस्य निषेधविषयत्वोपपत्तेः ।
एवं चावश्यं श्येनेन विषदानाद्युत्पत्तिः तेन वैरिमरणं, न तु
श्येनेनैव साक्षादिति ध्येयम् । यत्तु—वैरिनिष्ठो मरणानुकूलव्या-
पार एवाभिचारपदार्थः तत्र च यजमानस्य श्येनद्वारा प्रयोज-
ककर्तृत्वमिति तस्य निषेधाविषयत्वेऽपि यजमानस्य पापोत्पत्ति-
रिति केनचिदुक्तम्, तच्छ्येनस्यैव प्रयोजकव्यापारत्वात्तस्य च
विहितत्वात् तत्कर्तृत्वेन यजमाने पापोत्पत्त्यनुपपत्तेरुपेक्षितम् ।

यत्र तु "वैरिमरणकामो यजेत" इति श्रुतं तत्र वैरिमरणानुकूलकर्तृनिष्ठलौकिकव्यापाराभावेऽपि वैरिमरणरूपपरानिष्टचिन्तनादेव पापमिति ध्येयम् । अभिचारार्थकर्मणस्तामसधर्मत्वस्मरणाद्वा तथा । प्रकृतेऽपि तथैवास्तु ॥

यद्वा—गोदोहनादीनां षष्ठीश्रुत्या पुरुषार्थत्वावगमेऽपि प्रकरणात्कृत्वङ्गत्वं, इतरथा प्रणयनस्य चमसलोपेनाङ्गाभावाद्द्वैगुण्यपत्त्या विगुणप्रणयनाश्रिताद्रुणादपि फलानुपपत्तेः । अत उपजीव्यत्वादुर्बलमपि प्रकरणं विनियोजकम् । अथवा षष्ठी सम्बन्धमात्रवाचिनी हीषादिन्यायेन^१ सर्वकामवाक्यप्राप्तपशुप्रयोजकप्रणयनजनकत्वसम्बन्धेनैव प्रकरणानुरोधेन पशूद्देशेन गोदोहनं विधीयते । न तु साक्षादिति प्राप्ते—

दुर्बलप्रकरणानुरोधेन परम्परासम्बन्धाङ्गीकारे प्रमाणाभावात् हीषादिवन्नियमविधिलाघवाभावाच्च साक्षादेवोद्देश्यत्वं पशूनाम् । प्रणयनवैगुण्यस्य च परप्रयुक्तगोदोहनजन्योपकारमात्रोपजीवनेन प्रणयनस्य तत्प्रयोगेऽनङ्गचमसाग्राहितयाऽनाशङ्क्यत्वात्पुरुषार्थत्वमेव तस्येति पशुप्रयुक्तमेव गोदोहनमिति स्वतन्त्रपशुकामनायामेव तत्कर्तव्यम् ॥

यत्तु भाष्यकारादिभिः "ब्राह्मणः प्रतिग्रहादिना द्रव्यमार्जयेत् जयादिना राजन्यः" इत्यादिविधिमुदाहृत्यानारभ्याधीतस्यापि प्रतिग्रहादिनियमस्य फलकल्पनाभिया कृत्वर्थत्वावसायात् तादृशविशिष्टोपायार्जितं द्रव्यमपि सर्वं कृत्वर्थमेव । अत एवाव्यभिचरितहिरण्यादिसम्बन्धात्तन्नाशे इष्ट्यादीनामपि कृत्वर्थत्वसिद्धिरिति पूर्वपक्षयित्वा श्रुत्याद्यभावाददृष्टकल्पनस्य कृत्वर्थत्व-

पक्षेऽपि तुल्यत्वान्नियमस्य क्रत्वर्थत्वानुपपत्तेः आर्जनस्य राग-
प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात्तदार्जितद्रव्यस्य दृष्टार्थत्वाद्विहिताविहितसा-
धारणपुरुषकृत्यमात्रशेषत्वमेव । इतरथा जीवनलोपात् सर्वतन्त्र-
परिलोपापत्तेः । किञ्च द्रव्यार्जनरूपाङ्गोपक्रमेण सर्वक्रतूनामुपक्र-
मात् “यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् अमावास्यां वा पौर्णमासीं
वाऽतिपातयेत्” इत्यनारम्भरूपातिपातदर्शनानुपपत्तिः । अत आ-
र्जनं तावत्पुरुषार्थं, नियमोऽप्यदृष्टार्थत्वेऽपि पुरुषार्थ एव । एवं
क्षामवत्यादयोपि पुरुषार्था एव, क्रत्वर्थत्वे प्रमाणाभावादिति सि-
द्धान्तितम्, तत् प्रतिग्रहनियमस्य फलकल्पनाभयात्क्रत्वर्थत्वे हिर-
ण्यधारणादेरपि क्रत्वर्थत्वापत्तेस्तेन गतार्थत्वाच्चोपेक्षितम् । किञ्च
नियमस्य क्रत्वर्थत्वेन भूतिवननादिवत् तदार्जितद्रव्यस्य क्रत्व-
र्थत्वेऽपि भोजनाद्यर्थमनियतद्रव्योपायाक्षेपप्रतिबन्धे प्रमाणाभा-
वान्न सर्वस्य द्रव्यस्य क्षामवत्यादीनां वा क्रत्वङ्गता । अत एव
सिद्धान्ते जीवनलोपापादनमसङ्गतम् । किञ्च अस्तु वा तत् त-
थाऽप्यतिपातनस्यानारम्भरूपत्वे प्रमाणाभावात् यागाकरणस्यास-
मापनस्यैवातिपातनत्वाङ्गोपकारेण तद्दर्शनोपपत्तिः । अनारम्भरूप-
त्वेऽपि वा द्रव्यार्जनस्य प्रयोगवाहिर्भूताङ्गत्वाङ्गीकारेण प्रयोगा-
न्तःपातेऽपि भूतिवननप्रयाजादिवदेव प्रातिप्रयोगावृत्त्यङ्गीकारेणाति-
पातदर्शने न काचिदनुपपत्तिः ।

वस्तुतस्तु नायं प्रतिग्रहादिनियमावधिः, फलकल्पनापत्तेः,
“प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वारयेत्” इति तस्य पापजन-
कत्वश्रुतेश्च । नापि प्रतिग्रहाद्यतिरिक्तोपायान्तरपरिसङ्ख्या, चो-
र्यादीनां सर्वसाधारणप्रतिषेधेनैव परिसङ्ख्यातत्वात्, सिलो-
च्छ्रदायादीनां मुख्यवृत्तित्वेन परिसङ्ख्यानुपपत्तेश्च, जयवाणि-
ज्यादीनां ब्राह्मणपुरस्कारेण आपवृत्तित्वविधानादेवानापदि प्र-

तिषेधाच्च । अतो ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहविधिः दायसिलोज्झाद्यसे-
म्भवे दोषाभावमात्रबोधकतयाऽभ्यनुज्ञाविधिरेव । दायसिलोज्झा-
दीनां तु निषिद्धत्वाभावात् मुख्यवृत्तित्वमेव । सोऽपि च “ त्री-
णि कर्माणि जीविका ” इत्यादिवचनात्प्रकरणाद्यभावाच्च पुरुषार्थः ।

“ न्यायागतेन द्रव्येण कुर्यात्कर्माणि वै द्विजः ।

अन्यायोपगतं द्रव्यं गृहीत्वा यो ह्यपण्डितः ।

धर्माकाङ्क्षी तु यजते न धर्मफलमश्नुते ॥ ”

इत्यादिवचनैस्तु मुख्यगौणसाधारणवृत्त्युपायानामधिकारिता-
रतम्येन कृत्वर्थत्वस्थापि बोधनात् संयोगपृथक्त्वन्यायेनोभयार्थ-
त्वेऽपि न दोषः । यदि तु सिलोज्झादेः क्वचित्फलश्रवणं भवेत्,
तदा जीवनाश्रितयावज्जीवसिलोज्झनियमस्यैव फलजनकत्वं बोध्यं,
न तु प्रतिग्रहस्येति व्यर्थोऽयं विचारः, कृत्वाचिन्तात्वेन वा
बोध्यः ॥ २ ॥

(३)—तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय, शास्त्रस्या-
नतिशङ्क्यत्वात् न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते ते-
नार्थेनाभिसम्बन्धात्क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥
३ ॥ अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फ-
लानि स्युः ॥ ४ ॥ अपि वा कारणग्रहणे
तदर्थमर्थस्यानभिसम्बन्धात् ॥ ५ ॥ तथा
च लोकभूतेषु ॥ ६ ॥

“ तस्य व्रतं ” इत्युपक्रम्य स्नातकपुरस्कारेण

“ नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तंयन्तं कदाचन ।

नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ”

इत्यादि प्रजापतिव्रतं श्रुतम् । तत्रापि भाष्यकारादिभिः प्रतिषेधत्वे पर्युदासत्वे चोभयथाऽपि फलकल्पनाभियां क्रत्वर्थ-
त्वमाशङ्क्य अनारभ्याधीतत्वात् श्रुत्याद्यभावेन क्रत्वर्थत्वानुपपत्तेः
पर्युदासत्वमङ्गीकृत्य पुरुषार्थत्वं सिद्धान्तितम् । तदपि कलञ्जभक्ष-
णप्रतिषेधहिरण्यधारणन्यायेन^१ क्रत्वर्थत्वशङ्कानुपपत्तेरुपेक्षितम् ।

विचारस्त्वैवमेवात्र कर्तव्यः । किमयं प्रतिषेधः पर्यु-
दासौ वेति । सिद्धान्ते आर्थवादिकफलप्रयुक्तत्वात् प्रतिषेधपक्षे
च तदभावादध्यायसङ्गतिः । तत्र नञः प्रधानान्वयस्याभ्यर्हित-
त्वाद्भावनान्वयव्युत्पत्तेर्धार्तवर्थाद्यन्वयस्य लक्षणादिभियाऽनुपपत्तेः ।
पर्युदासत्वायोगाद्वागप्राप्तोद्यदादित्येक्षणभावनायाः प्रतिषेध एवायं
पुरुषार्थः कलञ्जभक्षणादिप्रतिषेधवत् । अतश्च निषेधेनेक्षणस्या-
निष्टसाधनत्वाक्षेपेऽपि फलान्तराकाङ्क्षाभावान् “नैतावता हैनसा
युक्तो भवति” इत्यर्थवादिकपापक्षयफलकल्पनानुपपत्तेः नार्थवादि-
कफलप्रयुक्तत्वम् । अर्थवादस्त्विक्षणजन्यप्रत्यवायाभाव^२बोधनद्वारा
ईक्षणनिन्देति प्राप्ते—

“तस्य व्रतं” इति व्रतशब्देनोपक्रमस्थेनानुष्ठेयक्रियाप्रति-
पादनान् तदनुरोधेनोपसंहारस्थो निषेधोऽप्यनुष्ठेयामेव क्रियां वि-
धत्ते । अत एव नञीक्षतिभ्यामीक्षणाभावसङ्कल्परूपक्रियैव लक्ष-
णया विधीयते । मानससङ्कल्पस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यविनाभूतत्वात्
ईक्षतिरेव वा लक्षकः नञ्पदं तात्पर्यग्राहकम् ।

नचैवमुद्यदादित्यस्य पदार्थैकदेशे ईक्षणे अन्वयापत्तिः, का-
रकाणां प्रथमतो भावनान्वयस्यैव स्वीकारेणैकदेशान्वयाप्रसक्तेः ।
यन्मते हि सोमादीनां प्रथमत एव धात्वर्थेऽन्वयस्तन्मत एवेदं दूष-

^१ ३-४-१२.^२ वायात्पाप.

णं न त्वस्मन्मते । अतोऽनोप्सितकर्मत्वेन सक्तुवलक्षितकरणत्वेनैव वा भावनान्वयः । पार्ष्टिकान्वये तु समस्तपदघटितवाक्यस्यैव कल्पनाच्च कोपि दोषः । अतश्चोद्यदादित्येक्षणाभावसङ्कल्पभावनैवोदये निमित्ते विधीयते । णमुलादिवत् शत्रुप्रत्ययेन निमित्तत्वाभिधानात्, तत्फलं चार्थवादिकमघक्षयः । अतस्सिद्धं भावनातिरिक्ते नञः सम्बन्धात्पर्युदासः स च फलप्रयुक्त इति । नन्वेवमपि नञः भेदवद्वाचित्वस्य “तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञ्” इति प्रसिद्धेरुद्यत्पदेनैव सम्बन्धाङ्गीकारादुद्यद्भिन्नादित्येक्षणस्यैवाघक्षयफलकत्वेन विधानोपपत्तेर्न सङ्कल्पलक्षणा । न च सुबन्तसम्बन्धे नञ् समासापत्तिः, नानुयाजेष्वेतिवदुपपत्तेः । न च नञः आदित्यपदेन वा सम्बन्धः उद्यत्पदेन वेत्यत्र विनिगमकाभावः, विशेषसाकाङ्क्षत्वस्यैव विनिगमकस्य सत्त्वादिति चेत्—तथात्वेऽपि उद्यन्तमिति सुबन्तपदस्य निपातान्वयव्युत्पत्त्यभावेन उद्यद्भिन्नेऽपि पदद्वयलक्षणाया आवश्यकत्वात् । तथात्वे स्वभावेनैव तादृशादित्येक्षणस्य सर्वदा जायमानत्वेनाघक्षयोपपत्तेर्विधिवैफल्यञ्च । स्वरसतः प्रतीयमाननिषेधस्य सङ्कल्पलक्षणाऽप्यपरित्यागेन भवदुक्तपदुदासानुपपत्तेश्च । अस्मिन्नुदाहरणे तथाऽङ्गीकारेऽपि “न वारिस्थं” इत्यत्र “एकादश्यां न भुञ्जीत” इत्यादौ च सङ्कल्पलक्षणाया आवश्यकत्वाच्च ॥

प्रयोजनं स्पष्टमेव । सूत्राण्यप्यस्मिन्नेव विचारे सुधीभिर्योग्यानि ॥ ३ ॥

(४)—द्रव्याणि त्वविशेषेणानर्थक्यात्प्रदीयेरन् ॥

७ ॥ स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथ-

गर्थत्वात् तस्माद्यथाश्रुति स्युः ॥ ८ ॥ चो-
द्यन्ते चार्थकथासु ॥ ९ ॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥

“स्फ्यश्च” इत्याद्युपक्रम्य श्रुतस्य यज्ञायुधवाक्यस्य तृ-
तीये^१ उदाहृतस्यैव साक्षात्प्रधानभूताग्नेयाधुद्देशेन, उत्पात्तवाक्या-
विहितद्रव्यकोपांशुयाजोद्देशेनैव वा स्फ्यादिद्रव्यविधायकत्वं, इत-
रथा समस्तवाक्यवैयर्थ्यापत्तेः, यज्ञशब्दस्य तत्साधनोद्जननादि-
लक्षकत्वापत्तेश्च । तस्मादुद्जननादिवाक्यैस्स्फ्यादीनामुद्जननाद्यर्थ-
त्वेऽप्याज्येन सह विकल्पेनोपांशुयाजार्थत्वमपीति प्राप्ते—

सम्भरणविध्येकवाक्यत्वादस्य तदर्थवादत्वेनाप्युपपत्तेरन-
न्यशेषभूतेन “सर्वस्मै वै” इति वाक्येन विहितस्याज्यस्य
पाक्षिकत्वापादकत्वानुपपत्तेः, उद्जननादिक्रियाभेदेऽपि च दशत्वस्य
सम्भरणरूपैकक्रियासम्बन्धादेवोपपत्तेरायुधशब्दस्य च प्रयो-
जकत्वमात्रलक्षणयाऽप्युपपत्तौ साधनत्वलक्षकत्वाभावात् यज्ञश-
ब्देऽपि तदनापत्तेर्नैतस्य स्फ्यादिविधायकत्वम् । तदेतदर्थवाद-
त्वस्य तृतीयसिद्धत्वेन पूर्वपक्षोत्थानाभावेऽपि शिष्यहितार्थमुक्त-
मिति द्रष्टव्यम् ।

यत्त्वत्र भाष्यकारादिभिर्लिङ्गमुक्तं स्फ्याद्याकारस्य द्वयवदा-
नेन विकलत्वात् पूर्वपक्षे परिधानीये कर्मणि “आहिताग्निमाग्नि-
मिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च” इति यज्ञपात्रकरणकदाहानुपपत्तिरिति,
तत् पूर्वपक्षे उद्जननाद्यर्थपात्राणां पृथक्सत्त्वात् तेषां च यज्ञ-
साधनत्वाभावेऽप्यायुधशब्दाभावेन प्रयोजकतयैव यज्ञपात्रत्वोप-
पत्त्या दाहोपपत्तेरुपेक्षणीयम् ॥ ४ ॥

(५)—तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥

११ ॥ एकश्रुतित्वाच्च ॥ १२ ॥ प्रतीयत
इति चेत् ॥ १३ ॥ नाशब्दं तत्प्रमाणत्वा-
त्पूर्ववत् ॥ १४ ॥ शब्दवत्तूपलक्ष्यते तदा-
गमे हि तद्दृश्यते तस्य ज्ञानं हि यथाऽन्ये-
षाम् ॥ १५ ॥ तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ १६ ॥

“पशुना यजेत” इत्यादौ यत्रोपादेयपश्वादिगता सङ्ख्या विभक्त्युपात्ता, सा किं विवक्षिता न वेति चिन्तायां “सत्त्वप्रधानानि नामानि” इति स्मृत्या प्रातिपदिकार्थपश्वादेर्विभक्त्युपात्तसङ्ख्याविशेष्यत्वरूपसत्त्वसमाख्यया विभक्त्युपात्तसङ्ख्यायाः प्रातिपदिकार्थं प्रति पदश्रुत्या योग्यतारूपलिङ्गेन च विशेषणत्वावगमात् वाक्यीयक्रियान्वयानुपपत्तेः तदभावेऽपि क्रियाया अवैगुण्यान्न विवक्षिता सङ्ख्या । न चैकत्वादेः पश्वन्वयेऽपि तद्विशिष्टस्यैव पशोः कारकान्वयद्वारा क्रियासम्बन्धाल्लोहितोष्णीषादिवत् पशुविशेषणस्यापि विवक्षौपपत्तिः, सङ्ख्याकरणत्वयोर्विभक्त्या युगपदुपादानेन सङ्ख्यायाः प्रथमतः पश्वन्वयमभिधाय पश्चाद्विशिष्टस्य पशोः कारकान्वयाभिधाने विरम्यव्यापारापत्तेः ।

न च त्वयाऽपि सङ्ख्यायाः पदश्रुत्या पश्वन्वयाङ्गीकारात् युगपदन्वयद्वयशब्दबोधस्य विरुद्धत्वात्प्रथमतश्शुद्धस्य पशोः कारकान्वयमङ्गीकृत्य पश्चात्सङ्ख्यायाः पश्वन्वयाङ्गीकारे तवापि विरम्यव्यापारापत्तिरिति वाच्यम्, तथाऽपि भावनान्वितकारकविशेषणविशेषणस्यासमस्तपदस्थले भावनान्वयव्युत्पत्त्यभावेनाविवक्षौपपत्तेः । इतरथाऽऽरुण्यस्याप्यनुशासनिकप्रत्यर्थलक्ष-

णयैकहायनीं प्रत्येव विशेषणत्वोपपत्तौ प्रथमतः क्रियान्वयमभ्यु-
पगम्य पार्थिवैकहायनीसम्बन्धसिद्धान्तभङ्गापत्तेः । अत्र च लौ-
हित्यादेर्भावनान्वितकारकविशेषणविशेषणत्वेऽपि समस्तपदत्वान्न
क्षतिः । वारवन्तीयादेस्तु क्त्वाशब्दोक्तभावनायामेवान्वय इति न
काचित्क्षतिः । अत एव सोमारुण्यादीनामपि न प्राथमिको
धात्वर्थान्वयः । अपि तु भावनान्वय एवेत्युक्तं तत्र तत्र ।

किञ्च न प्रत्ययार्थस्यैकत्वस्य प्रकृत्यर्थं पशुं प्रति प्रका-
रता, प्रत्ययार्थप्राधान्यभङ्गापत्तेः, अपि तु पशोरेव करणत्वं प्र-
तीवैकत्वं प्रत्यपि प्रकारता । अतश्चैकत्वस्य, करणत्ववत् वि-
धेयभावनायामप्रकारत्वादविवक्षेति प्राप्ते—

पशोः करणत्व एवान्वयो न त्वेकत्वेऽपि प्रमाणाभावात् ।
अतश्च पशोस्तद्वारा भावनान्वयवत् सङ्ख्याया अपि बलीयस्या
समानाभिधानश्रुत्या आधेयत्वेन सामानाधिकरण्येन वा प्रथमतः
कारकान्वयस्यैवाङ्गीकारात् पश्चाच्च पदश्रुत्यादिना आधेयत्वस-
म्बन्धेन पश्वन्वयोपपत्तेर्निरुक्तव्युत्पत्त्यैव भावनासम्बन्धित्वाद्वि-
वक्षितत्वम् । न चैवं “यदि सौममपहरेयुरेकां गां दक्षिणां
दद्यात्” इत्यादावेकपदवैयर्थ्यं ‘गां’ इत्यनेनैकैकत्वविधानोपपत्ते-
रिति वाच्यम्, एकत्वविधिवत् गोत्वविधेरपि प्राप्तदक्षिणानुवादेन
“धेनुर्दक्षिणा” इतिवद्विशिष्टकारकान्तरविधानेनापत्तौ द्वादश-
शतसङ्ख्यावत्सामान्यविहिताश्वादीनामपि बाधप्रसङ्गात्तन्निवृत्त्या
दानाश्रितस्यैकत्वस्यैव गौरवैशेन विधानार्थमेकग्रहणोपपत्तेः, अतो
विवक्षितैव सङ्ख्या । अत एव “कर्णा याम्याः, अवलिप्ता रौ-
द्राः, नभोरूपाः पार्जन्यास्तेषामैन्द्राग्रो दशमः” इति दशमत्व-
दर्शनमुपपन्नम् ॥ ५ ॥

(६)-तथा च लिङ्गम् ॥ १७ ॥

भवतु सङ्ख्या शब्दार्थत्वाद्विवक्षिता । लिङ्गं तूपादेयगतम-
प्यशब्दार्थत्वाद्विवक्षितम् । न हि तत् प्रातिपदिकार्थः, सि-
हादिपदात्तदप्रतीतेः, तस्य लिङ्गत्रयसाधारण्येन लिङ्गविशेषव्य-
भिचाराच्च । नापि प्रत्ययार्थः, व्यभिचारादेव । नापि टावादीनां
७ सुविकाराणां “तस्माच्छ्लोः पुंसि” इत्यादीनां, विलिङ्गे वृ-
क्षादौ विपरीतलिङ्गे मक्षिकादौ च प्रयोगेण व्यभिचारादेव ।
अतश्शब्दानुशासनमात्रमेवेदं, न लिङ्गं नाम कस्यचिच्छब्दस्यार्थः
इत्यविवक्षितमिति प्राप्ते—

सिंहसिंही इत्यादावनन्यथासिद्धलिङ्गप्रतीतेर्लिङ्गमपि क-
चित् टावादीनां, सुविकाराणां च, कचिच्च तिसृचतस्त्रादिप्राति-
पदिकविकाराणां, वाच्यम् । अतश्च तत् कचित्सङ्ख्यावत् कचिच्च
प्रातिपदिकार्थत्वेनैव विवक्षितम् । यत्र तु बाधस्तत्र साधुत्वार्थं
तच्छब्दप्रयोगः ॥ ६ ॥

(७)-आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ॥

१८ ॥ चोदनायां त्वनारम्भो विभक्तत्वात्
ह्यनेन विधीयते ॥ १९ ॥ स्याद्वा द्रव्यचि-
कीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतताऽऽश्रयाद्धि
गुणीभावः ॥ २० ॥

यजति जुहोतीति वा यत्र श्रुतं, तत्र यजेस्तावत् देवतो-
द्देशविशिष्टद्रव्यत्यागवाचित्वात् त्यागांशस्यादृष्टविधया आरादुप-
कारकत्वं, उद्देशांशस्य त्वदृष्टविधया तदुपकारकत्वमेव । अतः

एवोद्देशाङ्गभूतदेवतायाः त्यागाङ्गभूतद्रव्यापेक्षया दुर्बलत्वम् । प्रक्षेपस्तु तत्र त्यागाङ्गद्रव्यसंस्कारक एव । जुहोतिस्थले तु तदङ्गमेव अदृष्टविधयतरौ । समप्रधानौ वा प्रक्षेपेण सह । अत एवोभयत्र मन्त्रस्तदङ्गभूतदेवताप्रकाशनार्थ एवेति स्थितिः । यत्र तु स्वाहाकारस्विष्टकृत्सूक्तवाकपशुपुरोडाशपिष्टलेपादिहोमवाजिनेज्यादौ परकीयं द्रव्यं देवता वा प्रक्षेपांशेनोद्देशांशेन मन्त्रेण वा संस्क्रियते, यथा स्वाहाकारसूक्तवाकपशुपुरोडाशादौ आग्नेयादिदेवताः मन्त्रदेवतोद्देशाभ्यां, स्विष्टकृति प्रक्षेपांशेन तदीयं द्रव्यं, मन्त्रेणैव तदीया देवताः, उद्देशांशस्य स्विष्टकृदेवताकत्वात्, पिष्टलेपहोमादौ प्रक्षेपेण तदीयं द्रव्यमेव । सर्वत्र प्रमाणं तत्र तत्रोक्तं वक्ष्यते च । यस्तु तत्र त्यागांशः सोऽदृष्टार्थ एव । न च तस्य पदार्थैकदेशत्वान्निष्प्रयोजनत्वेऽपि न क्षतिः, विहितपदार्थान्यथाऽनुपपत्त्या तदवयवानामप्यर्थाद्विहितत्वेन प्रयोजनाकाङ्क्षोपपत्तेः । अतस्सोऽप्यदृष्टार्थ एव सन् फलवत्प्रक्षेपाद्यङ्गं तत्संस्कार्यद्रव्याद्यङ्गमेव वेति तत्संस्कार्यद्रव्यदेवतादावेव प्रोक्षणादिवददृष्टं जनयतीति सन्निपत्योपकारकस्तत्प्रयुक्तश्चेति प्राप्ते—

विशेष्यतया प्रतीतस्य त्यागांशस्य प्रक्षेपाद्यङ्गत्वे प्रमाणाभावात् देवतादेश्च दृष्टमात्रापेक्षत्वेनादृष्टोपकारानपेक्षत्वात् प्रकरणात्यागांशस्यारोपकारकत्वमेव प्रयाजादिवत् । तत्र त्वेतावान् विशेषः, यत् परप्रयुक्तद्रव्यदेवतोपजीवित्वेन परप्रयुक्त्यभावे स्वातन्त्र्येण तत्तद्द्रव्यदेवताक्षेपकत्वम् । अत एवैककपालस्य सर्वहोमे स्विष्टकृद्यागस्य लोप एव, स्वोपकारकद्रव्यस्य नाशादिति निमित्ताभावेनाप्येनापि समापनायोगात् । चयनादावयागे वाचनिकप्रयाजादिविनियोगेऽपि च न स्वाहाकारयागः । प्रकृतौ तु द्रव्यनाशे “यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुर्दुष्येयुरपहरेयुर्वा आ-

ज्येनैता देवताः परिसङ्ख्याय यजेत ” इति वचनादाज्येन समापनम् । सन्निपत्योपकारकत्वे तु संस्कार्याभावादिडावल्लोप एवेति विशेषः ॥ ७ ॥

(८)–अर्थे समवैषम्यतो द्रव्यकर्मणाम् ॥ २१ ॥

एवं तावत्कत्वर्थपुरुषार्थनिवारद्वारेण प्रयोजकत्वं चिन्तितम् । इदानीं तु साक्षादेव तच्चिन्त्यते । तत्सिद्धयर्थस्तु काचित्काङ्क्षाङ्गिभावविचार इति सुखग्रहणार्थं प्रतिज्ञामात्रमिदम् ॥ ८ ॥

(९)–एकनिष्पत्तेस्सर्वं समं स्यात् ॥ २२ ॥

संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् ॥

२३ ॥ मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ॥ २४ ॥

चातुर्मास्येषु प्रथमे पर्वणि “तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्” इति श्रुतम् । तत्र दध्यानयनस्य आमिक्षा वाजिनं चेत्युभयं प्रयोजकं उतामिक्षैवेति चिन्तायां—दध्यानयनवाक्ये तावत् तप्तपयोऽधिकरणकदध्यानयनमात्रं श्रुतं, न तु पयसो दध्नो वा प्राधान्यं, सप्तम्या प्राधान्यानाभिधानात् । तथात्वे उद्देश्यविशेषणत्वेन तापस्याविवक्षाऽप्युक्तं ।

न चानयतेद्विकर्मकत्वात् पयसो व्याप्यमानत्वेन दध्यपेक्षयाऽपि प्राधान्यावगतिः । द्विकर्मकधातुस्थले अधिकरणत्वादिकारकान्तराविवक्षायां सम्बन्धमात्रविवक्षायां च सम्बन्धसामान्ये षष्ठीप्राप्तौ “अकथितं च” इति कर्मसंज्ञाकरणात् द्वितीयाविधानावगतावपि प्राधान्ये प्रमाणाभावात्, प्रकृते सप्तमीश्रवणनाधिकरणत्वविवक्षाऽवगतेद्वितीयकर्मप्रसक्त्यभावाच्च ।

दध्नस्तूपयोगाभावाद्वैव संकतुवन्न प्राधान्यावगतिः । न ह्या-
मिक्षा नाम दधिपर्योपास्यसघनीभावादिधर्मभेदेनार्थान्तरत्वात् ।
“तस्यै शृतं तस्यै दधि तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्”
इति भेदेन व्यपदेशाच्च । “गोपयसोर्यत्” इति विकारवाचि-
यत्प्रत्ययान्तपयस्याशब्दपर्यायत्वाच्च । “जुषन्तां गुज्यं पयः” इति
तु धान्यशब्दवद्विकारपरम् । अतश्च दध्यानयनस्य स्ववाक्ये उद्दे-
श्याभावात्सामर्थ्येन दधिसंस्मृष्टपयोजन्यामिक्षार्थत्वाङ्गीकारे च ज-
न्यत्वाविशेषेण वाजिनार्थत्वस्याप्यवगतेरुभयं प्रयोजकमिति प्राप्ते

“सा वैश्वदेवी” इति सर्वनाम्नः प्रकृतपरामर्शित्वात्पूर्व
वाक्ये यत्प्राधान्येन निर्दिष्टं तदामिक्षेत्यवधार्यते न त्वर्थान्त-
रम् । रसश्च मधुराम्लरूपस्तयोरेवावधार्यते इति न ततोऽप्यर्था-
न्तरम् । घनीभावस्तु पीयूषादवदभेदेऽप्युपपन्न एव । पृथङ्निर्दे-
शोऽप्यवस्थान्तरात् । विकारार्थकयत्प्रत्ययस्मृतिरपि तच्छब्दानुगो-
प्येनावस्थापरैव । तस्मान्नामिक्षाऽर्थान्तरं, अपि तु दधि पयो
वा, तत्रापि विशेषस्त्वष्टमे^१ अतिदेशविशेषसिद्धयर्थं निरूपयिष्यते ।
तत्सिद्धं स्ववाक्य एवामिक्षारूपोद्देशसम्बन्धित्वावगतेर्दध्यान-
यनं तत्प्रयुक्तमेव । न तु वाजिनप्रयुक्तं, तस्य तच्छब्दाद्यभावे-
नार्थान्तरत्वप्रतीतिः, तज्जन्यत्वेऽपि शेषित्वानवगमात् । अतश्च त-
स्यानुनिष्पन्नत्वात्तद्यागस्य स्विष्टकृदादिवदनुनिष्पन्नप्रतिपत्तित्वा-
वगतेस्तदभावेऽपि च परप्रयुक्तदध्यानयनोपजीवित्वावगतेर्न त-
त्प्रयोजकत्वं वाजिनस्य कल्पनीयं गौरवप्रसङ्गात् ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे वाजिनयागस्यार्थकर्मत्वेन समप्राधान्या-
पत्तेरामिक्षायागविकारेऽनतिदेशः । सिद्धान्ते त्वनुनिष्पन्नप्रतिप-
त्तित्वेनामिक्षायागाङ्गत्वात्तद्विकारेऽतिदेशः ।

सोमेश्वरस्य तु सिद्धान्तेऽपि वाजिनयागेऽर्थकर्मत्वं वदतः
आमिक्षायागाङ्गत्वानापत्तेस्तद्विकारेऽतिदेशो न सिद्ध्येत् । “अष्टौ
हवींषि” इत्यस्य विनिगमनाविरहेणावयुत्यानुवादत्वस्य स्वन्म-
तेऽप्यापत्तेः ।

यत्तु भाष्यकारादिभिः पूर्वपक्षे वाजिननाशे आमिक्षानाश
इव पुनर्दध्यानयनेन वाजिनोत्पत्तिः, सिद्धान्ते तु आज्येन
समापनमिति प्रयोजनमुक्तम्, तत् पष्ठे^१ हविर्नाशादिनिमित्ते
आज्येन समापनस्य विधिवत्त्वेन वक्ष्यमाणत्वेन पूर्वपक्षेऽपि तुल्य-
त्वादुपेक्षितम् ॥ ९ ॥

(१०)—पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥

सोमक्रयार्थमेकहायनीं विधाय क्रयदेशे तन्नयने क्रियमाणे
तस्याः पदपदान्यनुनिष्क्रामति सप्तमं पदं स्फ्येन चालिष्यति
हिरण्यमन्तर्धाय पदे जुहोति ततः सप्तमं पदमध्वर्युरञ्जलिना गृह्णाति
“यर्हि हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः तर्हि तेनाक्षमुपाञ्जयात्” इति
श्रुतम् । तत्राक्षाभ्यञ्जनमपि क्रयवदेकहायनीनयनस्य प्रयोजकं,
जन्यत्ववदङ्गित्वस्याप्युभयत्र समत्वात् । अक्षाभ्यञ्जने हि तच्छब्दे-
नैव पदपांसवो निर्दिष्टा इति ते तदङ्गम् । पदस्य चैकहायनीनि-
रूपितत्वं तस्यास्सप्तमं पदमित्यनुषङ्गात् शाखान्तरवचनाच्चावगत-
मिति साऽपि तदङ्गम् । अतश्च नीयमानसंस्कारार्थस्य नयनस्या-
प्युभयार्थत्वादुभयप्रयोज्यत्वम् । न च प्रकरणादेवैकहायनीलाभा-
तच्छब्दस्यानुवादकत्वं, प्रकरणप्राप्तेः पूर्वप्रवृत्त्यङ्गीकारेण प्रयोजक-
त्वफलकाङ्गत्वविध्युपपत्तेः । न च तथाऽपि क्रयप्रयुक्तत्वाविशि-
ष्टैकहायन्या एव तच्छब्देन परामर्शात् पुरोडाशकपीलन्यायाप-

त्तिः, ^१ तथात्वे फलाभावेन तच्छब्दवैयर्थ्यापत्तेः तस्यैकहायनी-
स्वरूपमात्रपरत्वाङ्गीकारादिति प्राप्ते—

विधिगौरवप्रयोजकशक्तिकल्पनागौरवाभ्यां तच्छब्दस्य पूर्व-
परामर्शित्वस्वभावेनोपजीव्यप्रकरणप्राप्तानुवादकत्वावगतेश्चैकहाय-
न्याः क्रयमात्राङ्गत्वावसायात्तदङ्गभूतनयनस्यापि तन्मात्रार्थत्वप्र-
तीतेरक्षाभ्यञ्जनं पदहोमादिकं वा क्रयप्रयुक्तैकहायनीतन्त्रयनला-
भेन चरितार्थं नैकहायन्यास्तन्त्रयनस्य वा प्रयोजकम् । अतश्चै-
कहायन्यां क्रयार्थं नीयमानायां दैवाङ्गावणि सप्तमपदपाते अ-
क्षाभ्यञ्जनार्थं पुनर्न तदानयनम् । यथाशक्ति प्रयोगादौ क्रयलोपेऽ-
पि वा नैकहायनीप्रयुक्तिः । अक्षाभ्यञ्जनार्थं तु येकेचित्पांसवो
ग्राह्या एव, गुणलोपे मुख्यलोपानुपपत्तेः । होमस्त्वारादुपकार-
कत्वाङ्गावण्येव । यथाशक्ति प्रयोगे त्वाहवनीये निगधिकरणक एव
वेत्यन्यदेतत् ॥ १० ॥

(११)—अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयो-
गस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥

दर्शपूर्णमासयोः “पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति” इति
श्रुतम् । तत्र कपालस्य “कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति” इति
श्रपणे विनियुक्तस्यापि तृतीयया तुषोपवापार्थत्वेनाप्यार्थिकवि-
शेषणविधिना विनियोगादुभयप्रयुक्तत्वम् । न च पुरोडाशार्थ-
कपालत्वेनैव तुषोपवापे विनियोगाच्च तुषोपवापप्रयुक्तत्वं, प्रकृ-
तिविकारभावाभावेन तादर्थ्यसमासायोगात् । षष्ठीसमासे च
सम्बन्धमात्रावगतेस्तस्य च कपालत्वेनैव विनियोगेऽपि पुरोडा

^१ अव्यवहितोत्तराधिकरणेऽयं न्यायो द्रष्टव्यः.

शार्थोपात्तस्यैव प्रसङ्गेन ग्रहणोपपत्तेरनुवादत्वात् । यदि तु प्रसङ्गलक्षणाभावादुपादेयस्थले प्रकृतग्रहणस्य च “तानि द्वैधम्^१” इत्यत्र निराकृतत्वान्न पुरोडाशकपालनियम इत्याशङ्क्येत, ततोऽस्तु नाम पुरोडाशसम्बन्धविशिष्टस्यैव विधानं, तत्फलं च तद्विश्वकपालव्यावृत्तिरेव न त्वप्रयोजकत्वमपि, सम्बन्धरूपाङ्गाभावेऽप्याग्निहोत्रहवणीन्यायेन^२ प्रधानभूतकपालबाधानुपपत्तेः चर्वादौ तन्नियमाभावरूपस्याप्रयोजकत्वफलस्यासम्भवादिति प्राप्ते—

पुरोडाशसम्बन्धस्य प्रमाणान्तरगम्यस्यालोचने तत्प्रयुक्तत्वस्याप्यवगतेर्न पुनस्तुषोपवापविधिरपि तत्प्रयुक्ते । अतो लाघवादवघातकालीनस्तुषोपवापः परप्रयुक्तकपालोपजीवितया न कपालोपादानासादनयोः प्रयोजकः । निनयनकालीनस्तु कपालधारणस्य प्रयोजको भवत्येव । उपादानस्य तु सोऽप्यप्रयोजकः ।

प्रयोजनं चर्वादौ न कपालनियमः । अग्निहोत्रहवण्यां तु वक्ष्यते ॥ ११ ॥

(१२)—पशावनालम्भालोहितशक्तोरकर्मत्वम्॥

पशौ “शक्तस्मप्रविध्यति लोहितं निरस्यति” इति श्रुतं निरसनं पश्वालम्भनस्य शक्ललोहितस्यैव वा प्रयोजकम् । नहीदं तस्य प्रतिपत्तिः । हृदयादीनामेव हविष्ट्रेण तस्यानुपयुक्तत्वात् अपूर्वसाधनत्वाभावाच्च । अतश्चार्थकर्मैवेदं शक्ललोहितस्य तावत्प्रयोजकम् । पश्वालम्भोऽपि च विशसनवाक्ये श्रुतः प्रयोजनाकाङ्क्षस्सन् हृदरिव लोहितादेरपि पशुप्रकृतिकत्वमाक्षिपति । न हि हृदतदुत्पत्तिवाक्याधीनं, तस्य तदभावे हविष्ट्रेनैव तद्विधायकनस्तत्रत्यं पशुपदमपि देवतासम्बन्धासिद्धयर्थं वस्तु-

तोऽनुवाद एव । अस्तु वा उत्पत्तिवाक्यावगतं पशोर्यागसा-
धनत्वं विशसनवाक्यानुरोधाद्धवीरूपहृदयादिप्रकृतित्वरूपमेवेति
विशसनवाक्यस्यापि तत्परत्वमेव । तथाऽपि निरसनस्यार्थकर्म-
त्वाज्जाघनीवल्लौकिकशकृल्लोहितप्रयोजकत्वे न किञ्चिद्वाधकामि-
ति प्राप्ते—

द्वितीयया निरसनस्य प्रतिपत्तित्वावगमान्न लोहितादिप्र-
योजकत्वं, अपितु उपयुक्तत्वाभावेऽपि चानुनिष्पन्नत्वेन प्रतिपत्ति-
सापेक्षत्वात् परम्परयाऽपूर्वसम्बन्धस्य सत्त्वेन चानर्थक्याभा-
वात् प्रतिपत्तिकर्मत्वोपपत्तेः ॥

प्रयोजनं पशुलोहिताद्यभावनाशयोस्तल्लोपः । प्रायश्चित्तं परं
तल्लोपनिमित्तं भवत्येव । सोमेश्वरलिखितरक्षोभागत्वसत्त्वे तु त्या-
गांशस्याज्येन येनकेनचिद्वा द्रव्येण समापनं भवत्येवेति द्र-
ष्टव्यम् ॥ १२ ॥

(१३)—एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगा-
त् ॥ २८ ॥ निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् ॥
२९ ॥ न शेषसन्निधानात् ॥ ३० ॥ कर्म-
कार्यात् ॥ ३१ ॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३२ ॥

यत्र “उत्तरार्धात्स्विष्टकृते समवद्यति” इत्यादौ न द्वि-
तीयानिर्देशः तत्र तर्हि प्रतिपत्तित्वे प्रमाणाभावादपादानत्वेन
श्रुतस्योत्तरार्धस्य यागं प्रति गुणत्वादुत्तरार्धस्य तावद्यागः प्र-
योजको भवत्येव । तस्य च ससम्बन्धिकत्वेन स्वप्रतिसम्बन्धिय-
त्किञ्चिदवयव्याक्षेपकत्वं सुलभमेव । न च प्रकृतपुरोडाशरूपाव-
यविसत्त्वे न स्वतन्त्राक्षेपकत्वं । प्रकृतस्य स्वकार्ये सर्वस्य विनि-

युक्तत्वेनान्यत्र विनियोगायोगात् । न च तस्य प्रतिपत्तिसापेक्षत्वात्प्रक्षेपांशेनास्य प्रतिपत्तिकर्मत्वं शङ्क्यम् । प्रक्षेपांशस्याप्याग्नेयादिप्रक्षेपवत्स्वयागाङ्गत्वेनैव प्रयोजनानपेक्षत्वात् । उत्तरार्धस्यांशभेदेनापि गुणत्वप्रधानत्वयोरङ्गीकारे वैरूप्यप्रसङ्गाच्च । प्रधानमात्रत्वस्वीकारेऽपि लक्षणायास्तावदनिवारणाच्च । अतस्सिद्धं स्विष्टकृद्यागोऽर्थकर्मैव प्रयाजादिवत्सन् उत्तरार्धतदवयविनोः प्रयोजक इति प्राप्ते —

यद्यपि तावदर्थकर्मैव स्यात् तथाऽपि ससम्बन्धिकत्वात्प्रतिसम्बन्धपेक्षायां यावत्प्रकृतप्रतिसम्बन्धिलाभस्तावन्नान्याक्षेपकत्वं गौरवात् । अस्ति च प्रकृते प्रतिपत्त्यपेक्षशेषः । अतस्तदुपजोवकत्वमेव । अत एव “शेषात्स्विष्टकृते” इत्यपि लिङ्गमुपपद्यते । एवं चोत्तरार्धस्य त्यागं प्रति गुणत्वेन विनियुक्तस्यापि प्रधानगतप्रतिपत्त्यपेक्षानुरोधेन वाक्यान्तरकल्पनया प्रक्षेपांशं प्रति प्राधान्येऽपि न क्षतिः । श्रुतयागविधिनाऽपि धारणप्रयोजकत्वकल्पना गौरवभिया तदनुमितेश्च । अत एवानुमितप्रतिपत्तेरेव धारणप्रयोजकत्वादिकल्पनादोषो “नानुमिते ह्यसौ” इति न्यायादनुमानस्य फलमुखत्वाच्च । अत एव “सर्वाणि हवींषि समवद्यति” इति लिङ्गमपि प्राधान्यादुपपन्नम् । अत एव स्विष्टकृतप्रक्षेपाऽपि प्रधानाङ्गभूतस्तत्प्रयुक्त एव सन् स्विष्टकृद्यागस्याप्यङ्गं तत्प्रयुक्तश्च प्रतिपाद्यत्वाविशेषात् । अतस्स नावयविनो नोत्तरार्धस्य वा प्रयोजकः । आज्यप्रक्षेपस्य तु प्रयोजको भवत्येवेति सिद्धम् ॥ १३ ॥

(१४)—अभिधारणे विप्रकर्षादनुयाजवत्पात्रभेदस्स्यात् ॥ १३ ॥ न वाऽपात्रत्वादपात्र-

त्वं त्वेकदेशत्वात् ॥ ३४ ॥ हेतुत्वाच्च सह-
 प्रयोगस्य ॥ ३५ ॥ अभावदर्शनाच्च ॥ ३६
 सति सव्यवचनम् ॥ ३७ ॥ न तस्येति चेत् ॥
 ३८ ॥ स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ॥ ३९ ॥

दर्शपूर्णमासयोः “प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति” इति
 श्रुतम् । तत्र प्रयाजशेषाभिघारणस्य तृतीयाद्वितीयाभ्यां उपयु-
 क्तसंस्कारापेक्षया चोपयोक्ष्यमाणसंस्कारस्याभ्यर्हितत्वाद्द्विस्सं-
 स्कारकत्वमेव, न तु प्रयाजशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वं लक्षणाद्वयप्रस-
 ज्ञात् । न च हविस्संस्कारकत्वे अदृष्टकल्पनापत्तेरपेक्षितदृष्ट-
 रूपप्रतिपत्त्यर्थत्वलाभाय लक्षणाद्वयाङ्गीकरणमपि न दोषायेति
 मिश्रमतं युक्तं, निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेनादृष्टकल्पनादेः फल-
 मुखत्वात् ।

किञ्च द्वितीयायास्सप्तम्यर्थलक्षकत्वे हविषामभिघारणं प्रत्यु-
 पादेयत्वापत्तेस्तद्रतबहुत्वस्य विवक्षापत्तौ त्रिष्वेव करणापत्तिः । त-
 था च ग्रहैकत्वाधिकरणे तदविवक्षाभिधानं वार्तिककारीयं नोपपद्येत ।

यत्तु अभिघारणं प्रत्याधारत्वेनान्वितानामपि हविषामाधा-
 रतानियमं प्रत्युद्देश्यत्वात्तद्विशेषणाविवक्षेति, तन्न श्रुताभिघारणं
 प्रत्युपादेयमात्रत्वेन विवक्षितत्वे आर्थिकाधारतानियमं प्रत्यपि
 त्रयाणामेवोद्देश्यतापत्तेः । किञ्च यदर्थो नियमाश्रयः तदर्थ एव
 नियम इति सर्वत्र क्लृप्तेराधारतानियमोऽप्यभिघारणनियमवत्त-
 द्वारा प्रयाजेष्वेवोपयुज्येत । इतरथा पशुस्थजाघनीतुषोपवापादि-
 वाक्येष्वपि करणतानियमस्य जाघनीप्रतिपत्त्यर्थत्वकपालसंस्कार-
 कत्वापत्तेरेकत्वाविवक्षापत्तिः ।

एतेन पदद्वयेऽपि लक्षणामङ्गीकृत्याधारतानियमीद्देश्यतामात्रेणैव हविस्सङ्ख्याविवक्षामुक्तवतो भट्टसोमेश्वरस्यापि मतं प्रत्युक्तम् ॥ यत्तु कैश्चित्तृतीयाया एव द्वितीयार्थे लक्षणामङ्गीकृत्याभिधारणस्योभयार्थत्वं विजातीयानेकोद्देश्यकत्वाच्च न वाक्यभेद इत्युक्तम्, तदपि न, निषादस्थपत्यधिकरणविरोधस्य तादवस्थ्यात्, श्रुतोद्देश्यसत्त्वे लाक्षणिकस्य तस्यान्याय्यत्वाच्च, न्याय्यत्वेऽपि वा श्रुतहवीरूपोद्देश्यसंस्कारस्यैव धारणप्रयोजकत्वापत्तेश्च ।

किञ्च वैजात्यं न तावन्निमित्तफलादिवत्, उभयोरपीप्सितत्वाख्योद्देश्यत्वस्य समानत्वात् । अथ वैजात्याभावेऽपि साकाङ्क्षत्वादेव नानेकोद्देश्यता, तथात्वे गोदोहनादेरपि पशुप्रणयनाद्युभयोद्देश्यतापत्तेः । अतोऽभिधारणस्य केवलहविस्संस्कारार्थत्वाभिजनयनकालीनपुरोडाशकपालन्यायेन शेषोत्पादनाप्रयोजकत्वेऽपि धारणप्रयोजकत्वोपपत्तिः । अतश्च दैक्षे हृदयायभिधारणार्थं वाजपेये च प्राजापत्यवपाभिधारणार्थं च धारणीय एव पात्रान्तरे प्रयाजशेषः । प्रकृतौ हि प्रयाजोत्तरं वपायागमात्रं कृत्वा कालान्तरे हृदयादियागः । वाजपेये च प्राजापत्यान् ऋतुपशूश्च सहोपक्रम्य दशप्रयाजोत्तरं पर्यग्निकरणान्ते कृते प्राजापत्यानां वैकल्पिको ब्रह्मसामकाले उत्कर्षः । अतश्च पर्यग्निकरणोत्तरभाव्युत्तमप्रयाजशेषेण ऋतुपशुवपाभिधारणवत्कालान्तरभाविप्राजापत्यवपाभिधारणार्थमपि धार्यशेष इति प्राप्ते—

सत्यं प्रयाजशेषाभिधारणं हविस्संस्कारार्थमेव वाक्येन, तथ्यऽपि तु प्रयाजशेषस्य प्रतिपत्यपेक्षत्वात् तदनुरोधेन स्विष्टकृद्वेव वाक्यान्तरकल्पनयाऽभिधारणस्यैव तत्प्रतिपत्यर्थत्वमङ्गीक्रियते । न च प्रयाजेषु सर्वहोमस्यैवापत्तेर्न प्रतिपत्यपेक्षा । आ-

र्थिकप्रतिपत्त्यन्तरविध्यभावेऽपि प्रयाजशेषकरणकाभिधारणविधिनै-
व द्वितीयतुषोपवापषड्धारणाक्षेपापत्त्या सर्वहोमानापत्तेः । न च
स्विष्टकृद्विहांसभेदाभावादभिधारणस्य श्रौतेन हविरर्थत्वेनापे-
क्षामात्रप्रमाणकप्रतिपत्त्यर्थत्वबाधः, श्रौतविधेर्धारणाद्याक्षेपशक्तिक-
ल्पनागौरवपरिहारार्थमेव फलमुखप्रतिपत्तिविधिकल्पनाऽनुमतेः ।
अत एव ज्ञानाद्याक्षेपशक्तिकल्पनागौरवपरिहारार्थमधिकारिस्ङ्को-
चवत् सन्निहितहविस्सङ्कोचोपि न दोषाय । अत एव यत्र न
प्रतिपत्तिः यथा द्वितीयतुषोपवापकपालादौ तत्र न तत्कल्पना ।
जाघन्यां तु वक्ष्यते । न चार्थिकप्रतिपत्तिविधेरपि धारणाक्षेप-
शक्तिकल्पनाऽऽवश्यकत्वे श्रौतविधेरेव तत्कल्पकत्वौचित्यमिति
वाच्यम्, पूर्वाधिकरणवदेवानुमानिकतत्कल्पनस्यादोषत्वात् अनु-
मानस्य फलमुखत्वाच्च । अतश्च प्रतिपत्तिबलेनैवाक्षिसस्य धारणस्यो-
पजीवनाद्विनिगमनाविरहेण सन्निहितसर्वहविषु अभिधारणोपप-
त्तावपि न कालान्तरीयहविरथे धारणमिति । अत एव प्राजापत्यव-
पानां ऋतुपशुभिस्सह करणपक्षे “सहपशूनालभते वपानामभि-
ष्टतत्वाय” इति लिङ्गं ब्रह्मसामकालीनत्वपक्षे तदभावं दर्शयति ।
स्पष्टं च “सव्या वा एतर्हि वपा यर्ह्यनभिघृता” इति रूक्षत्वा-
ख्यं सव्यत्वं तस्मिन् पक्षे दर्शयति । न चाभिधारणान्तरेण रूक्षत्व-
निवृत्तिः, तस्य तावन्नमात्रनिवर्तकत्वेन रूक्षताया अनिवर्तनात् ॥१४

(१५)—समानयनं तु मुख्यं स्यात्, लिङ्गदर्श-
नात् ॥ ४० ॥ वचने हि हेत्वसामर्थ्ये ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजार्थं जुह्वां चतुर्गृहीतं विधाय “अ-
ष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानूयाजैभ्यस्तत्” इति वचनेनौपभृतं
विधाय पुनर्ध्रुवायां चतुर्गृहीतं विहितम् । तत्रैव च “अतिह्य-

येडो बर्हिः प्रतिसमानयते जुहामौपभृतम्” इति श्रुतम् । तत्र किं प्रयाजास्समानयनस्य तत्संस्कृताज्यस्य च प्रयोजकास्तदर्थं चेदमुभयं उत ते अप्रयोजका अनूयाजा एव तु तयोः प्रयोजकास्तदर्थं चेदमुभयमिति चिन्तायां—“प्रयाजानूयाजेभ्यस्तत्” इति द्वन्द्वान्ते श्रुतस्य बहुवचनस्य प्रत्येकं सम्बन्धादुद्देश्यगतस्याप्यप्राप्तत्वेनानुवादायोगादौपभृतस्य न्यायत एव सर्वप्रयाजार्थत्वप्रतीतिः प्रयाजार्थस्यार्थस्य सर्वप्रयाजादौ समानीतत्वाद्वर्हिःप्रयाजकाले उपभृत्यनूयाजार्थस्यैव सत्त्वेन तस्यैवेदं समानयनं तत्संस्कारार्थमनूयाजप्रयुक्तं न तु प्रयाजप्रयुक्तम् । अत एव जौहवस्याप्यविशेषेण सर्वप्रयाजार्थत्वादौपभृतेन विकल्पः । “त्रिरित प्राचीनान् प्रयाजान् यजति” इति त्ववयुत्यानुवाद इति प्राप्ते—

कालविशिष्टसमानयनस्यानूयाजीयाज्यसंस्कारकत्वेऽदृष्टार्थत्वापत्तेर्विशिष्टविधिगौरवात् ‘त्रिः’ इत्यस्यावयुत्यानुवादत्वापत्तेः प्रयाजार्थस्येदं समानयनम् । तच्च “जुह्वा जुहोति” इति वचनादर्थप्राप्तमेवेति तदनुवादेन कालमात्रमनेन विधीयते । अतश्च “प्रयाजानूयाजेभ्यः” इत्यत्र प्रयाजाभ्यां अनूयाजेभ्यः इति विग्रहे न दोषः । अत एव जौहवमपि परिशेषादाद्यप्रयाजत्रयार्थमिति न विकल्पप्रसङ्गोऽपि । एवं चातिथ्यायामिडान्तत्वेन अनूयाजाया अभावेऽपि च “चतुर्गृहीतान्याज्यानि” इति बहुवचनं जौहवौपभृतचतुर्गृहीतयोः प्रयाजेषु समुच्चयाद्धौवचतुर्गृहीतमादाय सङ्गच्छते । इतरथा तयोर्विकल्पादनयाजाभावे धौवमादाय चतुर्गृहीतद्वित्वापत्तेर्बहुवचनानुपपत्तिः । अतश्च प्रयाजद्वयं समानयनस्य तत्संस्कृताज्यस्य च प्रयोजकमिति सिद्धम् । सूत्रादौ तु समानयनपदं तत्कालीनप्रयाजद्वयपरं आज्यसंस्कारकस्य समानयनस्याज्यप्रयोजकत्वसिद्धान्तानुपपत्तेः ॥ १५ ॥

(१६)—तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ॥ ४२ ॥ त-
त्र जौहवमनूयाजप्रतिषेधार्थम् ॥ ४३ ॥
औपभृतं तथेति चेत् ॥ ४४ ॥ स्याज्जुहूप-
तिषेधान्नित्यानुवादः ॥ ४५ ॥

एवं तावदौपभृतस्य प्रयाजार्थत्वमङ्गीकृत्य प्रयोज्यत्वं वि-
चारितम् । तदेवाक्षिप्य समाधीयते । “चतुर्जुह्वां गृह्णाति,
अष्टावुपभृति गृह्णाति, चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति” इत्यसंयुक्तान्या-
ज्यानि लिङ्गप्रकरणाभ्यां यावत् सर्वप्राकरणिकद्रव्यापेक्षकार्या-
र्थत्वेन विनियुज्यन्ते तावत् “चतुर्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्,
अष्टावुपभृति गृह्णाति अनूयाजेभ्यस्तत्, सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय
गृह्यते यद्ध्रुवायामाज्यम्” इत्यादिवचनैस्तत्तत्कार्यार्थत्वेन विनियो-
गादौपभृतस्यानूयाजमात्रार्थत्वम् । यत्तु “अष्टावुपभृति गृह्णाति
प्रयाजानूयाजेभ्यस्तत्” इति वचनं, तत्र प्रयाजत्वानूयाजत्वयोरु-
द्देश्यतावच्छेदकत्वे वाक्यभेदापत्तेरनूयाजानां प्रयाजोत्तरत्वानुवाद-
मात्रमिति प्राप्ते—

उभयतोऽप्यनुवादत्वावश्यकत्वे समानयनादिविध्यदृष्टार्थ-
त्वाद्यनुरोधेन शुद्धानूयाजवचनस्थैवानुवादत्वम् । न वा वाक्य-
भेदः गृहैकत्वाधिकरणव्युत्पादितकौस्तुभोक्तरीत्या “अध्वर्युयज-
मानौ वाचं यच्छतः” इतिवदवाक्यभेदात् । अतश्चौपभृतं प्रया-
जानूयाजार्थमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

(१७)—तदष्टसङ्ख्यं श्रवणात् ॥ ४६ ॥ अनुग्र-

हाच्च जौहवस्य ॥ ४७ ॥ द्वयोस्तु हेतुसा-
मर्थ्यं श्रवणं च समानयने ॥ ४८ ॥

“अष्टावुपभृति” इत्यनेनाष्टसङ्ख्याकं एकं ग्रहणं विधीयते, उत चतुस्सङ्ख्याकग्रहणद्वयमिति चिन्तायां—श्रुतत्वादष्टत्वसङ्ख्यायैव विवक्षिता, न चतुस्सङ्ख्याद्वयं, लक्षणापत्तेः । न चानारभ्याधीतेन “चतुर्गृहीतं जुहोति” इत्यनेनानिर्दिष्टद्रव्यकसर्वहोमानुवादेन चतुर्गृहीतविधानात्प्रयाजादिष्वपि तत्प्राप्तेः प्रयाजानूयाजार्थचतुर्गृहीतद्वयोद्देशेन उपभृत्पात्रमात्रस्यात्र विधिप्रतीतेरष्टपदं चतुष्कद्वयलक्षणार्थमिति वाच्यं, अनारभ्यविधिना जुहोतिचोदनाचोदितप्रधानभूतहोमोद्देशेन चतुर्गृहीतविधानेऽपि प्रयाजादिषु यजतिचोदनाचोदितेषु प्रक्षेपाख्यहोमस्य तदीयद्रव्यसंस्कारकत्वेन तमुद्दिश्य चतुर्गृहीतविधानानुपपत्तेः । अत एवोपांशुयाजादौ “चतुर आज्यस्य गृह्णन् आह” इत्यादिविध्यन्तरादेव ध्रुवादितश्चतुर्गृहीतविधानम् । अस्तु वैतादृशविषयेऽपि तत्प्राप्तिः, तथाऽपि वाचनिकेन प्राक्काणिकेन चाष्टत्वेन बाधात्तस्य प्रयाजाद्यतिरिक्तविषयत्वमेवावश्यकम् । न च होमाङ्गभूतचतुस्सङ्ख्यायाः प्रधानाश्रितत्वादङ्गाश्रितया ग्रहणाङ्गभूतयाऽष्टसङ्ख्याया बाधासम्भवः । उभयोरपि ग्रहणाङ्गत्वात् । अस्तु वा चतुस्सङ्ख्याया होमाङ्गत्वं, तथाऽपि होमस्याप्यत्राङ्गत्वादेव न तदङ्गचतुस्सङ्ख्याया बलवत्त्वम् ।

किञ्च होमोद्देशेन चतुर्गृहीतविधाने प्रतिहोमव्यक्ति तद्वेदापत्तेर्भावत्प्रयाजानूयाजव्यक्तिभेदेन चतुर्गृहीतभेदात् तावच्चतुर्गृहीतोद्देशेनैकपात्रविधावष्टत्वानुपपत्तिः । न हि तवाज्यभागयोरिवावयवशो होमे किञ्चिन्नियामकमस्ति । अस्तु वा तत्, तथाऽपि यथैवा-

वयवशो होमेऽपि चतुर्गृहीतद्वयस्य प्रयाजानूयाजसाधनत्वाविघातः,
तथैवाष्टसङ्ख्याग्रहणेऽनुष्ठितेऽपि तदन्तर्गतत्वेन चतुष्कद्वयस्यापि
सत्त्वादुभयोरपि सङ्ख्ययोस्साधनत्वाविघातः ।

किञ्चैवं तव प्रयाजद्वयानूयाजत्रयेऽपि मिलित्वैकं चतुर्गृही-
तमवयवशः प्राप्येतेत्यष्टत्वानुवादानुपपत्तिः । अतस्तत्सङ्ख्याकग्रह-
णसंस्कृताज्यान्येवैतैर्वाक्यैस्तत्कार्योद्देशेन विधीयन्ते । न चास्मिन्
मतेऽपि प्रतिप्रधानं भेदप्रसङ्गः, विनियोगवाक्यानुसारेण तथाप्राप्ता-
वपि पृथगुत्पत्तिर्वाक्यवैयर्थ्यापत्त्या तथोत्पन्नस्यैकैकस्यैवावयवशो
विनियोगाङ्गीकारात् । अतोऽष्टत्वं विवक्षितमेवेति प्राप्ते—

“चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति” “न ह्यत्रानूयाजान् य-
क्षन् भवति” इत्यातिथ्यायामिडान्तायां श्रुतस्य चतुर्गृहीतबहु-
त्वे अनूयाजसामान्याभावरूपस्य हेतोरेव लक्षणातात्पर्यग्राहकत-
याऽष्टत्वमविवक्षितम् । अयं हि न “तेन ह्यन्नं क्रियते” इति-
चर्धेवादः, अपि तु लक्षणाद्यभावाद्धेतुविशिष्टचतुर्गृहीतबहुत्ववि-
धिरेव चतुर्थचतुर्गृहीतनिवृत्तिफलकः । अतश्च तद्वलेन व्याप्तिक-
ल्पनायां यत्रयत्रानूयाजसामान्याभावोऽन्यत्रापि, तत्र चतुर्थचतुर्गृ-
हीतनिवृत्तिरूपसाध्यसिद्धिः । अतश्च व्यतिरेकमुखेन चतुर्थ च-
तुर्गृहीतमनूयाजार्थं इतरच्च प्रयाजार्थमिति सिद्धं भवति । तच्चा-
ष्टत्वस्य चतुष्कद्वयलक्षणार्थत्वे उपपद्यत इति तत्सिद्धिः । इत-
रथाऽनूयाजाभावेऽप्यष्टगृहीतस्यानिवृत्तत्वेन जौहवधौवरूपचतुष्क-
द्वयस्यैव प्राप्तेर्बहुत्वानुवादानुपपत्तिः, कथञ्चित्प्राप्तावपि वा समस्त-
वाक्यवैयर्थ्यम् । न च वाचनिकबहुत्वविधेरेवायमर्थवादः, हेतुप-
रत्वे सम्भवति स्तुतिलक्षणायां प्रमाणाभावात् । वस्तुतस्तु—नाष्ट-
पदेऽपि लक्षणा, हेतुबलेनैवार्धस्यानूयाजार्थत्वे अर्धस्य प्रयाजार्थ-

त्वे चावगते आतिथ्यादावनूयाजाभावेनैवाष्टत्वस्य बाधोपपत्तेः ।
अस्तु वा सा ॥

प्रयोजनं—पूर्वपक्षे प्रयाजद्वयार्थे अर्धन्यूनसमानयने, अष्ट-
गृहीतस्य “समं स्यादश्रुतत्वात्” इति न्यायेन पञ्चस्वपि वि-
भागात् । सिद्धान्ते त्वर्धं समानेयम् ॥ १७ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां
चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः.

—...◆...—

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

(१)—स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥

१ ॥ जात्यन्तराच्च शङ्कन्ते ॥ २ ॥ तदेकदे-

शो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥

शकलश्रुतेश्च ॥ ४ ॥ प्रतियूपं च दर्शनात् ॥

५ ॥ आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥

दैक्षे पशौ “यूपस्य स्वरुं करोति, स्वरुणा पशुमनक्ति”
इति श्रुतम् । तत्र स्वरुशब्दवाच्यस्याप्रसिद्धत्वादाद्यवाक्येन स्व-
हकर्मिका भावना विधीयते । तत्र च साधनीभूतद्रव्यापेक्षायां “तत्र
यः प्रथमश्शकलः परापतेत् स स्वरुः” इति वचनेन शकलस्य
साधनत्वावगमात् इतिकर्तव्यतापेक्षायां यूपपदेन तद्धर्मलक्षणयाऽ-

अनप्रोक्षणादयो विधीयन्ते । अथवा यथैव यूपवयवकत्वं सिद्धान्ते षष्ठ्यर्थस्तथैव मन्मते यूपधर्मकत्वं सम्बन्धषष्ठ्यर्थ इति न लक्षणाऽपि । एवमुत्पन्नस्य च द्वितीयवाक्येन विनियोगः । अस्तु वा द्वितीयवाक्याक्षिप्तस्वरुर्कर्मभावनानुवादेन यूपधर्ममात्रविधिरिति न विशिष्टविधिरपि । न चैवं शकलशब्दस्य ससम्बन्धिकत्वादेवोत्तरार्धादिवत् यूपीयत्वोपपत्तेरप्रयोजकत्वापत्तिः, स्वतन्त्रकाष्ठाप्रयोजकत्वेऽपि स्वरुनिष्ठाअनप्रोक्षणादिधर्मप्रयोजकत्वोपपत्तेः । अत एव धर्मप्रयोजकत्वेन काष्ठान्तरप्रयोजकत्वशङ्कायां तन्निवर्तकत्वेन “यदन्यस्य वृक्षस्य स्वरुं कुर्यादन्यैस्य लोकमन्वारोहयेयुः” इति निन्दाऽपि सङ्गच्छते । धर्मप्रयोजकत्वेऽपि च यूपैकादशिन्यां “यथाऽऽनुपूर्व्यं स्वरुभिः पशून् समञ्ज्य” इति यूपभेदेन स्वरुभेददर्शनं नानुपपन्नम् । न चैवमपि षष्ठ्या यूपवयवकत्वसम्बन्धेनाप्युपपत्तेर्यूपधर्मकत्वरूपसम्बन्धपरत्व एव नियामकाभावः, शकलकरणकत्वादेव यूपीयत्वसिद्धेराद्यवाक्यवैयर्थ्यापत्तेरेव नियामकत्वादिति प्राप्ते—

न यूपधर्मकत्वसम्बन्धषष्ठ्यर्थः, आनुशासनिकयूपवयवत्वसम्बन्धस्यैव तदर्थत्वोपपत्तेः । न च शकलश्रुत्यैव प्राप्तत्वात्तद्विधिवैयर्थ्यं, एतद्विध्यभावे यूपपदरहितानां परश्वादानवनगमनवृक्षछेदनस्थाण्वाहुत्यादीनां यूपार्थत्ववत् स्वर्वर्थत्वस्यापि सम्भवेन शकलश्रुतेर्वृक्षप्रतियोगिकतयैवोपपत्तेः । अत एव यथाशक्तिप्रयोगादौ यूपभावेऽपि स्वर्वर्थमेव वनगमनादिसिद्धिः । पञ्चारात्नेत्वसिद्धयर्थं द्वितीययूपछेदनादि “यूपं छिनत्ति” इत्यादिवाक्येन विहितं यूपभावे परं निवर्तताम् । न तु वनगमनाद्यपि । अतस्तन्निवृत्तिफलकयूपानुनिष्पन्नत्वासिद्धयर्थं यूपवयवत्वविधिरर्थवानेव । अत एव यूपानुनिष्पन्नप्रथमशकलनाशे येन केन चि-

त्काष्ठेनाञ्जनं पशोः । तेन प्रोक्षणादेस्स्वर्वर्थत्वे प्रमाणाभावाच्च
स्वरुस्तेषां प्रयोजकः । सूत्राणि च सुध्रीभिरस्मिन्नेवार्थे व्याख्ये-
यानि । न तु भाष्यकारोक्ते ॥ १ ॥

(२)-शाखायां तत्प्रधानत्वात् ॥ ७ ॥

दर्शपूर्णमासयोश्शाखामधिकृत्य “प्राचीमाहरति” इति श्रु-
तम् । तत्र प्राचीशब्दस्तावत् दिग्विशेषवाची “प्राचीमुदेति
सविता” इति प्रयोगात् । देशवाची वा, न तु तद्देशस्थशा-
खावाची । अतश्चोपक्रमस्थप्रातिपदिके लक्षणापेक्षया वरं द्विती-
यैव सप्तम्यर्थे व्याख्यातुं युक्ता । प्रतिशब्दाध्याहारो वा । क-
र्मापेक्षायां च प्रकृतत्वादेव शाखा तत्त्वेन सम्बध्यते । प्राग्देशस्य
पूर्वोत्तरावध्यपेक्षायां प्रत्यक्षोपस्थितत्वात्सामर्थ्याच्च वनविहारदे-
शौ तत्त्वेन सम्बध्येते । तेन वनात् विहारोपलक्षितप्राचीं प्रति-
शाखामाहरतीति वाक्यार्थः । न तु वृक्षस्य प्राचीं शाखामिति ।
तथात्वे छिनत्तीति स्यात् न त्वाहरतीति प्राप्ते—

प्रधानभूतविभक्तौ लक्षणायाः प्रतिशब्दाध्याहारस्य वा क-
र्माध्याहारपूर्वोत्तरावध्यध्याहारसहकृतस्य कल्पनापेक्षया एकस्मिन्
प्रातिपदिक एव प्रकृतशाखालक्षणया वाक्यार्थोपपत्तेः, प्राक्तन्य
च वृक्षावयवविशेषत्वरूपशाखात्वेनैवोपस्थितवृक्षावधिकतयाऽ-
प्युपपत्तेश्शाखावाद एवायम् । तेन वृक्षस्य प्राग्देशभवां प्राचीं
शाखां छित्त्वाऽऽहरतीत्यर्थः । प्रयोजनानुरोधान्तु विहारदेशं प्र-
तीति लभ्यते । शाखायां प्राग्देशभवत्वमात्रविधानफलकत्वाच्च
लाघवम् । तव तु शाखाहरणोद्देशेनैव प्राग्देशभवविहारावधि-
कत्वविधाने गौरवम् । याज्ञिकास्तु दिग्वादमेव वदन्ति ॥ २ ॥

(३)—शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेशेण विभागा-
त्स्याद्वैषम्यं तत् ॥ ८ ॥ श्रुत्यपायाच्च ॥९॥

तत्रैव “शाखामाच्छिनत्ति, शाखामाहरति, मूलतश्शाखां परिवास्योपवेशं करोति” इति श्रुतम् । तत्र शाखाशब्दस्तावत् आद्यवाक्ययोस्समूलस्यैव वाचको न त्वग्रमात्रस्य, अतस्तृतीय-वाक्येऽपि तत्पर एष, तदर्थं च परिवासनमग्रमूलविभागार्थम् । अतस्तृतीयवाक्ये मूलत इति पदं द्वितीयार्थे तृतीयार्थे वा तस्मिन् व्याख्याय ‘उपवेशं करोति’ इत्यत्रान्वेति । न त्वपादानार्थकं सत् परिवासने । तथात्वे अग्रस्याप्युपवेशत्वप्रसङ्गेन मूलत इत्यस्योत्तरत्रान्वयावश्यकत्वात् । अतः परिवासनेनाग्रं मूलं च शाखापदाभिधेयं विभज्य मूलमुपवेशसंज्ञमुपादत्ते इति तृतीयवाक्यार्थः । तस्य च विनियोगापेक्षायां अग्रस्य वत्सापाकरणादौ मूलस्य कपालोपधानादौ वचनाद्विनियोगः । अत एवोभयमपि छेदनाहरणपरिवासनादीनां प्रयोजकम् । अस्तु वा शाखाशब्दोऽग्रमात्रवाची तथाऽपि मूलत इति द्वितीयार्थे परिवासनस्य कर्मेति परिवासनमुभयप्रयुक्तम् । ल्यपा वा मूलापादानकपरिवासनमुपवेशकरणार्थं विधीयते इति सोऽपि तत्प्रयोजक इति प्राप्ते—

मूलत इति तसिः पञ्चम्यर्थक एव । सर्वविभक्त्यर्थकानुशासनं तु लाक्षणिकम् । अन्यथा विशिष्य पञ्चम्यर्थकत्वानुशासनवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । अतो मूलापादानकपरिवासनं द्वितीयाश्रुत्या शाखासंस्कारकमेव । न तु वाक्यादुपवेशकरणाङ्गं, न वा उभयसंस्कारकं, उद्देश्यानेकत्वप्रसङ्गाच्च अतश्शाखाशब्दोऽपि मूलापादानकपरिवासनसंस्कार्यतया श्रुताग्रमात्रवाची, छेदनादि-

वाक्येऽपि तद्वाच्येव । समूलछेदनादिकं तु मूलापादानकपरिवासनसिद्धयर्थं न विरुध्यते । अत एव वत्सापाकरणादौ शाखापदेनैवाग्रविनियोगः । अतो मूलं परिवासनाङ्गमेव । एवं च व्यवहितकल्पनाऽपि न प्रसज्यते । अत एव परिवासनानुनिष्पन्नमूलस्यैवोपवेषरूपसंज्ञान्तरकरणम् । अग्रस्य शाखापदेनैव सर्वत्र विनियोगेन संज्ञान्तरवैयर्थ्यापत्तेः । अत एव न व्यवहितकल्पनाया आवश्यकत्वम् । अतस्संज्ञाकरणमात्रफलक उपवेषं करोतीत्ययमनुवादो ल्यवन्तापेक्षिताक्रियान्तरप्रदर्शनार्थः । अतो न मूलं छेदनादीनां प्रयोजकम् ॥

प्रयोजनं—पौर्णमास्यां शाखाऽभावे येन केनचित् काष्ठेन कपालोपधानं न तूपवेषकरणम् ॥ ३ ॥

(४)—हरणे तु जुहोतिर्यागसामान्यात् द्रव्याणां चार्थविशेषत्वात् ॥ १० ॥ प्रतिपत्तिर्वाशब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ११ ॥ अर्थेऽपीति चेत् ॥ १२ ॥ न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ॥ १३ ॥

अत्रैव “सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति” इति “सहशाखया प्रस्तरं प्रहरति” इति च श्रुतम् । तत्राद्यवाक्ये तावन्मान्त्रवर्णिकदेवतासम्बन्धाद्धोमविधिरित्युक्तम् । न तु द्वितीयवाक्यविहितप्रहरणानुवादेन प्रस्तरमुद्दिश्य सूक्तवाकविधिरिति तन्त्रसारोक्तं युक्तं, यागस्यापि विधौ वाक्यभेदापत्तेः, यागविधायकवाक्यान्तरकल्पने गौरवाच्च । अतश्च द्वितीयवाक्ये प्रहरतिना होममनूय शाखासाहित्यमात्रविधिः, सहशब्दस्य निपातत्वेन परस्प-

रान्वयव्युत्पत्तेश्च न शाखा साहित्यं चेति विधेयानेकता । अतश्च यथैव होमे प्रस्तरो गुणभूतः एवं शाखाऽपि । तत्र त्वेतावान् विशेषः—प्रस्तरस्य द्वितीयया प्रक्षेपांशं प्रति प्रतिपाद्यत्वावगमात् त्र्यागांशस्तस्याक्षेपक इत्युक्तम् । शाखायास्तु वत्सापाकरणादाविव गुणत्वस्यैवावगतेः प्रस्तरहोमः प्रयोजक एवेति पौर्णमास्यामपि तदर्थं शाखोत्पादनीयेति प्राप्ते—

आद्यवाक्ये सूक्तवाकान्वयानुरोधेन प्रहरतिना होमलक्षणा-यामपि द्वितीयवाक्ये प्रहरतिना तल्लक्षणायां प्रमाणाभावात्प्रहरणस्यैव शाखासाहित्यसम्बन्धमात्रं क्रियते । अतश्च यथैव प्रहरणं प्रति प्रस्तरस्य कृतार्थस्य संस्कार्यत्वं, तथा शाखायाः कृतार्थत्वाविशेषात् । न च तृतीयया तस्याः करणत्वावगतिः, सहशब्दयोगेन तस्याः करणत्वानभिधायकत्वात् । न चैवं शाखां प्रहरतीत्येव वक्तव्यत्वापत्तेः प्रस्तरादिपदवैयर्थ्यं, प्रस्तरप्रहरणकालीनैतत्प्रहरणसिद्धयर्थत्वात् । अत एव प्रस्तरप्रहरणकालविशिष्टप्रहरणान्तरस्यैव शाखोद्देशेनात्र विवक्षितगत्या विधानं, न तु प्रस्तरप्रहरणव्यक्तेरेव शाखोद्देशेन विनियोगः, तथात्वे यथाशक्तिप्रयोगादौ प्रस्तराभावेऽपि शाखाप्रहरणानापत्तेः । अतश्च प्रतिपत्तित्वात्प्रहरणमपि न शाखायाः प्रयोजकम् । तेन पौर्णमास्यां न शाखोत्पादनम् । यथा तु प्रस्तरप्रहरणव्यक्तावेव शाखाया न गुणत्वं तथा षष्ठे^१ वक्ष्यते ॥ ४ ॥

(५)—उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभाग-
स्स्यात् ॥ १४ ॥ संयवनार्थानां वा प्रतिप-
त्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ॥ १५ ॥

तत्रैव “अपः प्रणयति” इत्यनेन विहितप्रणयनसंस्कृतानामपां “प्रणीताभिर्हवीषि संयौति” इति वचनेन संयवनार्थत्ववत् अन्ते “अन्तर्वेदि प्रणीता निनयति” इति निनयनार्थत्वेनापि विनियोगादुभयप्रयुक्तत्वम् । न च निनयनवाक्येऽपि द्वितीयानिर्देशात्प्रतिपत्तित्वाशङ्का । कुशलेनाध्वर्युणा यावत्संयवनोपयोगिनामेवापां प्रणयनेन शेषाभावात्प्रतिपत्तित्वानुपपत्तेः । अतस्सक्तुन्यायेन^१ निनयनस्यार्थकर्मत्वात्प्रयोजकत्वमिति प्राप्ते—

द्वितीयासंयोगादाकीर्णकराणां प्रतिपत्तिरेवेयम् । न च शेषाभावः तस्यावर्जनीयत्वात् । अनन्यथासिद्धप्रतिपत्तेरेव धारणप्रयोजकत्वाच्च । अतस्संयवनमेव प्रयोजकम् । अत्र चाग्नेयादिहविः पाकत्वेनैव संयवनाद्देश्यता । तेन चर्वादावपि प्रणीता भवन्त्येव । अत एवाभ्युदितेष्टौ दधिपयसोरपि प्रणीता वक्ष्यन्ते । वस्तुतस्तु—कपालं प्रति स्वोष्मजन्यपाकत्वेनेव पिण्डसंयवनत्वेनैवोद्देश्यता अतिप्रसक्तधर्मेण तदङ्गीकारे प्रमाणाभावात् । दधिपयसोः प्रणीताधर्मास्तु कृत्वा चिन्तया । याज्ञिकास्तु चर्वादावपि प्रणीताः कुर्वन्ति ॥

प्रयोजनं संयवनोत्तरं प्रणीतानां शेषे निनयनार्थं तदनुत्पत्तिः ॥ ५

(६)—प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ॥ २६ ॥ अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात्सग्वत् ॥ १७ ॥ कर्मयुक्ते च दर्शनात् ॥

सोमे “दण्डेन दीक्षयति” इत्यनेन दण्डस्य दीक्षाऽभिव्यञ्जकत्वं विधाय “ऋते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति” इति श्रुतम् ।

^१ त्वेनविनियोगवत्, पा.

^२ २-१-५.

तत्र पूर्ववदेव द्वितीयासंयोगान्मैत्रावरुणसम्बन्धिदानं दण्डप्रतिपत्तिः चतुर्थी षष्ठ्यर्थलाक्षिका । “वेदविदे गां ददाति” इति वद्धा प्राधान्याभावेऽपि सम्प्रदानत्वार्थिकैव । अत एव दीक्षितदण्डस्य दानमात्रेण प्रतिपत्तिसिद्धेर्नावश्यं स एव दण्डो “दण्डो प्रैषानन्वाह” इत्यनेन प्रैषानुवचने विनियुज्यते । तेन न प्रैषानुवचनं दण्डदानस्य प्रयोजकमिति निरूढपश्वादावापि न तदनुष्ठेयमिति प्राप्ते—

“कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्” इति स्मृत्या क्रियां प्रति व्याप्यमानं कर्मकारकं प्रत्यपि सम्प्रदानस्य व्याप्यमानत्वावगतेर्विधिबलेन कस्यचिद्व्याप्यमानस्योप्सितत्वे कल्प्यमाने व्याप्यव्याप्यस्य सुतरां व्याप्यत्वमिति न्यायेन मैत्रावरुण एव तदवगतेस्तस्यैवोद्देश्यत्वम् । सम्भवति च मैत्रावरुणस्योपयोगादुद्देश्यत्वम् । वेदविदादौ तु बाधात् स्वर्गादेरेवोद्देश्यता । दृष्टं चालम्बनं दण्डस्य प्रयोजनमिति नादृष्टार्थत्वमपि । न चैवं “दण्डं” इति द्वितीयाऽनुपपत्तिः, सकतुवत् करणत्वलक्षणार्थत्वात् । यत्तु—मूले अनीप्सितकर्मत्वेन तदुपपत्तिरित्युक्तं, तत् जुहोतेरपि “तृतीया च होश्छन्दसि” इत्यादिस्मृत्या सकर्मकत्वावगतेस्सक्तुष्वपि तदापत्तेरनीप्सितकर्मत्वेऽपि चोद्देश्यानेकत्वनिमित्तकवाक्यभेदापरिहारस्य कौस्तुभ एवोक्तत्वादुपेक्षितम् । अस्तु वा दण्डस्यानीप्सितकर्मत्वेनैवान्वयः सम्प्रदानस्य तु सत्यपि प्राधान्ये सम्प्रदानत्वैवैवान्वयान्न द्विकर्मकत्वापत्तिरित्यपि बोध्यम् । अतश्च दण्डविशिष्टदानस्योपयोगापेक्षायां “दण्डी प्रैषानन्वाह” इत्यादिना प्रैषानुवचनार्थत्वेन विनियुज्यते । अतो निरूढपश्वादौ दीक्षासोमक्रयाभावेऽपि दण्डदानानुष्ठानं तस्य प्रैषानुवचनप्रयुक्तत्वान्नानुपपन्नम् ॥

इदं त्विह वक्तव्यं—दानस्य दण्डं प्रत्यर्थकर्मत्वेऽपि दीक्षादण्डस्य कथं दानाङ्गत्वं, न हि स्वत्वत्यागे कृते यजमानेन स्वयं पुनर्व्यवहर्तुं शक्यम् । न चैतावदेव दण्डकार्यं दीक्षाऽभिव्यञ्जकालम्बनं न भ्रष्ट्राप्तिः, येनोपादानलाघवानुरोधेन प्रकृत एव गृह्येत । न च दानविध्यनुरोधेन कार्यसङ्कोचः तस्य लौकिकदण्डेनाप्युपपत्तेः प्रतिपत्तित्वे तु कृष्णविषाणावदेव युक्तस्तत्सङ्कोच इति ॥

अत्र ब्रूमः—श्रौतविधेरर्थकर्मत्वेऽप्यस्मदुक्तप्रयाजशेषाभिधारणन्यायैर्न^१आर्थिकदानप्रतिपत्तिविध्यन्तरकल्पनया प्रकृतेऽपि कार्यसङ्कोचोपपत्तिः । न चात्र मध्ये प्रतिपत्तयपेक्षाभावेन कल्पकाभावात्तन्मध्यवैलक्षण्यं, दानविधेर्दण्डान्तरप्रयोजकत्वशक्तिकल्पनाभिया कार्यसङ्कोच मङ्गीकृत्यापि मध्ये तदपेक्षोपपत्तेः । दृष्टश्च लोके अन्यानुरोधेनाप्यवश्यापेक्षितविषये स्वकार्यसङ्कोचेन अकाल एव तद्वर्कः । शक्यते चात्र स्वत्वत्यागांशस्य मैत्रावरुणोपकारकत्वाभावात् तदंशे दण्डप्रतिपत्त्यर्थत्वं वक्तुम् । स्वस्वत्वात्यागेऽपि समर्पणमात्रेणापि प्रैषानुवचनोपपत्तेः । अतश्च प्रतिपत्त्यनुरोधेन दीक्षितदण्डस्य तद्विषयत्वासिद्धिः । अत एव सत्रे सर्वेषां दण्डानां दानं, एवं च परप्रयुक्तदण्डोपजीवित्वाश्च श्रौतदानविधेः प्रैषानुवचनादेर्वा दीक्षितदण्डसत्त्वे दण्डान्तराक्षेपकत्वं, तन्नाशादौ तु दण्डान्तराक्षेपकत्वमक्षाभ्यञ्जनन्यायेन दृष्टमेव । श्रौतदानविधावेकत्वश्रवणादेकदण्डदानमेव मैत्रावरुणोपकारकमिति सत्रे प्रैषानुवचने एक एव दण्ड इत्यपि बोध्यम् । इदं च दीक्षितदण्डप्रापकवचनस्य पार्थसारथ्यादिमीमांसकैरलिखितत्वात्तदभावमभिप्रेत्योक्तम् ॥

वस्तुतस्तु—तैत्तिरीयशाखायां “यदीक्षितदण्डं प्रयच्छति” इति सार्थवादकवाक्यान्तरश्रवणात् ‘क्रीते’ इति दीक्षितपदरहितवाक्ये प्रतिपत्तिविध्यन्तराकल्पनेऽपि न क्षतिः, तैत्तिरीयवाक्येनैव मैत्रावरुणपदाश्रवणेन दानस्य प्रतिपत्तित्वसिद्धेः । क्रीतवाक्ये तु मैत्रावरुणपदश्रवणेन तत्प्राधान्यावगतेः तदुपकारार्थत्वमेव । अतश्च तैत्तिरीयवाक्ये यच्छतेस्सम्प्रदानापेक्षायां क्रीतवाक्ये स्वतन्त्रदण्डाक्षेपशक्तिकल्पनागौरवपरिहारार्थं च परस्परापेक्षतया दीक्षितदण्डस्यैव मैत्रावरुणोपकारार्थत्वसिद्धिः । न च तैत्तिरीयवाक्ये क्रीतवाक्यब्रिहितदण्ड एव दीक्षासम्बन्धविधानोपपत्तेः न प्रतिपत्तिविधायक त्वमिति वाच्यं, तथात्वे दण्डोद्देशेन दीक्षितत्वविधानेऽपि एकप्रसरताभङ्गापत्तेः दानस्य अर्थकर्मत्वे प्रमाणाभावः । प्राप्तदानानुवादेन कालमैत्रावरुणरूपो भयविधाने वाक्यभेदापत्तिः, अत उभयत्रापि दानविधिः, तत्र च दीक्षितपदयुक्तवाक्ये प्रतिपत्तिविधिरेव, सम्प्रदानाश्रवणात् दीक्षितपदश्रवणाच्च । क्रीतवाक्ये तु उक्तयुक्त्या अर्थकर्मत्वमेव । उभयत्र प्रयोजनं पूर्ववत् ॥

वस्तुतस्तु क्रीतवाक्येऽपि प्रैषानुवचनोपयोगिदण्डसंस्कारकत्वमेव दानस्येति दण्डस्यापीप्सितकर्मत्वमेव । न त्वेतावता दण्डप्रतिपत्तित्वं, उपयोक्ष्यमाणसंस्कारस्य न्याय्यत्वात् । मैत्रावरुणस्य तु सम्प्रदानत्वेनैवान्वय इति न कश्चिद्दोषः । सत्रे प्रैषादौ दण्डैकत्वं तु दण्डी प्रैषानन्वाह इत्यत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादेकवचनान्तेन व्युत्पत्तिमङ्गीकृत्य समर्थनीयमिति दिक् ॥ ६ ॥

(७)—उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत् श्रुतिहेतुत्वात्
तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात्प्रतिपत्तिस्स्यात् ॥

सोमे “कृष्णविषाणया कण्डूयते” इति कण्डूयनाङ्गत्वेन कृष्णविषाणां विधाय पुनरास्तां “नीतासु दक्षिणासु चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति” इति । तत्र निनयनवत् प्रासनं प्रतिपत्तिरेव द्वितीयासंयोगात् । न च दक्षिणादानोत्तरकालमपि दीक्षितस्य कण्डूयनसम्भवात् कृतकरत्वाभावात् न प्रतिपत्त्यर्हता, अनन्यथासिद्धप्रतिपत्तिविधिबलादेव दक्षिणादानप्राक्कालभाविक-कण्डूयनस्यैव कार्यत्वावधारणात् । न च प्रतिपत्तिमात्रे कार्यस्य जातत्वेन संस्कारवैयर्थ्यापत्तेः विनियोगभङ्गेन सक्तुवदर्थकर्मत्वमेव स्यादिति वाच्यं, जातेऽपि कार्ये उपयुक्तादि क निक्षिप्तव्यमित्यपेक्षाऽस्त्येवेति प्रतिपत्तिनियमविधेरुपयोगोपपत्तेः, तज्जन्यनियमादृष्टस्य चोत्पत्त्यपूर्वं जातेऽपि तदव्यवहितकार्योत्पत्त्युपयोगियागापूर्वनिष्ठयोग्यताजनन एवोपयोगः । न त्वेतदकरणस्य तत्कार्यनाशकत्वकल्पनं प्रयाजादावप्यकरणस्याग्नेयादिकार्यानुत्पादकत्वकल्पनापत्तेः, अकरणत्वादेः कारणतावच्छेदकत्वकल्पने गौरवाच्चेत्यादि कौस्तुभे अपूर्वाधिकरणे क्षुण्णम् । अत एवाहिताग्नेः परिधानीये कर्मणि पात्रासादनादिरूपप्रतिपत्तेरप्यैहिककर्मातिरिक्तकर्माङ्गत्वस्यैव फलबलेन कल्पनादैहिकफलोत्पत्तावपि न क्षतिरित्यपि तत्रैव क्षुण्णम् ॥ ७ ॥

(८)—सौमिके च कृतार्थत्वात् ॥ २० ॥ अर्थकर्म
वाऽभिधानसंयोगात् ॥ २१ ॥ प्रतिपत्तिर्वा

तत्रयायत्वाद्देशार्थाऽवभृथश्रुतिः ॥ २२ ॥

सोम एव “वारुणेनैककपालेन अवभृथं यन्ति” इत्यनेन अवभृथसंज्ञकं कर्म विधाय “यत्किञ्चित्सोमलिप्तं तेनावभृथं यन्ति” इति श्रुतम् । तत्र तृतीयया सोमलिप्तस्य करणत्वावगमात् तस्य च यारौऽन्वयासम्भवेऽप्यवभृथं प्रत्युपपत्तेः न द्वितीयार्थ-लक्षणया प्रतिपत्तिकर्मत्वम् । न च प्रतिपत्त्यपेक्षत्वात् दृष्टार्थत्व-लाभाय तल्लक्षणायामपि न दोषः, निषादस्थपत्यधिकरणन्या-येन^१ लक्षणानुपपत्तेः । अतोऽवभृथ एव सोमलिप्तस्य करणत्वम् । न चोत्पत्तिशिष्टैककपालावरोधादनिवेशः । अवभृथसंज्ञककर्मा-न्तर एव गुणप्रमाणके निवेशोपपत्तेः । यत्तु कैश्चिद्भावना-भेदमात्राङ्गीकारेण तस्मिन्नेवावभृथे समुच्चयेन निवेशः पूर्वपक्षितः । तत् वाजिनेऽपि तथाऽऽपत्तेरुपेक्षितम् । अतोऽवभृथद्वयस्यापि दीक्षोन्मोचनरूपैकार्थत्वेन विकल्पापत्तेर्द्रव्याणामपि विकल्पः । अ-दृष्टार्थत्वे तु तन्त्रेणानुष्ठानात् समुच्चय इति प्राप्ते—

कर्मन्तरत्वे अवभृथशब्दस्य नामातिदेशकत्वे गौणत्वाप-त्तेर्वाचकत्वे अनेकशक्तिकल्पनाप्रसङ्गाद्देवताऽभावेन च अरूप-त्वापत्तेः वारुणेनेत्यनुषङ्गस्य देशलक्षणयाऽप्युपपत्तावन्याय्यत्वात् यागरूपधात्वर्थ एव सोमलिप्तप्रतिपत्तित्वेन विधीयते । एवं च न धात्वर्थाविवक्षा परपदार्थसम्बन्धविधानं कर्मन्तरत्वादिकल्पना चाश्रिता भवति । न च तेनेत्यनेन करणत्व, त्यागे कर्मत्वल-क्षणा^२नुशासनिकसहयोगतृतीयाङ्गीकारेण साहित्यमात्रेणैकौ क-र्मत्वेनैव तदाश्रयणात् लक्षणाया अप्रसक्तेः । अवभृथपदं परं देशलक्षणार्थमिति न कश्चिद्दोषः ॥ ८ ॥

(९)–कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसम-
वायात् ॥ २३ ॥ नियमार्था वा श्रुतिः ॥ २४
तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ॥ २५
संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥ २६ ॥

तत्र कर्तारो अध्वर्यादयः कालाः पौर्णमास्यादयः देशाः समा-
दयः द्रव्याणि व्रीह्यादीनि गुणाः शुक्लादयः संस्काराः अवघातादयः
तत्तद्वाक्ये श्रुताः कर्मचोदनयैव आक्षेपेण प्राप्तत्वान्न विधीयन्ते, अतो
न ते कर्मविधिभिर्नियमेन प्रयुज्यन्ते इत्याशङ्काभासे प्राप्ते यावदा-
क्षेपेणानियताः प्राप्यन्ते तावद्वचनेन नियमफलकविधिकरणाभि-
यमेनैव प्रयोजकत्वम् । नियमविधिप्रकारश्च सर्वोऽप्यनागतावे-
क्षणन्यायेन अत्र, कौस्तुभे च मन्त्राधिकरण एव प्रदर्शितः ॥ ९ ॥

(१०)–यज्ञतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृ-
तार्थत्वात् ॥ २७ ॥ तदुक्ते श्रवणाज्जुहो-
तिरासेचनाधिकस्स्यात् ॥ २८ ॥

प्रसङ्गात् यागादिपदार्था विध्यनुष्ठाप्याः के इति विचा-
र्यन्ते । यत्र प्रक्षेपाङ्गको देवतोद्देशपूर्वको द्रव्यत्यागो विधीयते^१ स
यागपदार्थः प्रयाजादिषु प्रक्षेपसिद्धयर्थमाद्यं विशेषणं तत्र यागा-
क्षेपेणैव प्रक्षेपसिद्धेः । शक्यतावच्छेदकं चोक्तविधित्यागत्वसम-
व्यापकं जातिरूपमखण्डोपाधिरूपं वा सामान्यमित्युक्तमेव^२ । प्रक्षे-

^१ अनुष्ठियते. पा.

^२ भावार्थाधिकरणे.

पप्रधानक उक्तविधस्त्यागो होमपदार्थः । सम्प्रदानस्वत्वापादन-
को द्रव्यत्यागो दानपदार्थः । उभयत्रापि शक्यतावच्छेदकं तत्त-
द्धर्मसमव्यापकं पूर्ववदेव सामान्यम् । एतत्सूत्रव्याख्यानान्तराणि
गतार्थत्वान्न लिखितानि ॥ १० ॥

(११)—विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्र-
देशस्सयात् ॥ २९ ॥ अपि वोत्पत्तिसंयो-
गादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतु-
स्सयात् ॥ ३० ॥

सोमे—“यदातिथ्यायां बर्हिस्तदुपसदां तदग्नीषोमीयस्य”
इति श्रुतम् । तत्र देवदत्तस्य गौर्यज्ञदत्ताय प्रदीयतामिति वत्
यदातिथ्यायां बर्हिस्तत्त आच्छिद्य उपसदाद्यर्थे विधीयते, तेना-
तिथ्याया बर्हिष उपादानमात्रं प्रयुज्यते, अन्य धर्माः आस्तरणादि
कार्यं चेतरेभ्यामिति प्रथमः पक्षः ॥

उपादानमात्रस्य आतिथ्याप्रयुक्तत्वे अप्राकृतकार्यकारित्वा-
पत्तेरतिदेशप्राप्तधर्मादिलोपे प्रमाणाभावाच्च आच्छिद्य विधानानु-
पपत्तेरातिथ्यायामुपयुक्तायाः बर्हिव्यक्तेरेव उभयोद्देशेन निरिष्ट-
कोपदेशः । ततश्च बर्हिर्धर्माणां आतिथ्यार्थं कृतानां तदपूर्वोत्पत्तौ
नाशात्तस्यामेव व्यक्तौ उपसदाद्यर्थं पुनःपुनरुपादानवर्जं करणम् ।
यद्यपि च क्लृप्तोपकारप्राकृताधारपुनश्चरणबलादुपसदामपूर्वत्वं व-
क्ष्यते । तथाऽपि प्रकृतौ बर्हिषोऽङ्गप्रधानसाधारणत्वाच्चैवाधारा-
र्थमेव तत्करणं, बर्हिव्यक्तेरपि च तेनैव सम्बन्धेनोपसदुद्देशेन
विधानं, इतरथा अप्राकृतकार्यकारित्वापत्तेः । बर्हिःप्रतिपत्तेस्तु
दाहाख्यायाः प्रकृतावुत्पत्त्यपूर्वनिष्ठयोग्यतासम्पादकतयैव तस्य
नाशात् अग्नीषोमीयान्ते करणेऽपि नातिथ्योपसदर्थत्वम् । सि-

द्धान्तेऽप्येवम् । खण्डेष्टित्वाद्वा तयोस्तल्लोपः । तेन निरिष्टकोपदेश इति द्वितीयः ॥

विना वचनमन्यत्रोपयुक्तस्य अन्यत्रोपदेशे शिष्टाचारविरोधात् अतिदेशप्राप्तलवनादिबाधे प्रमाणाभावाच्च आतिथ्याप्रकरणपठित- तदङ्गाश्ववालादिबहिर्धर्माणामुभयोरतिदेशो वाचनिक इति तृतीयः ॥ अस्मिन् पक्षे न त्रिष्वपि व्यक्त्यैक्यम् ॥

सिद्धान्तस्तु—बहिःपदे धर्मलक्षणायां प्रमाणाभावात् त्रिष्वपि व्यक्त्यैक्यविधानम् । ततश्चातिथ्योपक्रमे लूयमानं बहिस्त्रितयसा- धारणमिति तत्र क्रियमाणा धर्मा आपे प्रतिपत्तिवर्जं सर्वसाधा- रणाः । न चाश्ववालादिधर्माणां प्रकरणेन तन्मात्रार्थत्वापत्तेः प्रसङ्गेनोपकारकत्वेऽपि इतरार्थत्वे प्रमाणाभावः, आश्ववालादिवा- क्यानामेतद्वाक्याव्यवधानेन त्रितयापूर्वसाधनीभूतैतद्व्ययत्तेरेवोद्दे- श्यत्वात् । अत्र च लक्षणया एतत्तत्त्वमेवोद्देश्यतावच्छेदक- मतो न वाक्यभेदः । बहिःपदेन तद्व्यक्त्यैक्यं लक्षणया वि- धीयते । न चैवं लक्षणाद्वयावश्यकत्वे धर्मातिदेशपक्षात्को विशेषः । जहत्स्वार्थलक्षणातो विशेषात्, आश्ववालादिधर्माणामुपसदाद्यर्थ- त्वस्य वाक्यीयत्वेन प्राकरणिकातिथ्यार्थत्वबाधापत्तेश्च । अत- स्तदुद्देशेनापि विधाने त्रिष्वपि पदेषु त्रित्वरूपोद्देश्यतावच्छेद- कलक्षणाया आवश्यकत्वाच्च । यथा च व्यासज्यवृत्तिधर्मस्योद्देश्य- तावच्छेदकत्वेऽपि एकैकविकारेऽतिदेशः तथा कौस्तुभे ग्रहैकत्वा- धिकरणे^१ निरूपितम् ॥ ११ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः.

(१)—द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थ-
वादस्स्यात् ॥१॥ उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥
फलं तु तत्प्रधानायाम् ॥ ३ ॥

अनारभ्य “यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं
शृणोति” इति श्रुतं द्रव्यं, सोमे “यदाङ्गे चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य
वृङ्गे” इति श्रुतसंस्कारः, “वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्र-
याजानूयाजा इज्यन्ते वर्मे यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै” इति
श्रुतं कर्म च नापापश्लोकश्रवणादिरूपफलार्थं, कामशब्दाद्यभा-
वेन वर्तमानापदेशस्य फलपरत्वानुपपत्त्या अर्थवादत्वस्यौदुम्ब-
राधिकरणे^१ साधितत्वात् । न च स्तुतिपरस्याप्यस्य तत्क्षणया
फलपरत्वं, एकस्यार्थद्वयपरत्वे वाक्यभेदात् । न च रात्रिस-
त्रवदुपस्थितत्वेन कामपदयुक्तपदान्तरकल्पनया फलपरत्वं, तद्व-
दिह वाक्यादिप्रमाणेन जुह्वार्थत्वस्यावगततया फलाकाङ्क्षाविर-
हात् । न च कर्मोदाहरणे प्रकरणगम्यकृत्वर्थत्वापेक्षया स्ववा-
क्योपस्थितफलपदकल्पनायामेव वैमृधवल्लाघवमिति वाच्यं, वि-
जातीयफलकल्पनातः क्लृप्तकृतूपकारस्यैव फलत्वौचित्यात् । इ-
ष्यत एव हि प्रबलप्रमाणोपस्थितसाकाङ्क्षावश्यकवैकृताङ्गत्यागेनैव
दुर्बलनिराकाङ्क्षप्राकृताङ्गग्रहणं विकृतौ क्लृप्तत्वमात्रेण । अतो
नैते फलप्रयुक्ताः उभयप्रयुक्ता वा । अपि तु क्रतुप्रयुक्ता एवेति
फलकामनायामसत्यामप्यनुष्ठेयाः । औदुम्बराधिकरणसिद्धस्या-
प्यस्यार्थस्य प्रयुक्तत्वरूपप्रयोजनसूचनार्थं पुनराक्तेः ॥ १ ॥

(२)—नैमित्तिके विकारत्वात्क्रतुप्रधानमन्य-
त्स्यात् ॥ ४ ॥

काम्यं गोदोहनादि कामाभावे नित्यप्रयोगे उपस्थित-
त्वेऽपि न ग्राह्यम् । तथा “ बार्हद्विरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्,
पार्थुरश्मं राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य ” इति ब्राह्मणाद्य-
धिकारकत्वे निमित्ते द्वादशाहसम्बन्धिब्रह्मसामस्तोत्रोद्देशेन वि-
हितं बार्हद्विरादि नैमित्तिकं च निमित्ताभावे अनुलोमाधिकारके
प्रयोगे न ग्राह्यं, निमित्ताभावेऽप्यनुष्ठाने निमित्तसम्बन्धस्य वै-
यर्थ्यापत्तेः । न च कामाभावे तत्साधनानुष्ठाने फलानुत्पत्तावपि
क्रतुसाद्रूप्योपपत्तेर्न कश्चिद्विरोध इति वाच्यं, तस्य क्रत्वर्थत्वे
प्रमाणाभावेन तदनुष्ठाननैयत्ये प्रमाणाभावात् । क्रत्वपेक्षायाश्च
अर्थाक्षिप्तयत्किञ्चित्साधनग्रहणेऽपि निवृत्त्युपपत्तेः । अत एव प्र-
बलप्रमाणेनाङ्गत्वेऽवगतेऽपि प्राकृताङ्गानां विकृत्यङ्गत्ववदस्यापि नि-
त्यप्रयोगार्थत्वमित्यपास्तम् । यदा तु कामनिमित्तसम्बन्धराहितं
वारणाभीवर्ताद्याम्नातमेव, तदा कः प्रसङ्गः काम्यनैमित्तिकग्रह-
णस्य । यत्र तु तन्नाम्नातं तत्रार्थाक्षिप्तस्य यस्यकस्यचिद्रूह-
णम् । सिद्धोऽप्ययमर्थः प्रयोज्यत्वरूपप्रयोजनकथनार्थमुच्यत इति
न विरोधः ॥ २ ॥

(३)—एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ॥ ५ ॥
शेष इति चेत् ॥ ६ ॥ नार्थपृथक्त्वात् ॥

यत्र तु विध्यन्तरं “ दध्ना जुहोति ” इत्यादिश्रुतं, तत्र का-
म्यस्यापि द्रव्यान्तरेण विकल्पः । द्रव्यान्तरविध्यभावे तु तस्यैव
ग्रहणम् । न च “ दध्ना जुहोति ” इत्यादि दध्यादेरुत्पत्तिवि-
धिः, उक्थ्ययूढादिवदस्यालौकिकत्वाभावात् । नापि काम्यदध्या-

देराश्रयविधिः, तस्य प्रकरणलभ्यत्वेन वैयर्थ्यात् । अतो नित्य-
प्रयोगे अङ्गताबोधार्थमेव स विधिरिति तस्योभयप्रयुक्तत्वम् ॥ ३ ॥

(४)—द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुध-
र्मस्स्यात् ॥ ८ ॥ पृथक्काद्व्यवतिष्ठेत् ॥ ९ ॥

सोमे “पयो व्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वै-
श्यस्य” इति श्रुतम् । ज्योतिष्टोमापूर्वसाधनीभूतब्राह्मणादिरू-
पाधिकारिसंस्कारार्थत्वेन विहितं पयोव्रतादि तत्प्रयुक्तमित्यवि-
वादमेव । अत्र च न बार्हद्विरादिवत् ब्राह्मणस्य निमित्तत्वं,
दृष्टविधया तस्योद्देश्यत्वे सम्भवति निमित्तत्वकल्पने प्रमाणा-
भावात् । अत एव रागप्राप्तभक्षणद्वारैव पयोनियमात् यस्य
रोगादिना अनशनप्रसाक्तिः तस्य न पयःप्रयोजकतेति ध्येयम् ॥४॥

(५)—चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत
न ह्यशब्दं प्रतीयते ॥ १० ॥ अपिवाऽऽम्ना-
नसामर्थ्याच्चोदनार्थेन गम्यते अर्थानां ह्यर्थ-
वत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्ते अर्थतो ह्यसम-
र्थानामानन्तर्येऽप्यसम्बन्धः तस्माच्छ्रुत्येक-
देशः ॥ ११ ॥ वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥ १२
तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥ १३ ॥ एकं वा चो-
दनैकत्वात् ॥ १४ ॥ स स्वर्गस्सर्वात्प्रत्यव-
शिष्टत्वात् ॥ १५ ॥ प्रत्ययाच्च ॥ १६ ॥

“विश्वजिता यजेत” इत्येकाहकाण्डपाठिताविश्वजिदादावश्रु-

तत्फलके भावनाया भाव्यापेक्षायां समानपदश्रुत्युपनीतोपि यागो न भाव्यः, ततोऽप्यन्तरङ्गविधिश्रुत्यवगतप्रवर्तकत्वबलेन पुरुषार्थस्यैव भाव्यत्वावगतेः, तृतीयान्तनामधेयसामानाधिकरण्येन यागस्य करणत्वावगतेश्च । अतोऽश्रुतेऽपि फले तद्वाचककामपदान्तफलपदाध्याहारेण पुरुषार्थफलकत्वमेव । तच्च फलमध्याहृतमपि वेदाकाङ्क्षया अध्याहृतत्वाद्भैदिकमेव । वेदतुल्यं वा । तत्फलमेकमेव कल्प्यते न सर्वाणि, एककल्पनयैव निराकाङ्क्षत्वात् । तदप्येकं स्वर्ग एव, न तु पुत्रपश्वादि “यन्न दुःखैर्न सम्भिन्नम्” इत्यादिवाक्यात् स्वर्गशब्दस्य सुखविशेषमात्रवाचित्वेन विजातीयस्वर्गत्वस्यैव जन्यतावच्छेदकत्वे लाघवात्, पुत्रादीनां सुखसाधनतया पुरुषार्थत्वस्य विलम्बोपस्थितिकत्वाच्च । स्वर्गस्य बहुभिः प्रार्थ्यमानतया शास्त्रस्य महाविषयत्वलाभाच्च । लाघवाविशेषेऽपि च न सुखत्वस्य ऐहिकामुष्मिकसाधारणस्य जन्यतावच्छेदकत्वं, स्वरसतो दुःखासम्भिन्नसुखस्यैवेच्छाविषयत्वाद्दुःखसम्भिन्नसुखस्य फलत्वानुपपत्तेः, व्याप्यधर्मेण जन्यत्वसम्भवे व्यापकधर्मेण अन्यथासिद्धत्वाच्च, व्यभिचारेण सुखत्वस्य स्वर्गत्ववदेव कार्यतावच्छेदकत्वानुपपत्तेश्च । अतो विश्वजित्त्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितजन्यतावच्छेदकत्वं विजातीयस्वर्गत्वस्यैव युक्तम् । मोक्षोऽपि च यदि दुःखध्वंसरूपः, तदा पापक्षयादिवदेव न विश्वजिज्ञन्यः जन्यतावच्छेदकगौरवात् । यदि त्वानन्दावाप्तिरूपः तदा तस्यज्ञानैकजन्यत्वान्न विश्वजिज्ञन्यत्वम् । यदाऽपि “कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः” इति वचनात्कर्ममात्रजन्यत्वं, ज्ञानकर्मसमुच्चयो वा प्रामाणिकः तदाऽपि “त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्” इत्याद्युपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया कर्मशब्दस्य सर्वकर्मपरत्वावसायादश्रुतफलकविश्वजिदविमात्रपरत्वे प्रमाणाभावः । न चैवमपि

कर्मान्तरसाधारण्येन अस्यापि तत्फलकत्वोपपत्तेः विश्वजिह्वा-
 क्यस्य चोत्पत्तिपरत्वेनापि चरितार्थत्वात्फलकल्पनानुपपत्तिरि-
 ति वाच्यं, उक्तवाक्येन कल्पनालाघवानुरोधेन कलूषप्रयोगविधि-
 नामेव कर्मणां मोक्षफलकत्वावगतेः अकलूषप्रयोगकस्य विश्व-
 जिदादेर्ग्रहणे वैरूप्यप्रसङ्गेन विश्वजिह्वाक्येऽपि प्रयोगविधिसि-
 द्धचर्थं कर्मफलकल्पनाया आवश्यकत्वात् । एतेन “विविदि-
 षन्ति यज्ञेन” इत्यादिवाक्यात् “कर्मणा पितृलोकः” इत्यादि-
 वाक्याद्वा विविदिषामात्रार्थत्वं पितृलोकमात्रार्थत्वं वा विश्व-
 जिदादेरपास्तम् । अत एव प्रयोगान्तरकल्पनाभियैव न प्रया-
 जादीनामेव विविदिषार्थत्वम् । एतेन “धर्मेण पापभपनुदाति”
 इत्यादिवाक्येन पापक्षयफलकत्वं विश्वजितोऽपास्तम् । तस्य
 नित्यस्थले निमित्तप्रयुक्तनैमित्तिकानुषङ्गिकत्वेन विश्वजिति प्रयो-
 जकत्वकल्पने वैरूप्यापत्तेः ॥ ९ ॥

(६)-क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्काष्णाजिनिः ॥

फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात् ॥

अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ॥ ११ ॥

“ज्योतिर्गौरायुः” इत्यादिवाक्योत्पादितानि सौल्यानि क-
 र्माणि विधाय “प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति” इति
 श्रुतम् । तत्र रात्रिसत्रादौ पूर्ववत् स्वर्गकल्पने स्वर्गोपस्थितिः
 तद्याचकपदोपस्थितिः कामपदान्ततत्कल्पना चेति गौरवापत्तेः
 लाघवात् श्रुतप्रतिष्ठादेरेव भाव्यत्वकल्पनम् । तत्र त्वयं व्यवस्था
 यत्र श्रुतानामेव पदानां लक्षणया फलपरत्वसम्भवः यथा उ-
 दाहृतवाक्ये तिप्रत्ययस्य लङर्थकत्वं कल्पयित्वा भविष्यत्काल-
 वृत्तित्वेन साध्यत्वावगतौ प्रतिष्ठादिस्वाभाव्यादीप्सितत्वसिद्ध्या

भाव्यत्वं, धातोरेव वा सन्नन्तत्वं परिकल्प्य इच्छाविषयत्वाव-
गतौ स्वर्गादिवदेव साध्यत्वावगतिः । तत्र प्राथमिकफलापेक्षायां
श्रुतवाक्यस्यैव लक्षणया फलपरत्वे प्रमिते पश्चात् स्तुत्यपेक्षा-
यामप्राप्तबलबन्धविधेरेव स्तावकत्वम् । यत्र तु श्रुतेष्वर्थवाद-
पदेषु न स्तावकत्वकल्पनं विना फलपरत्वमात्रेणोपपत्तिः “यद-
ष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनरिति” इत्यादौ, तत्र
तेषां स्तावकत्वमेव । फलापेक्षायां तु उपस्थितपदसमानजाती-
यपदान्तरस्यैव कामपदयुक्तस्य कल्पनेति सर्वदा न स्वर्गप्रयु-
क्तत्वम् ॥ ६ ॥

(७)—काम्ये कर्मणि नित्यस्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे
ऋत्वर्थः ॥ २० ॥ वीते च कारणे निय-
मात् ॥ २१ ॥ कामो वा तत्संयोगेन चो-
द्यते ॥ २२ ॥ अङ्गे गुणत्वात् ॥ २३ ॥
वीते च नियमस्तदर्थम् ॥ २४ ॥

यत्र श्रुतब्रह्मवर्चसादिफलकेष्वपि शास्त्रस्य महाविषयत्व-
लाभार्थं स्वर्गफलकल्पना, ब्रह्मवर्चसादिकं तु आयुरादिवदानु-
षङ्गिकं, तत्र किं वाच्यं रात्रिसत्रे इति शङ्कां मन्दविषयन्यायेन
शिष्यहितार्थं परिहर्तुं सूत्रम् ॥ फलाकांक्षायाः श्रुतफलेनैव शा-
न्तेरुद्देश्यानेकत्वनिमित्तवाक्यभेदप्रसङ्गाच्च न स्वर्गकल्पना । महा-
विषयत्वाभावस्तु विशेषश्रवणे न दोषः । आयुरादौ प्रमाणद्वय-
सत्त्वादानुषङ्गिकत्वेऽपि प्रकृते तदनुपपत्तेश्च ॥ ७ ॥

(८)—सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ॥ २५ ॥
फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात् ॥ २६ ॥

“ एकैकस्मै कामायान्ये यज्ञक्रतव आह्वियन्ते सर्वेभ्यो ज्यो-
तिष्टोमः, एकैकस्मै कामायान्ये यज्ञक्रतव आह्वियन्ते सर्वेभ्यो
दर्शपूर्णमासौ ” इति श्रुताभ्यां वचनाभ्यां संयोगपृथक्त्वन्यायेन^१
सर्वफलार्थत्वं, न तु तत्तत्प्रकरणस्थगुणकामानामपि दर्शादिप्रयो-
ज्यत्वात्तदभिप्रायेणानुवादत्वं, वैयर्थ्यात् औपचारिकत्वाङ्गीकारे
तादर्थ्यस्य प्रमाणाभावाच्च । अतोऽप्राप्तार्थकत्वादेव विधिभाव-
नावाचिपदाध्याहारेण सर्वफलार्थत्वेन विनियोगः । न चैवं स्वर्गो-
र्थत्वबोधकाविधिवैयर्थ्यं, गोबलीवर्दन्यायेन भिन्नविषयकत्वकल्प-
नयाऽभ्युदयशिरस्कत्वोपपत्तेः ।

अत्र चाविशेषात्सर्वाणि फलानि ज्ञेयानि । न त्वर्थवाद-
गतान्यशब्दस्य सदृशवाचित्वात् ज्योतिष्टोमदर्शपूर्णमाससदृश-
सोमयागान्तरेष्ट्यन्तरजन्यफलमात्रपरस्तत्र तत्र यथायोगं सर्व-
शब्दः, अर्थवादस्य स्तुत्यर्थत्वेनैवोपपत्तौ हारियोजनगतसर्व-
शब्दन्यायेन सङ्कोचकत्वानुपपत्तेः । अत एव सर्वशब्दस्य
सर्वनामत्वाद्वैदिकफलमात्रपरत्वमपि नाशङ्क्यं, वैदिकानामपि
पूर्वमनुपस्थितत्वात् । कथञ्चिदुपस्थितेर्लौकिकेष्वप्यविशेषाच्च ।
यानि तु शशविषाणप्राप्त्यादीनि प्रमाणेन केनाप्यप्रसिद्धानि तेषां
न सर्वशब्देन ग्रहणम् ॥

यत्त्वतीन्द्रियार्थापरोक्षज्ञातृत्वलक्षणसार्वज्ञ्यादेरपि न सर्वशब्देन
ग्रहणं तस्य लोकवेदयोः क्वचिदप्युपायान्तरजन्यत्वाददर्शनादित्युक्तं
तन्त्रसारतन्त्ररत्नादौ, तत् “ प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्र-
कृष्टज्ञानं, भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ” इत्यादिपातञ्जले “ चक्षुस्त्व
ष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि । मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं

पश्यति चक्षुषा” इत्यादिपुराणेषु च सिद्धिमात्रे योगधारणाविशेषस्य साधनत्वेनोक्तत्वादुपेक्षितम्, निरतिशयसार्वज्ञ्यस्याजन्यत्वेऽपि भुवनज्ञानादेस्सम्भवेन ग्रहणोपपत्तेः । नचैवं मन्वादीनामपि सर्वज्ञत्वोपपत्तेस्स्मृतीनां वेदमूलकत्वानापत्तिः, अष्टकास्वर्गसाधनत्वस्य प्रमाणान्तरेणासिद्धौ योगेनापि द्रष्टुमशक्यत्वात् ॥ ८ ॥

(१)—तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥ योगसिद्धि-
र्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात् ॥ २८ ॥

एकस्मिन् प्रयोगे किं सर्वाणि फलान्युत्पद्यन्ते उतैकमिति चिन्तायां सर्वत्वस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वेन कार्यतावच्छेदकत्वान् कारणेन च तदवच्छिन्नोत्पत्तिनियमात् सर्वाण्युत्पद्यन्ते ।

अस्तु वा तच्छब्दादाविव पुत्रत्वादिनैवोद्देश्यता सर्वत्वं च तद्विशेषणत्वादविवक्षितं, तथाऽप्येकस्मिन्नपि प्रयोगे कारणसत्त्वात् सकलकार्योत्पत्तौ बाधकाभावः । न ह्येकं कारणं कार्यद्वयं नोत्पादयति, एकस्मादपि घटादेः रूपरसक्रियाद्यनेकोत्पत्तिदर्शनात् । एककार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तौ तदवच्छिन्नान्तरस्यानुत्पत्तिदर्शनात् पुत्राद्यन्तरं नोत्पद्यतां कार्यतावच्छेदकान्तरावच्छिन्नस्य तु पश्वादेर्युगपत्क्रमेण वोत्पत्तौ न किञ्चिद्बाधकम् । न च सर्वेषां युगपत्सर्वस्य कामनाभावादनुत्पत्तिः, कामनायाः कर्माङ्गत्वे फलं प्रति जनकत्वे वा प्रमाणाभावेन तदभावेऽप्युत्पत्तौ बाधकाभावात् । प्रवृत्तिं प्रति परं फलेच्छायाः कारणत्वादन्यतम-फलेच्छामात्रेणैव प्रवृत्तौ जातायां कारणसत्त्वेन सर्वकार्योत्पत्तौ न किञ्चिद्बाधकम् । अत एव विध्यवगतसमीहितसाधनत्वमप्यन्यतरफल एव समाहितत्वबोधनेनोपपन्नम् । न च सर्वफ-

लोत्पत्तौ तेषां भोक्तव्यत्वेन मोक्षानुपपत्तिरिति तन्त्रसारोक्तं युक्तं, ज्ञानेन तदपूर्वाणां नाशात् । यदा तु स्वर्गवाक्यवैयर्थ्यापत्तेः तस्यैव मुख्यफलत्वं अन्येषां तु “एकैकस्मै कामाय” इत्यर्थवादात् अन्ये क्रतव एकैकस्मै अयं तु नैकस्मा एव किन्तु सर्वेभ्योऽपीत्यर्थावगतैरानुषङ्गिकत्वमिति तन्त्रसारोक्तमाश्रीयते तदा तेषां कामनाभावेऽप्यायुरादिवदुत्पत्तौ न किञ्चिद्वाधकम् ॥

वस्तुतस्तु—स्वर्गवाक्यस्याभ्युदयशिरस्कत्वेनाप्युपपत्तेरर्थवादस्य च साध्यसमुच्चायकत्ववत् मुख्यत्वसमुच्चायकत्वस्याप्युपपत्तेरिदं मतमुपेक्षितमिति पूर्वोक्तयुक्त्यैव सर्वोपपत्तिः ।

अस्तु वा अकाम्यमानस्यानुत्पत्तिः तथाऽपि यत्र द्वित्राणामेव फलानां कामना तत्र तावतामुत्पत्तिः केन निवार्या । न चायमेव सिद्धान्त इति तन्त्रसारोक्तं युक्तं, भाष्यादिष्वकथनेनापसिद्धान्तात् । अत एव यद्यप्यनुपस्थितत्वान्न पुत्रत्वादिकमुद्देश्यतावच्छेदकं, सर्वशब्दस्य विशेष्यसाकाङ्क्षत्वान्न सर्वत्वमपि, अपि तु पूर्ववाक्ये कामशब्दोपादानात्तस्यैव सर्वनाम्ना सर्वशब्देन परामर्शात् कामनाविषयत्वमेवोद्देश्यतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकं चेत्याश्रीयते, तथाऽपि यत्र समूहालम्बनीत्मकाऽनेकविषयिणी कामना तत्र तावतामुत्पत्तिरनिवार्यैवेति प्राप्ते—

उक्तयुक्त्या प्रवृत्तिप्रयोजककामनाविषयत्वमेवोद्देश्यतावच्छेदकम् । अनुष्ठानोत्तरभाविकामनाविषयत्वावच्छिन्नोत्पत्तिवारणाय प्रवृत्तिप्रयोजकतया क्लृप्ताया एव कामनाया उद्देश्यतावच्छेदककोटिप्रवेशार्थं प्रवृत्तिप्रयोजकेति कामनाविशेषणम् । ततश्चानुष्ठानोपक्रमे या कामना तद्विषयत्वावच्छिन्नस्यैकस्यैवोत्पत्तिर्नान्यस्य । न च समूहालम्बनस्थले विषयताया व्यासज्यवृत्तित्वाद्नेकोत्प-

त्तिप्रसङ्गः, समूहालम्बनज्ञान इव समूहालम्बनेच्छायामपि प्रत्ये-
कमेव विषयत्वस्यावश्यकत्वात् । इतरथा तादृशकारणात् समू-
हालम्बनात्मकयोरेव स्पृतियत्नयोस्तत्स्थापत्तेः । अत एव कार्य-
तावच्छेदकावच्छिन्नस्यैकस्यैवोत्पत्तिनियमादेकमृदादिभ्यो घटान्त-
रानुत्पत्तिवत्फलान्तरस्याप्यनुत्पत्तिरित्येकप्रयोगे एकमेव फलम् ।
निमित्तस्थले च तस्यैव प्रवृत्तिप्रयोजकत्वात् पापक्षयकामना-
यास्तु तत्त्वाभावेन पापक्षयस्योक्तविधकार्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वा-
भावाद्युपपन्नित्यकाम्यप्रयोगे पापक्षयेण सह स्वर्गादिफलोत्पत्ता-
वपि न क्षतिः । अत एव यत्र स्वातन्त्र्येण विविदिषापरमेश्व-
रप्रीत्याद्यर्थत्वेन तत्तद्विधिवलेन यज्ञाद्यनुष्ठानं तत्र कारणसत्त्वेन
स्वर्गाद्युत्पत्तौ प्रसक्तायां 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' इत्यादिस्मृत्या
फलान्तरद्वेषस्यापि तत्राङ्गत्वेन विधानादितरफलाभावविशिष्टवि-
विदिषादेरेव वा 'अकामस्सर्वकामो वा' इत्यादिना फलत्वाभि-
धानान्न तदुत्पत्तिः । सार्वकाम्यवाक्येन पश्वाद्यन्यतरः स्वर्गका-
मवाक्येन स्वर्ग इति तु इष्टमेव । इदमपि स्वर्गवाक्यस्य प्रयो-
जनमित्यपि बोध्यम् ॥

प्रयोजनं तत्तत्कामोल्लेखः ॥

एवं वा—स्वर्गस्तावदामुष्मिक एव,

“यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं यत्तत्सुखं स्वःपदास्पदम्” ॥

इति वाक्यशेषादवगतस्य निरतिशयप्रीतिरूपस्य तस्येह जन्मन्यस-
म्भवात्, मन्त्रार्थवादादौ देशविशेषभोग्यत्वप्रसिद्धेश्च । पशुपुत्रादी-
नां त्वैहिकामुष्मिकत्वं, न तु केवलामुष्मिकत्वम् । तत्रापि भोग-
प्रतिबन्धकदुरितसत्त्वे आमुष्मिकत्वम् । तदभावे त्वैहिकत्वमेव ।

न च कर्मणां शरीरारम्भद्वारैव फलसाधनतेत्यत्र किञ्चिन्नि-
यामकमस्ति, येन केवलामुष्मिकत्वं भवेत् । न चैषां कैवलै-
हिकत्वं, इह जन्मनि पुत्रपशुराज्यादिसत्त्वे तदयोग्यत्वेऽपि
वा जन्मान्तरे तन्मे स्यादिति कामनाया दुरपहवत्वात् । अतो
मुमूर्षूणामपि पश्चाद्यर्थं चित्राद्यनुष्ठेयमेव । यत्र तु वृष्ट्यादावैहिक
एव कामना तत्र केवलैहिकत्वम् ॥

अस्तु वा वृष्ट्यादेरपि तादृशकामनासत्त्वे उभयरूपत्वम् ।
केवलैहिकत्वं तु पुत्रगतपूतत्वादौ आहवनीयादौ च द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

(१०)—समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥ २९ ॥

कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥ ३० ॥ नास-

मवायात्प्रयोजनेन स्यात् ॥ ३१ ॥

“अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत” “वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्प-
तिसत्त्वेन यजेत” इत्यग्निवाजपेयप्रकरणे श्रुतम् । तत्र प्रकरणा-
न्तरन्यायेन प्रसिद्धसौत्रामणिबृहस्पतिसत्त्वापेक्षया कर्मान्तरमेव
तत्तद्धर्मकं अग्निवाजपेयपूर्वकालकत्वविशिष्टं विधीयते । तस्य च
फलापेक्षायां प्रकरणादिना अग्निवाजपेयाङ्गत्वमविवादमेवेति त-
त्तत्प्रयुक्तत्वं तत्तत्कर्मान्तरस्य । समाप्तेऽपि बृहस्पतिसत्त्वाद्यति-
रिक्ताङ्गविशिष्टवाजपेयादिप्रयोगे तदुत्तराङ्गमिदं फलानुकूलयोग्य-
तायाः परमापूर्वनिष्ठाया जननार्थं न विरुद्धयते । अत्र च
पूर्वपक्षो निर्बीजो गतार्थश्चेति नातीव तत्रादरः । तत्तद-
धिकरणादेः प्रयोजनमात्रं तु शिष्याहितार्थं कथ्यत इति
द्रष्टव्यम् । एवमन्यत्रापि यत्र पूर्वपक्षानुक्तिस्तत्रेदमेव प्रयोजनं
द्रष्टव्यम् ॥ १० ॥

(११)-उभयार्थमिति चेत् ॥ ३२ ॥ न शब्दैक-
त्वात् ॥ ३३ ॥ प्रकरणादिति चेत् ॥ ३४ ॥
नोत्पत्तिसंयोगात् ॥ ३५ ॥

दर्शपूर्णमासयोः “संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनुनिर्वपति”
इति श्रुतो वैमृधोऽपि प्रकरणादुभयोर्दर्शपूर्णमासयोरङ्गम् । न
च वाक्येन पौर्णमासीमात्राङ्गत्वावगमः, वाक्यस्थपौर्णमासीशब्द-
स्य ल्यप्प्रत्ययोपात्तकालप्रतियोगिसंस्थापदवाच्यसमाप्तिविशेषण-
त्वेनाङ्गपरत्वाभावात् । तत्त्वे वा संस्थाप्येतिपदस्य साकाङ्क-
त्वापत्तेः । न च फलापेक्षायामन्यार्थमप्युपात्तस्योपस्थितत्वाद्वा-
त्रिसत्रप्रतिष्ठावत्तद्वाचकपदान्तरकल्पनया पौर्णमासीमात्रार्थत्वमि-
ति वाच्यं, प्रयाजादिवत् प्रकरणेनोभयार्थत्वकल्लसौ भ्रातृव्याभि-
भूतिवदेव पदान्तरकल्पनानुपपत्तेः । अतस्स्वतन्त्रकालविधा-
नात्पौर्णमास्युत्तरकालमेव तद्दिने क्रियमाणोऽयमुभयाङ्गमुभयप्रयु-
क्त इति प्राप्ते—

प्रयाजेष्वङ्गुष्ठभ्रातृव्याभिभूतेः कल्पने गौरवाद्युक्तं विलम्बो-
पस्थितिकस्यापि क्लृप्तकृतूपकारस्यैव फलत्वम् । प्रकृते तु पौ-
र्णमास्युपकारस्यापि क्लृप्तत्वाद्युक्तं स्ववाक्योपस्थिततत्पदकल्प-
नया वाक्येनैव तन्मात्राङ्गत्वम् । अतश्चात्र पौर्णमासीप्रयोगस-
माप्युत्तरकालविशिष्टं कर्मैव पौर्णमास्युद्देशेन विधीयते । न चै-
वं तस्यापि विकृतित्वादतिदेशेन “य इष्ट्या” इत्यादिवचनेन
वा अमावास्याकालत्वापत्तिः, अनुशब्देन पौर्णमास्यानन्तर्यस्यापि
विधेयत्वेन तद्वाधात् । न चैवमनुनिर्वाप्य देविकाहविर्वत् प्र-
ज्ञानमात्रोत्तरत्वस्यैवापत्तेः प्रयोगवाहिर्भावानापत्तिः । “संस्था-

प्य” इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । “यच्छकनुयात्तद्द्यात्” इति दक्षिणाभेदाभ्यानाञ्च प्रयोगभेदस्य सङ्कर्षे वक्ष्यमाणत्वात् ॥

उपयोगस्तु परमापूर्वजननानुकूलायां फलानुकूलायामेव वा समुदायापूर्वनिष्ठायां योग्यतायां द्रष्टव्यः ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे अमावास्यायां तन्त्रमध्ये वैमृधः कार्य इति तन्त्रसारः । तत्र स्वतन्त्रकालक्रमयोराम्नानात् । अतोऽमावास्याविकारेष्वङ्गतिदेशः प्रयोजनम् । यद्वा तु पार्वणहोमवदस्यापि विकृतावतिदेशो नेष्यते तदा सङ्कल्पे उभयोरुल्लेखः । सिद्धान्ते पौर्णमासस्यैवेति द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥

(१२)—अनुत्पत्तौ तु कालस्स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ॥ ३६ ॥

सोमे “प्रहृत्य परिधीन् हारियोजनं जुहोति” “आग्निमारुतादूर्ध्वमनूयाजैश्चरन्ति” इति श्रुतम् । तत्र प्रहरणं तावत् द्वितीयया परिधिसंस्कारकं, परिधयश्च यद्यपि न सोमयागाङ्गं तथाऽपि तदङ्गसवनीयाद्यङ्गत्वेन प्राप्ता एवेति तेषां फलवत्त्वम् । अतश्च हारियोजनस्यापि यद्यपि नेदमुत्पत्तिवाक्यं, तथाऽपि तदुत्पत्तिवाक्ये फलाश्रवणात् तस्य परिधिप्रहरणाङ्गत्वम् । यद्यपि चायं सोमयागाभ्यास एव, तथाऽपि एतदभ्यासस्य परिधिप्रहरणाङ्गत्वं अभ्यासान्तराणां स्वर्गाद्यर्थत्वेऽपि उद्गात्रपच्छेदनिमित्तपुनःप्रयोगस्येव न विरुध्यते । एवं द्वितीयवाक्ये अनूयाजाः यद्यपि न सोमयागे प्रकृताः तथाऽपि तदङ्गसवनीयाद्यङ्गत्वेन सन्त्येव फलवन्तः । आग्निमारुतशस्त्रस्य तु यावत् प्रकरणात्कत्वङ्गत्वं कल्प्यते तावत् वाक्येनैवानूयाजाङ्गत्वम् । न चात्र वैमृधवत्पदान्तरकल्पनाऽपि, अङ्गभूतकालविशेषणत्वेनैवा-

ङ्गत्वोपपत्तेः । न च वैमृधवदस्यानुत्पत्तिवाक्यत्वादुत्पत्तिवाक्ये च फलापेक्षायां प्रकरणात्क्रत्वङ्गत्वकल्पनेति मूलोक्तं युक्तं, उत्पत्तिवाक्ये तदपेक्षायामपि इष्टसामान्यस्य भाव्यत्वमङ्गीकृत्य वाक्यान्तरेण विनियोगोपपत्तौ दुर्बलप्रमाणेन अङ्गत्वकल्पनानुपपत्तेरिति प्राप्ते—

हारियोजनस्य तावज्ज्योतिष्टोमत्वेनैव स्वर्गादिरूपस्य फलस्य कल्पितत्वाच्च वैमृधन्यायेन^१ पदान्तरकल्पनया प्रहरणाङ्गत्वे प्रमाणमस्ति । आग्निमारुतस्य तु यद्यपि न विशिष्य वाक्येन क्रत्वङ्गत्वं, तथाऽपि “द्वादशशस्त्रोऽग्निष्टोमः” इत्याद्यनन्यथासिद्धलिङ्गोपपृष्ठप्रकरणवशेनैव क्रत्वङ्गत्वसम्भवे वाक्येनाङ्गत्वकल्पनायोगः ॥

वस्तुतस्तु प्राप्तानूयाजोद्देशेन ऊर्ध्वत्वस्य आग्निमारुतस्य च विधौ वाक्यभेदापत्तेः परस्परान्वयित्ववादिनां प्राचामपि विशेषणविधिकल्पनागौरवापत्तेर्नानेन वाक्येन आग्निमारुतस्यानूयाजाङ्गत्वेन विधानम् । अत एव “आग्निमारुतादूर्ध्वं” इत्यत्र प्रद्वयेन लक्षणया तत्प्रतियोगिकोर्ध्वकाल एवानूयाजोद्देशेन विधीयते । “दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा” इत्यादौ तु तृतीयान्तस्थ इष्ट्वैत्यत्रैवान्वयाच्च लक्षणोक्तिरित्येयम् ॥

वस्तुतस्तु न प्रकृतेऽपि लक्षणा, “तां चतुर्भिः” इतिवद्विशिष्टभावनावोधेऽपि ऊर्ध्वत्वमात्रविधिफलकतया विधेयानेकत्वाभावात् ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे सवनीयविकारे सोमयागानङ्गे हारियोजनान्नाग्निमारुतयोः करणम् । सिद्धान्ते नेति ॥ १२ ॥

(१३)—उत्पत्तिकालविशये कालस्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ३७ ॥

सोमप्रकरण एव “दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत” इति श्रुतम् । तत्र यद्यपि फलार्थतया सोमयागस्य क्लृप्तत्वात् प्रकृतप्रत्यभिज्ञाबलेन न कर्मान्तरत्वाशङ्का, तथाऽपि प्रकरणान्तरन्यायेन^१ दर्शपूर्णमासधर्मकस्यैव कर्मान्तरस्य फलवत्सोमयागोद्देशेन विधेयपूर्वकालविशेषणतया विधानम् । न चात्र वाक्यभेदः परस्परान्वयस्य व्युत्पन्नत्वादिति प्राप्ते—

“सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ” इत्यादावाख्यातासमानाधिकरणत्वेन व्यवहितपरामर्शकत्वस्य कौस्तुभादौ स्थापितत्वात् कर्मान्तरत्वानुपपत्तेः स्वफलप्रयुक्तदर्शपूर्णमासपूर्वकालकत्वस्यैव सोमयागोद्देशेन विधानमिति कालार्थ एवायं संयोगः ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे सोमारम्भात्पूर्वस्मिन् पर्वणि दर्शपूर्णमासधर्मकं कर्मान्तरं सद्यस्कालं कृत्वा द्वयहकालं दर्शो वा पूर्णमासो वा कार्यः । सिद्धान्ते नेति ॥ १३ ॥

(१४)—फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूत- त्वात् ॥ ३८ ॥ अङ्गानां तूपधातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३९ ॥

वैश्वानरेष्टिस्तावत् पूतत्वाद्यार्थवादिकफलार्था, सत्यपि निमित्तसंयोगेन/करणे प्रत्यवाये भावनाभाव्यत्वेन पापक्षयापेक्षया पूतत्वादेरेव लघुभूतस्यान्वयात् । सा च पुत्रगतपूतत्वादिक-
लप्रयुक्ता, उत कर्तृगतपूतत्वादिकलप्रयुक्तेति चिन्तायां—

विधिना कर्तृसमीहितस्यैवाक्षेपात् आश्रानगतात्मनेपदेन चाग्निप्रयोज्यफलस्यात्मगामित्वावगतेरिष्टिकर्तयेव फलम् । न च “यस्मिन् जाते” इत्यादिना भूमिग्राहकप्रमाणेन पूतत्वादेः पुत्रगतत्वावसायः, तस्यापि “स तेजस्वी” इति सर्वनाम्ना निर्वपतिकर्तुरेव समानाधिकरणविभक्तिनिर्दिष्टस्य परामर्शेनाविरोधित्वादिति प्राप्ते—

यच्छब्दसमभिव्याहारे सति, तच्छब्दस्य तदर्थपरामर्शित्वनियमेन पुत्रगतपूतत्वादेरेव फलत्वावसायात्, तस्यापि कर्तृसमीहितत्वेन विध्यात्मनेपदयोरविरोधात् पुत्रगतपूतत्वादिप्रयुक्तैव सा । अकरणे प्रत्यवायस्तु कर्तृनिष्ठ एव ।

प्रथीजनं पुत्रमरणेऽपि जातेष्टिः पितरि फलसंस्कारश्च पूर्वपक्षे । सिद्धान्ते नेति । (उल्लेखो वा)॥

एवं वा—इयमिष्टिः पुत्रजननानन्तरमेव कार्या, सप्तम्या जननस्य निमित्तत्वावगमेन निमित्तानन्तरं नैमित्तिकस्योचितत्वात् । न चात्र सप्तम्या जननोत्तरकालविधिरिति तन्त्रसारोक्तं युक्तं, “पुत्रे” इति सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः । अतो ‘भिन्ने’ इतिवत् निमित्तपरैव सप्तमी । सापेक्षत्वाच्च हविरार्तिन्यायेनोभयविवक्षा । यद्यपि पुत्रमात्रं निमित्तं स्यात्, तथाऽपि निमित्तानन्तर्यलाभेन नैमित्तिकस्य शौचकालबाधेनाप्यनन्तरमेव करणम् । न च स्तन्यपानाभावे पुत्रमरणेन शेषिविरोधापत्तिः, जातकर्माङ्गभूतस्य घृतमधुप्राशनपूर्वकवैधप्राथमिकदक्षिणस्तनप्राशनस्योत्तरकालत्वेऽपि रागतो यत्किञ्चिन्प्राशनस्य सम्भवेन मरणानापत्तेः । न च जननानन्तर्यस्य जातकर्मेण्यप्यावश्यकत्वाद्विनिगमनाविरहः, प्रत्यक्षश्रुतिविहितस्यैव नियामकत्वादिति प्राप्ते—

जातकर्मणो नालच्छेदपूर्वभावविधानात् अच्छिन्ननालस्य प्राशननिषेधादिष्टेर्जननानन्तरमेव करणे मरणापत्तेः शोषिविरोधा-
पत्तया उत्कर्षः । न च निमित्तश्रुत्यनुरोधेन स्मार्तनिषेधस्या-
नाहिताग्निपरत्वं, भूतनिमित्तस्थले निमित्तस्य नैमित्तिकानुष्ठापन-
मात्रे विधेस्तात्पर्येणानन्तरानुष्ठानस्यासति बाधके उत्सर्गसिद्ध-
त्वेन निमित्तश्रुत्यविरोधान्निषेधसङ्कोचानुपपत्तेः ॥

वस्तुतस्तु—निमित्तत्वमनन्तरमवश्यानुष्ठापकत्वरूपमेव । अ-
न्यथा भेदनहोमादेरपि पदार्थगतकलृप्तक्रमबाधानुरोधेन अन्ते क-
रणापत्तेः । जातकर्मनामकरणादौ मलमासादावनुष्ठानानुपपत्तेश्च ।
अतो निमित्तश्रुतिविरोधेऽपि जातकर्मणोऽपि निमित्तानन्तर्यश्रव-
णादवश्यमन्यतरस्य तद्बाधे निषेधस्यापि सङ्कोचापत्त्या जाते-
ष्टावेव तद्बाधः । वरं हि स्मार्तानामप्यनेकेषां बाधे श्रौतस्या-
प्येकस्य बाधः, प्रमेयबलाबलस्य बलवत्त्वात् । अतो यत्रैवैता-
दृशं बलवद्बाधकं विशिष्य कालविधिर्वा तत्रैवागत्याऽऽनन्तर्यघ-
टितमेव निमित्तत्वं लक्षणया आश्रीयते । अतश्च तत्रातिदेशेन
प्राप्तानां सामान्यविहितानां वा शौचकालादीनां बाधे प्रमाणा-
भावादाशौचापगमे मलमासादिरहिते शुद्धे पर्वणि जातेष्टिः कार्या ॥

(१५)—प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकाल-
त्वम् ॥ ४० ॥ अप्रवृत्ते तु चोदनात् तत्सा-
मान्यात्स्वकाले स्यात् ॥ ४१ ॥

बृहस्पतिसवो वाजपेयोत्तरं शरद्येव कार्यः । यद्यपि हि
क्त्वाप्रत्ययेन नानन्तर्यमभिधीयते, पूर्वकालमात्रे स्मरणात्,
तथाऽपि औपदेशिकशरत्कालस्य साङ्गप्रधाने विहितत्वेनाद्भिः

प्रयाजादिष्वग्नेरिवातिदेशिकस्य वसन्तादिकालस्य बाधोपपत्तिः । एवं सौत्रामण्यापि चयनाङ्गत्वात्तदुत्तरकालमेव कार्या । न तु पर्वणि यागप्रयोगोत्तरकालीने, तदानीं चयननियमादृष्टस्य नष्टत्वे-
न सौत्रामण्या अनुपयोगात् । न हि सा ऋत्वङ्गं, धातुसम्बन्धाधि-
काराविहितेन क्त्वाप्रत्ययेन चयनमात्राङ्गत्वप्रतीतेरिति प्राप्ते—

शरत्कालस्य वाजपेयप्रयोगविशेषणत्वेन विधेयत्वात् “वा-
जपेयेनेष्टा” इति तृतीयया बृहस्पतिसवस्य तत्प्रयोगबहिर्भावा-
वगतेस्तत्र शरद्विध्यभावात्कालापेक्षायां नामातिदेशप्राप्तवसन्ता-
दिबाधे प्रमाणाभावः ।

एवं सौत्रामण्यामपि न पर्वबाधः, “अग्निं चित्वा” इत्य-
नेन हि चयनेन ऋत्वपूर्वसाधनीभूताग्निं संस्कृत्येत्यर्थावगतेः ईयं-
शचयनभावनोत्तरकालत्वसिद्धिः । न चानुपयोगः, चयनप्रयो-
ज्यऋत्वपूर्वोपयोगेऽपि चयनाङ्गत्वोपपत्तेः । न त्वेतावता ऋत्व-
ङ्गत्वमिति तन्त्रसारोक्तं मन्तव्यं प्रमाणाभावात् । “ऋत्वङ्गत्वं
वा चित्यङ्गत्वेनोपगम्यते” इति सङ्कर्षणसूत्रं तु ऋत्वपूर्वोपयोगा-
भिप्रायं व्याख्येयम् । अत एतेऽपि कालप्रयोजकाः ॥ १५ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः.

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः.

(१)—प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्व-
म् ॥ १ ॥ अपि वाऽङ्गमनिज्यास्स्युस्ततो
विशिष्टत्वात् ॥ २ ॥

राजसूयप्रकरणे इष्टिपशुसोमयागाः अयागाश्च होमविदेव-
नादयस्सर्वे फलाकाङ्क्षा अपि श्रुता न स्वाराज्येन फलेन स-
म्बध्यन्ते, भावार्थाधिकरणन्यायेन^१ यजेरेव फलभावनाकरणत्वा-
दयागानां तदङ्गत्वोपपत्तेः । राजसूयपदस्य यजिसामानाधिक-
रण्येन तन्मात्रनामत्वाच्च । न च राजा सोमः सूयते अभिषू-
यते अस्मिन्निति व्युत्पत्त्या राजसूयशब्दस्य सोमयागमात्रवा-
चित्वात् तेषामेव फलसम्बन्धोऽस्ति वाच्यं, राज्ञा क्षत्रिये-
ण सूयते निष्पाद्यते इति व्युत्पत्त्या सर्वेष्वप्युपपन्नत्वेन यजि-
सङ्कोचे प्रमाणाभावात् । अत एव राजा क्षत्रियः सुनोति आ-
ति यत्रेति व्युत्पत्त्या अभिषेचनीयस्यैव तन्माहेन्द्रस्तोत्रकाला-
भिषेकवत्त्वसम्बन्धेन राजसूयपदप्रसिद्धेस्तस्यैव फलसम्बन्ध
इत्यप्यपास्तं, उक्तव्युत्पत्त्या सर्वपरत्वसम्भवे यजिसङ्कोचे प्रमा-
णाभावात् अतस्सर्वे यागा एव फलप्रयुक्ता इति विदेवनादीनां
तद्विकृतावतिदेशः ॥ १ ॥

(२)—मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥ ३ ॥ सर्वा-
सां वा समत्वाच्चोदनातस्स्यान्न हि तस्य
प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ॥ ४॥

विदेवनादीनामङ्गत्वे सिद्धे सन्निधानादवान्तरप्रकरणाद्वा
अभिषेचनीयमात्राङ्गत्वस्य तृतीय^२ एव निराकृतत्वात् सर्वराज-
सूयाङ्गत्वस्यैव महाप्रकरणादवगतेः सर्वप्रयुक्तत्वम् । तार्तीया-
धिकरणप्रयोजनकथनार्थं चेदमाधिकरणम् ॥ २ ॥

(३)—प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभ-

यम् ॥ ५ ॥ अपि वा कालमात्रं स्यादद-
र्शनादिशेषस्य ॥ ६ ॥

राजसूय एव “सौम्यश्चरुर्वभृदक्षिणा” इति विधाय
“पुरस्तादुपसदां सौम्येन प्रचरन्ति” इति श्रुतम् । तत्रापि
सत्यप्युपसदां राजसूयान्तर्गतदशपेयाख्यसौमयागाङ्गतया फलवत्त्वे
षष्ठ्याः पुरस्ताच्छब्दस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गेन “षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन”
इति सूत्रानुसारादिग्योगनिमित्तायास्तादर्थ्यपरत्वाभावात् सौम्य-
स्य तदर्थत्वानुपपत्तेः, वैमृधवत् पदान्तरकल्पनया तदर्थत्वस्य
चानुत्पत्तिवाक्यतयाऽनुपपत्तेः, उत्पत्तिवाक्ये च फलापेक्षायां
सामान्यविधिनाऽपि क्लृप्तेन स्वाराज्यफलार्थत्वस्यैवावसायत्का-
लार्थ एव संयोगः ॥

वस्तुतस्तु उत्पत्तिवाक्यत्वेऽपि प्रवर्ग्यन्यायेन ^१उपसन्निष्टफ-
लवत्त्वज्ञानस्य स्वाराज्यवाक्याधीनत्वात्तदर्थत्वमेव युक्तम् । अ-
तस्तसौम्यः फलप्रयुक्त एव पाठक्रमात्पूर्वपठितकर्मान्तरकर्तव्य-
त्वेन प्राप्तोऽतिदेशप्राप्तोपसत्पूर्वं विधीयते । ततश्च न तद्विकृतौ
कर्तव्यः । पूर्ववच्चास्यापि तद्विकृतौ कर्तव्यता प्राप्ता अपोद्यत
इति सङ्गतिः । तेन सङ्गत्यभावादिदमधिकरणं विदेवनाधिकर-
णात्पूर्वं द्रष्टव्यमिति तन्त्रसारोक्तिरपास्ता । आचार्योक्तत्वादिति
हेतुकिस्तु अनुपलब्धिबाधितैव ॥ ३ ॥

(४)—फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ॥

“वैश्वदेवीं साङ्गहणीं निर्वपेद्द्रामकामः” इति प्रकृत्य “आ-
मनमस्यामनस्य देवाः” इति “तिस्र आहुतीर्जुहोति” इति

श्रुतम् । तत्रामनहोमानां साङ्गहणीष्टयङ्गत्वं, तस्याः विकृतित्वेन प्रकरणाभावेऽपि सन्निधानादेव तदङ्गत्वोपपत्तेः । “यत्प्रयाजानां पुरस्ताज्जहुयाद्वाहिरात्म न सजातानां दध्याद्यदनूयाजानामुपरि-
ष्टाज्जहुयात् स्वर्गं लोकमपक्रामेत् मध्ये जुहोति” इति प्राकृ-
ताङ्गमध्यवृत्तित्वश्रवणेन प्रकरणाद्वा^१ तदुपपत्तेश्च । वस्तुतस्तु -
आकाङ्क्षाऽनुवृत्तौ प्रमाणाभावाच्चेदं प्रकरणमिति ध्येयम् ।

एवं प्रयोजनवत्त्वोपपत्तौ च न ग्रामकामपदानुषङ्गेण स्व-
तन्त्रफलार्थत्वकल्पना, प्रमाणाभावात् इष्टयङ्गपरिधिपरिधानाङ्गभू-
तवैशेषिकमन्त्रैर्व्यवायाच्च । अतस्साङ्गहणीप्रयुक्ता एवैते । न तु
सौम्यवत् फलार्थः । अतस्सर्वदैव प्रयाजानूयाजमध्ये कर्तव्याः ।
न तु ग्रामान्तरकामनायामेव ॥ ४ ॥

(५)-दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ॥८॥

नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात् ॥ ९ ॥ सार्वरूप्या-

च्च ॥ १० ॥ नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः

कर्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य ॥११॥

सोमे “यां वै कांचिदध्वर्युश्च यजमानश्च देवतामन्तरि-
तस्तस्या आवृश्चेते प्राजापत्यं दधिग्रहं गृह्णीयात्” इति दधि-
ग्रहो नैमित्तिक एव । यद्यपि चायं यच्छब्दो न निमित्तत्व-
प्रतिपादकः, देवतापदसमभिव्याहृतस्य अन्तरायनिष्ठनिमित्तत्वा-
प्रतिपादकत्वात्. देवतायाश्चान्तरायान्वितायां नित्यायाः स्वरूपेण
निमित्तत्वायोगाच्च, तथाऽपि देवतान्तरायनिमित्तदोषपरिहारफ-

लवत्वावगमात्तस्य च कादाचित्कत्वाभैमित्तिकत्वं, अर्थवादान्वयार्थं पदान्तराध्याहारस्यावश्यकत्वाद्वा नैमित्तिकत्वम् । “ज्येष्ठो ह वा एष ग्रहाणां यदधिग्रहः” इति तु वैगुण्यपरिहारार्थत्वेनापि श्रेष्ठत्वादुपपन्नमिति प्राप्ते—

न तावदार्थवादिकं फलं पर्णमयीन्यायविरोधात् । अर्थवादान्वयस्तु यत्र देवताभावे प्रधानस्यैव लोपापत्तेस्तन्निमित्तिकमपि वैगुण्यं परिह्रियते तत्रेतराङ्गवैगुण्यपरिहारे प्रधानसादृश्ये वा का सम्भावनेत्येवं नानुपपन्नः । न चान्तरायजनितवैगुण्यध्वंसस्य कृतत्वेन तं प्रत्येवार्थवादिकस्य जनकत्वस्य कल्पनयोपपत्तौ द्वारीभूतादृष्टांशकल्पने गौरवमिति वाच्यं, ज्येष्ठत्वसंस्तवस्याञ्जस्यानुपपत्तेः, पक्षद्वयेऽप्यन्तरार्थवादस्यानाञ्जस्यावश्यकत्वेन प्रकरणपाठस्य पाक्षिकत्वपरिहारार्थमन्तरायार्थवादस्यैव तदौचित्याच्च । लाघवस्य प्रमाणानुग्राहकत्वेन प्रमाणविरोधे अकिञ्चित्करत्वात् । अतो देवतान्तरायनिमित्तवैगुण्यस्य दधिग्रहेण परिहर्तुमशक्यत्वान्नित्यमेवाङ्गं दधिग्रहः ॥ ५ ॥

(६)—वैश्वानरश्च नित्यस्स्यान्नित्यैस्समानसङ्ख्यत्वात् ॥ १२ ॥ पक्षेवोत्पन्नसंयोगात् ॥ १३ ॥

अग्नौ “यो वै संवत्सरमुख्यमभृत्वाऽग्निं चिनुते यथा सामिगर्भोऽवपद्यते तादृगेव तदार्तिमाच्छेत् वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरस्तान्निर्वपेत्” इति श्रुतो यागस्तु आलस्यादिना संवत्सरपर्यन्तमुख्यधारणासम्भवे प्रायश्चित्तरूपो नैमित्तिक एव, कर्तृ-

समानाधिकरणेन यच्छब्देन क्रियाकर्तृत्वस्य उद्देश्यत्वावगमा-
निमित्तत्वप्रतीतेः । अतो भेदनहोमादिवदयं संवलितक्रतुनिमि-
त्तोभयप्रयुक्तः ॥ ६ ॥

(७)—पट्वितिः पूर्ववत्स्यात् ॥ १४ ॥ ताभिश्च
तुल्यसङ्ख्यानात् ॥ १५ ॥ अर्थवादोपपत्तेश्च ॥
१६ ॥ एकचित्तिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते
निमित्तेन ॥ १७ ॥ विप्रतिषेधात्ताभिस्स-
मानसङ्ख्यत्वम् ॥ १८ ॥

तत्रैव “योऽग्निं चित्वा न प्रतितिष्ठति पञ्च पूर्वाश्चितयो
भवन्ति अथ षष्ठीं चितिं चिनुते” इति श्रुता षष्ठी चित्तिरपि
उपक्रमस्थकर्तृसमानाधिकरणयच्छब्दबलेनाप्रतिष्ठायाः निमित्तत्वा-
वगतेर्निमित्तिक्येव । यस्तूपसंहारे षष्ठीमिति षण्णां पूरणार्थकः
प्रत्ययः, सोऽभिधानापेक्षः, न त्वनुष्ठानापेक्षः, पञ्च चितयः पूर्व-
मभिहिताः इदानीमियं षष्ठी अभिधीयते इति । तस्मादग्निच-
यनोत्तरमप्रतिष्ठायां निमित्ते एकैव चित्तिरदृष्टार्था, चयनाङ्गतया
प्रयोगभेदेन प्रतिष्ठाफलार्थं वा विधीयते ॥ ७ ॥

(८)—पितृयज्ञस्त्वकालत्वादनङ्गं स्यात् ॥ २९
तुल्यवच्च प्रसङ्ख्यानात् ॥ २० ॥ प्रतिषिद्धे
च दर्शनात् ॥ २१ ॥

अनारभ्य श्रुतं “अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन च-
रन्ति” इति । तत्रायं पिण्डपितृयज्ञो दर्शेष्टयङ्गं, अमावास्या-
Vor. II.

पदेन कर्मवाचिना “तत्र जयान् जुहुयात्” इतिवत् वाक्याद्-
दर्शकत्वप्रतीतिः। यद्यपि चायं कालेऽपि मुख्यः, तथाऽपि फल-
कल्पनाभियाऽत्र कर्मपरत्वमेव युक्तम् ॥

वस्तुतस्तु यद्यपि काल एव मुख्यः कर्मणि तद्योगान्तिरू-
ढलक्षणा, प्रकृते च^१ कालपर एव, अपराहसामानाधिकर-
ण्यात्। तथाऽपि “तस्मात्पितृभ्यः पूर्वद्युः करोति” इति वाक्ये
दर्शोष्ट्रपूर्वद्युःकालश्रवणात् वैमृधन्यायेन^२ दर्शोष्ट्ररुपस्थितत्वात्स-
दङ्गत्वमिति प्राप्ते —

अमावास्याशब्दस्य कर्मवाचित्वं भवतैव निराकृतम्। ल-
क्षणा तु प्रमाणाभावात्कालसामानाधिकरण्याविरोधाच्च दूरतोऽ-
पास्तैव। पूर्वद्युर्वाक्कर्मपीष्टेरनुपस्थितत्वाच्च तत्प्रतियोगिककालं
विधत्ते, अपि तु तिथिद्वैधे पूर्वद्युःकालं

“यथाऽस्तं सविता याति पितरस्तामुपासते”

इति प्राप्तमनूद्य देवतामात्रम्। केचित्तु द्वैधे चन्द्रदर्शना-
त्पूर्वद्युरिति व्याख्याय खण्डपर्वणि परेद्युः पितृयज्ञमनुतिष्ठन्ति।
सर्वथा न दर्शाङ्गं पितृयज्ञः। एवं च “पौर्णमासीमेव यजेत
भ्रातृव्यवाजामावास्यां^३ हत्वा भ्रातृव्यममावास्यया यजेत पिण्डं
पितृयज्ञेनैवामावास्यायां प्रीणाति” इति दर्शोष्ट्रभावेऽपि पिण्ड-
पितृयज्ञदर्शनं सङ्गच्छते। एतद्वलेनैव च “पितृभ्य एव तद्यज्ञं
निष्क्रीय यजमानो देवेभ्यः प्रतनुते” इत्यादिपिण्डपितृयज्ञार्थ-
वादे यज्ञोपस्थितावपि न क्षतिः।

यत्तु “न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः”^४ इति
मनुवचनं तत् श्राद्धं कृष्णपक्षश्राद्धं दर्शेन अमावास्यया विना

^१ दृश्यते च इति — पा.

^२ ०-३-११.

^३ मनु. ३-२८२.

आहिताग्नेर्न भवति अनाहिताग्नेरिव तिथ्यन्तरेष्विति व्याख्येयम् ।
न तु दर्शेन दर्शोष्टिं विना श्राद्ध पितृयज्ञौ न भवतीत्येवं व्याख्येयं,
दर्शपदे लक्षणायां प्रमाणाभावात् । तेनायं स्वर्गार्थं इति मूला-
नुयायिनः ॥

वस्तुतस्तु—अकरणे सप्तहोतृहोमरूपप्रायश्चित्तस्य आपस्त-
म्बादिभिस्स्मरणात् ज्योतिष्टोमादिकृतुभिस्तुल्यवद्वर्णनाच्च नित्य
एवायम् ॥

प्रयोजनं दर्शाभावेऽपि करणं, तद्विकारेषु च नातिदेशः ॥

यत्तु भाष्यकारेण पौर्णमास्यामाधाने कृते अग्रिमामावा
स्यायां दर्शोष्ट्यभावात् पूर्वपक्षेऽकरणमित्युक्तं, तत् द्वादशरात्रि-
षु पवमानेष्टिपक्षे आधानोत्तरदिने पौर्णमासकालाभावे च बो-
ध्यम् । यदा तु तदुत्तरदिने कालसत्त्वं पौर्णमासस्य, तदा
आधानदिन एव सेष्टिसान्धारम्भणीयं पौर्णमासस्यान्वाधानं कृत्वा
श्वोभूते पौर्णमासेनेष्टा अग्रिमदर्शोष्ट्यङ्गतयैव पितृयज्ञानुष्ठाने न
कश्चिद्विरोधः ॥ ८ ॥

(९)—पश्वङ्गं रक्षना स्यात्तदागमे विधानात् ॥२२॥

यूपार्ङ्गं वा तत्संस्कारात् ॥२३॥ अर्थवादश्च

तदर्थवत् ॥२४॥

सवनीयस्य सन्निधौ “आश्विनं ग्रहं गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं
पारेव्ययति” इति श्रुतेन वचनेन पशुत्रयसाधारणयूपपरिव्याणा-
पेक्षया यूपपरिव्याणान्तरं सवनीयाङ्गतया प्रकरणान्तरन्यायेन^२

^१ ‘महाहविर्होता इत्यादि’ इत्यधिकम्.

^२ २-३-११.

अभ्यासाद्वा यूपदार्ढ्यप्रयोजनकं विधीयते । आश्विनोत्तरकाल-
ता उपनिष्क्रमणं च पाठादर्थान्न प्राप्तमनूद्यत इत्युक्तमेव । अ-
तश्च “आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं
सवनीयं पशुमुपाकरोति” इत्युत्पत्तिवाक्ये पुनश्चतुतं परिव्याणं
न यूपसंस्कारार्थं वैयर्थ्यापत्तेः । किन्तु यूपमिति द्वितीया सप्तम्यर्थे।
‘परिवीय’ इत्यस्य कर्माकाङ्क्षायां ‘पशु’ इत्यस्यानुषङ्गः, तथा च त्रि-
वृत्करणकयूपध्रिक्करणकपशुसंस्कारकपरिव्याणोत्तरकालविशिष्ट-
यागविधानात् पश्वर्थमेव परिव्याणं पश्वनपक्रमणार्थमिति प्राप्ते—

द्वितीयया परिव्याणस्य दृष्टविधयैव यूपार्थत्वे सम्भवति
लक्ष्णानुषङ्गयोः प्रमाणाभावः । न च वैयर्थ्यं, रशनाधर्माणां
दर्शनार्थत्वादीनामेतत्परिव्याणसाधारण्यसिद्धिद्वयार्थमनुवादत्वस्य तृ-
तीये^१ साधितत्वात् । अन्यथा रशनाधर्माणामौपसत्येऽहन्य-
नुष्ठीयमानयूपपरिव्याणाङ्गत्वस्यैवानुष्ठानसादेश्वादापत्तौ अप्राकृत-
कार्यैकार्यै तत्परिव्याणार्थत्वासिद्धेः । सात त्वस्मिन् त्रिवृत्कर-
णकयूपपरिव्याणानुवादे, तद्वलेनैव प्रकृतयागीययूपव्यक्तिसम्बन्धि-
परिव्याणमात्रस्यैवोद्देश्यत्वावगमात्साधारण्यसिद्धिः ।

अस्तु वा निर्वपतिवदेव प्रकृतिलिङ्गसादृश्येन प्राकृतपरि-
व्याणातिदेशसिद्धयर्थमास्मिन् परिव्याणे त्रिवृत्त्वानुवादः । सर्व-
था न परिव्याणान्तरं पशुसंस्कारार्थम् ॥

प्रयोजनं—यूपे द्वैरशन्यसत्त्वेऽपि पशावपि द्वैरशन्यं पूर्वप-
क्षे प्रकृतौ विकृतौ च । सिद्धान्ते नेति ॥ ९ ॥

(१०)—स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ॥ २५ ॥ निष्क्र-

यश्च तदङ्गवत् ॥ २६ ॥ पश्वङ्गं वाऽर्थक-
मर्त्वात् ॥ २७ ॥ भक्त्या निष्क्रयवाद-
स्यात् ॥ २८ ॥

“यूपस्य स्वरं करोति” इति षष्ठ्या स्वरोः यूपार्थत्वाव-
गमात् “स्वरुणा पशुमनक्ति” इत्यञ्जनं प्रतिपत्तिः “यत्किञ्च-
त्सोमलिप्तं तेनावभृथं यन्ति” इतिवदिति प्राप्ते—

स्वरोर्यूपार्थत्वे अदृष्टार्थत्वापत्तेः षष्ठ्याश्चावयवव्यतिरेकनि-
मित्तत्वेनाप्युपपत्तेः ‘स्वरुणा’ इति तृतीयादिबलात् पश्वञ्जना-
र्थत्वमेव । सोमलिप्ते त्ववभृथपदे गौणत्वाद्यनेकदोषाभया तदङ्गी-
करणमित्युक्तमेव ¹ ॥

प्रयोजनं पूर्वपक्षे एकयूपके पशुगणे एकस्यैव पशोस्समञ्ज-
नम् । सिद्धान्ते तु सर्वेषामिति ।

पार्थसारथिमते तु प्रयाजशेषाभिघारणन्यायेन ² आधारनि-
यमस्य पशुसंस्कारार्थत्वापत्तेः पूर्वपक्षेऽपि सर्वेषामञ्जनप्रसङ्गात्
प्रयोजनानुपपात्तेरिति भाष्यविरोधोऽपि ॥ १० ॥

(११)—दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशे-
षात् ॥ २९ ॥ अपि वाऽङ्गानि कानिचित्
येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिस्सामान्यतो ह्यभिसं-
स्तवः ॥ ३० ॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३१
अविशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य वि-

द्यमानत्वात् ॥ ३२ ॥ नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं
 परार्थत्वात् ॥ ३३ ॥ पृथक्ते त्वभिधानयो-
 निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनर्मुख्य-
 लक्षणं यत्फलवत्त्वं तत्सन्निधावसंयुक्तं त-
 दङ्गं स्यात् भागित्वात्कारणस्याश्रुतश्चान्य-
 सम्बन्धः ॥ ३४ ॥ गुणाश्च नामसंयुक्ता वि-
 धीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते ॥ ३५ ॥ तुल्या च
 कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाङ्गिसम्बन्धः ॥ ३६ ॥ उ-
 त्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशस्स्यात् ॥
 ३७ ॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३८ ॥

प्रयाजादिसाधारण्येन “दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजे-
 त” इत्यनेन राजसूयवत् यजिना न फलसम्बन्धः । किन्त्वाग्ने-
 यादीनां षण्णामेव, दर्शपूर्णमासनाम्ना आग्नेयादिषड्यागेष्वेव प्र-
 सिद्धार्थकेन यजैरवच्छेदात् । यथा च दर्शपूर्णमासनाम्नः प्रसि-
 द्धार्थकत्वं तथोपपादितं पौर्णमास्यधिकरणे^१ । तदधिकरणप्रयो-
 जनकथनार्थं त्विदमधिकरणं प्रयुक्तिसिद्धयर्थं न विरुध्यते ।
 राजसूयनाम्नश्च यथा प्रकृतसर्वयागपरत्वं तथा तदधिकरणे^२ स्प-
 ष्टमेव । अतश्च प्रयाजादीनामङ्गत्वाद्विकृतावतिदेशः ॥ ११ ॥

(१२)—ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥
 गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात्कारण-

श्रुतिस्तस्मात्सोमः प्रधानं स्यात् ॥ ४० ॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ४१ ॥

“ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत” इत्यनेन स्वर्गफलसम्बन्धो न सोमयागस्यैव, अपि तु प्रायणीयादीनां सर्वेषामेव, यागत्वाविशेषेण सर्वेषामेव यजिना फलोद्देशेनोपादानात्, सर्वेषां ज्योतिष्टोमनामत्वाविशेषाच्च । न च स्ववाक्ये विहितस्यैव ज्योतिष्टोमसंज्ञकस्य फलोद्देशेन विधानादितरेषां तदङ्गत्वमिति वाच्यं, अग्नीषोमीयाद्यपेक्षयाऽत्र कर्मान्तरे प्रमाणाभावात् । अत एवैतद्वाक्यावहितकर्मणोऽप्रांसद्धत्वादग्नीषोमीयाद्यनुवादेन च सोमविधानायोगात्सोमवाक्येऽपि सोमविशिष्टयागस्यैव विधानम् ॥

न च विशिष्टविधिगौरवभिया लाघवसहकृतवाक्यान्तरोपात्तगुणादेव ज्योतिष्टोमवाक्ये कर्मविध्यङ्गीकारः, तथात्वे नित्यवाक्येऽपि कर्मान्तरस्य विनिगमनाविरहेणापत्तौ सोमवाक्य एव उत्पत्त्यन्वयिगुणेन विशिष्टविध्यङ्गीकारस्य न्याय्यत्वात् । अतश्च प्रकृतत्वाविशेषात् राजसूयवत् सर्वेषां फलसम्बन्धः । न च “एतानि वाव ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः” इति वाक्यशेषात् सोमयागस्यैव ज्योतीरूपत्रिवृदादिस्तोमसम्बन्धेन ज्योतिष्टोमनाम्नस्तत्रैव प्रसिद्धार्थकत्वात् दर्शपूर्णमासपदव्यवच्छेदकत्वोपपत्तेस्तस्यैव फलसम्बन्धोपपत्तिरिति वाच्यं, एतस्यार्थवादत्वेन गौणतयाऽप्युपपत्तौ, अर्थान्तरवाचिनो ज्योतिश्शब्दस्य स्तोमवाचित्वाभावात्, ज्योतीरूपस्तोमाङ्गकत्वस्य फलसम्बन्धोत्तरकालीनत्वेनाविशेषात् ॥

न च “ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति” इत्यनेन वचनेन स्तोत्रोपाकरणस्य सोमयागाङ्गभूतग्रहग्रहणाद्यङ्ग-

त्वावगमात् स्तोमानामपि स्वसाध्यस्तोत्रोपाकरणद्वारा सोमया-
गसम्बन्धावगतेर्विशेषकत्वोपपत्तिरिति वाच्यं, उपाकरणस्य दृष्ट-
विधया स्तोत्रोपाकारकत्वेन द्वितीयया च स्तोत्राङ्गत्वावगते-
रस्य कालार्थत्वात्। न च कालद्वारैव सम्बन्धेन विशेषकत्वं,
कालस्य फलसम्बन्धोत्तरापेक्षत्वात् तस्य च स्तोत्रगतफलवत्त्व-
ज्ञानाधीनत्वात् तस्यापि च यागगतफलवत्त्वबोधकवाक्यार्थीन-
त्वेन तत्प्रवृत्तेः पूर्वमेतद्वाक्यप्रवृत्त्यभावेनैव तत्सम्बन्धावगतेर्नास्ती-
विशेषकत्वाभावात् ॥

यद्यपि च पदार्थानां प्राप्तत्वेन अस्य वाक्यस्य क्रमविधा-
यकत्वं स्यात्, तथाऽपि "वेदं कृत्वा वेदिं कराति" इतिवत्
श्रौतक्रमविधायकत्वात् तस्य च प्रातिस्विकविधिविधेयत्वेनेतर-
क्रमवत् प्रयोगविधिविधेयत्वाभावेऽपि क्रमस्यानुष्ठानावगमोत्तरा-
पेक्षत्वात् तस्य च फलवत्त्वज्ञानोत्तरकालीनत्वेन उक्तविधया न
विशेषकत्वमिति प्राप्ते—

क्रमादेरुत्तरकालमाकाङ्क्षायामपि निराकाङ्क्षत्वज्ञानाभावमात्रेण
वाक्यस्य पूर्वप्रवृत्त्युपपत्तेः तेन च कालस्य क्रमस्य वा विधे-
यत्वेन विशिष्य तद्वदितसम्बन्धस्य सोमयागेऽवगमाश्रयः प्र-
सिद्धार्थकत्वेन तस्यैव फलसम्बन्धावगमेन प्राधान्यं, अन्येषां
तदङ्गत्वमिति तद्विकृतावतिदेशः ॥

तदेवं प्रयोज्यवर्गो निरूपितः ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः.

अध्यायश्च समाप्तः.



अथ पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः.

(१)-श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रधानत्वात् ॥१॥

तदेवमङ्गप्रधानसाधारण्येन प्रयोज्यवर्गे निरूपितेऽधुना प्रयोगाश्रितः क्रमो निरूप्यते । एकादशे हि अङ्गानां प्रधानानां चैकेनैव प्रयोगविधिना विधानमिति वक्ष्यते । अतश्चैकविधिविधेयत्वेन सर्वसाहित्यस्य विवक्षितत्वादेकेन कर्त्रा युगपत्सर्वकरणशक्तेरवश्यम्भाविनि कस्मिंश्चित्क्रमे नियामकानि श्रुत्यर्थपठनस्थानमुख्यप्रवृत्त्याख्यानि षट् प्रमाणानि निरूपयिष्यन्ते । तत्र क्रमो नाम अव्यवहितोत्तरत्वरूपमानन्तर्यम् । तच्चैकप्रतियोगिकभेकवृत्तिः । यथा “वेदं कृत्वा वैदिं करोति” इत्यत्र वेदकरणप्रतियोगिकमानन्तर्यं वेदिकरणवृत्तिः । अत्र च दर्शपूर्णमासोत्तरत्वस्यापि सोमाङ्गत्वात्तद्व्यावृत्त्यर्थमव्यवहितेति विशेषणम् । तत्र दर्शपूर्णमासपूर्वकालिकत्वमात्रं क्त्वाप्रत्ययार्थः । न त्वव्यवहितत्वांशोऽपि । न च सोमविधेस्तदपेक्षा, येन अव्यवधान एव तत्पर्यवस्येत्, सोमविधेर्भिन्नप्रयोगविधिविधेयदर्शपूर्णमासप्रतियोगिकमानपेक्षत्वात् । अतस्तत्रोत्तरकालत्वमेव विधेयं, न क्रमः । क्रमश्च सर्वत्रोत्तरपदार्थाङ्गं, तस्यैव काहं कर्तव्य इत्यपेक्षणात् । न तु पूर्वपदार्थाङ्गं, मदुत्तरं कः पदार्थः कर्तव्य इत्यपेक्षायाः कचिदप्यनुदयात् । पूर्वपदार्थस्तु प्रतियोगितया क्रमविशेषणं दर्शपूर्णमासादिर्निव पूर्वकालतायाः । एतेनोभयपौर्वापर्यरूपोपि क्रमः पदार्थद्वयाङ्गमिति कैषांचिदुक्तमपास्तं, प्रमाणाभावात् । अस्तु वा “प्रथमभक्षः” इत्यादौ प्राथम्यं पूर्वपदार्थाङ्गमेव ।

तत्तत्पदार्थानन्तरं तत्तत्पदार्था इत्येवमनेकपदार्थवृत्तिपौर्वापर्यस-
मुदायरूपविततिरेव क्रम इति तु मूलोक्तः पक्षोऽशाब्दत्वात्
विकृतौ कचिदेकपदार्थलोपे तावत्पदार्थवृत्तिपौर्वापर्यसमुदायस्या-
सम्भवात्, व्युत्क्रमेणानुष्ठानेऽपि वैगुण्यानापत्तेरुपेक्षितः ।

अस्य च क्रमस्य प्रयोज्यनिष्ठत्वात्तन्निरूपणोत्तरमारम्भः ।
तन्नियमे च षट् प्रमाणानि श्रुत्यादीनि । तेषां लक्षणानि तत्तन्निरूप-
णावसरे वक्ष्यन्ते । तत्र श्रौतः क्रमः प्रातिस्विकविधिना विधीयते,
आर्थादिक्रमास्तु प्रयोगविधिनैवेति मूलानुयायिनः । वस्तुतस्तु—
श्रौतक्रमस्थले क्त्वादिनाऽवगतेरुत्पन्नस्य वाक्येन विनियोगः,
क्रमान्तरे तु अर्थादिनोत्पन्नस्य प्रकरणादिकल्पितश्रुत्या विनि-
योगः । प्रयोगस्तु सर्वत्रैवाङ्गान्तरवत्प्रयोगविधिनैव । इदं च
तत्रतत्र स्फुटीकरिष्यते । युज्यते च क्रमस्यापि द्रव्यगुणादि-
वत् पदार्थविशेषणत्वेन विधानम् ।

तदिह श्रुतिर्नाम वृत्त्या क्रमबोधकः कलुप्तशब्दः । स
चाथशब्दादिः । तत्राथशब्दस्यानन्तर्यवाचित्वं शक्यैव । क्त्वा-
प्रत्ययादीनां तु पूर्वकालादिवाचिनामपेक्षानुरोधात्क्रमपरत्वं लक्ष-
णया । अर्थादिषु कल्प्यशब्दस्यैव क्रमबोधकत्वात् कलुप्तेति
विशेषणम् । तत्र “वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः” इत्यादौ क्रमविशि-
ष्टभक्षविधानात् प्रथमपदोक्तक्रमस्य वाक्याद्भक्षाङ्गत्वम् । “वेदं
कृत्वा” इत्यादौ तु वेदिकरणस्य वाक्यान्तरेण प्राप्तत्वात्तदनु-
वादेन क्त्वाप्रत्ययोक्तक्रममात्रविधानाद्वाक्यादेव तदङ्गत्वम् । यत्र
तु क्रमस्य पाठादिप्रमाणेन सम्भवत्प्राप्तिकता, धात्वर्थश्च सम्भव-
त्प्राप्तिकोपि भावार्थाधिकरणन्यायेन । प्रयोजनान्तरार्थं विधीयते,

तत्र क्रमबोधिका श्रुतिरप्यनुवाद एव, न तु क्रमे प्रमाणं, विशिष्टविधिगौरवापत्तेः, यथा “ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् यः कामयेत यथापूर्वं प्रजाः कल्पेयन्” “हृदयस्याग्रेऽवचाति अथ जिह्वायाः अथ वक्षसः” इत्यादौ । अत्र हि ग्रहणावदानादिरेव फलार्थं हृदयादिमात्रहविष्टुसिद्धयर्थं च विधीयत इति वक्ष्यते । यत्र तु धात्वर्थस्य क्लृप्तप्रमाणेन प्राप्त्यभावेऽपि कथञ्चित्सम्भवत्प्राप्तिकस्य पुनर्विधाने न किञ्चित्प्रयोजनं, विधेयान्तरं च नान्यत्किञ्चित्, तत्र क्रम एव श्रुत्युक्तो विधीयते, यथा सत्रात्मके द्वादशाहे “अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारं, ततो होतारं, ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वाऽर्धिनो दीक्षयति—ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारमुद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः, ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति—आश्वीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्चारमुद्गातुरच्छावाकं होतुः, ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति—पोतारं ब्रह्मणस्सुब्रह्मण्यमुद्गातुः, ग्रावस्तुतं होतुः, ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति ब्रह्मचारी घाऽऽचार्यप्रेषितः” इति वाक्ये । अत्र हि न दीक्षायास्स्वरूपेण तत्तत्संस्कारकत्वेन वा विधिः, अतिदेशप्राप्तत्वात् । प्रकृतौ हि यजमानसंस्कारार्था दीक्षा अतिदेशेनैव सत्रे प्राप्यते, सत्रे च “ये यजमानास्त ऋत्विजः” इति वचनेन ऋत्विक्कार्योद्देशेन यजमानविधानाद्ब्रह्मादीनां यजमानत्वेनैव प्रतिप्रधानावृत्तिन्यायेन तत्र तत्तत्संस्कारकत्वप्राप्तेः । न च ऋत्विक्कार्यं यजमानविधानादेव वरणादिनिवृत्त्या ब्रह्मत्वाद्यप्राप्तिः, तद्विधानेन वरणादिनिवृत्तावपि ऋत्विक्त्वनिवृत्तौ प्रमाणाभावेनाध्यवसायमात्रेणैव ब्रह्मत्वादेरुपपादितत्वात् । न च तेन प्राप्त्यमानाया अपि दीक्षायाः अपूर्वत्वाद्यर्थं पुनश्श्रवणं, ब्रह्मादिप्राप्त्यर्थमतिदेशस्यावश्यकतया निवारयितुमशक्यत्वात् ।

न च दीक्षास्वध्वर्युविधिः, अतिदेशादेव सिद्धेः । न च दीक्षान्तरेऽध्वर्युनिवृत्त्या प्रविप्रस्थात्रादिविधानं, अध्वर्युदीक्षाया-
मध्वर्योः “चित्पतिस्त्वा पुनातु” इतिमन्त्रवर्णविरोधादेवाप्राप्तेः।
न वाऽध्वर्युकर्तृकत्वानुरोधेनोहेन मन्त्रप्रयोगः, कर्तृस्साङ्गप्रधाना
ङ्गत्वेन चरमापेक्षितत्वेन च कर्त्रनुरोधेन त्वापदबाधयोगात् ।
अतो मन्त्रमनूहितमेव प्रयुज्याध्वर्युकर्तृकत्वबाधावश्यभावे “इतरम-
न्यस्तेषां यतोऽविशेषस्स्यात्” इति न्यायेन अध्वर्युपुरुषाणा-
माद्यः प्रतिप्रस्थातैवाध्वर्युदीक्षायां प्राप्नोति । ब्राह्मणाच्छंस्यादि-
दीक्षासु तु अध्वर्योः “न पूतः पावयेत्” इति वचनेन सत्र-
प्रकरणपठितेन दीक्षासु दीक्षाख्यसंस्काररहितपुरुषकर्तृविधायकेन
पर्युदासात् प्रतिप्रस्थातृप्राप्तिस्सुलभैव । एवं प्रतिप्रस्थात्रादि-
दीक्षासु नेष्टुः प्रतिप्रस्थात्रनन्तरस्य, नेष्टादिदीक्षासु चोन्नेतुर्न-
ष्टूनन्तरस्य प्राप्तिर्न्यायादेवेति न विधेयान्तराशङ्का । अतः
क्रम एवात्राप्राप्तस्तत्तद्दीक्षोद्देशेन विधीयते श्रौतकत्वाप्रत्ययोक्तः
ततःपदोक्तश्च । अत एव एतानि द्वादश वाक्यानि श्रौतक्रमवि-
धायकानि । अर्धित्वायुद्देश्यतावच्छेदकमङ्गकृत्य षडेव वा । उन्ने-
तृदीक्षावाक्ये तु वैकल्पिकब्रह्मचारिविधानावृद्ध्यादिन्यायेन पा-
ठादेव क्रमसिद्धेः ‘ततः’ इत्यनुवादः । निपातत्वाच्च वाश-
ब्दस्य ब्रह्मचारिविशेषणत्वेऽपि न वाक्यभेदः । अभावपक्षे च
ब्राह्मणानामेवार्धिविधानाद्ब्राह्मण इत्यनुवादः । ब्रह्मचारिणश्च
आचार्याधीनत्वस्मृतेः आचार्यप्रेषित इत्यपि ।

यत्तु मूले विततिरूपक्रमपक्षमङ्गकृत्य सर्वस्याप्यस्यैकवा-
क्यत्वमित्युक्तं, तत् अशाब्दाया विततेर्विधेयत्वायोगादनेकदीक्षा-
द्देशेन विधाने च वाक्यभेदापत्तेः उन्नेतृदीक्षायां कर्तृविधेराव-
श्यकत्वाच्चापेक्षितम् ।

वस्तुतस्तु आनन्तर्यरूपक्रमपक्षेऽपि तत्तत्संस्कार्यविशिष्टदी-
क्षोद्देशेन क्रमविधाने वाक्यभेदापत्तेः संस्कार्यमात्रोद्देशेन विधौ
च दीक्षानिष्ठत्वालाभादुन्नेतृवाक्य एव तदुद्देशेन कर्तृविधिः ।
इतरस्तु सर्वोऽपि पदसमुदाय औचित्यतस्तुल्यर्थोऽनुवादः ।
कर्तृदीक्षानिष्ठत्वलाभस्त्वनुवादबलादिरापदस्येव नानुपपन्नः एवं
च सर्वस्याप्येकवाक्यत्वलाभः । क्रमस्त्वनुवाद एव तादृशपा-
ठादवधेयः । निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेन^१ श्रूयमाणवाक्ये वाक्य-
भेदाभावेन पाठगम्यानेकवाक्यकल्पनस्यादोषत्वात् । अन्यथा हृद-
यादिवाक्येष्वपि विशिष्टविध्यापत्तेः । न च पाठक्रमस्य श्रुति-
क्रमस्य च कश्चिदनुष्ठाने विशेषः । अतो मूलोक्तश्रुतिक्रमोदा-
हरणमनादरणीयमिति ध्येयम् ॥ १ ॥

(२)-अर्थाच्च ॥ २ ॥

अर्थः प्रयोजनम् । तच्च व्युत्क्रमेऽनुपपद्यमानत्वात्क्रमे प्रमा-
णम् । यथा “अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति” इत्यत्र यवा-
गूपाकस्य पाठक्रमात् पश्चात्करणे पाकसंस्कृताया यवाग्वा हो-
मरूपस्य “यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति” इतिवचनसिद्धस्य प्रयो-
जनस्यानिष्पत्तेः, पाकस्य च यवागूत्पादकत्वेऽपि अनुपयुक्ता-
यास्तस्याः प्रयोजनत्वानुपपत्तेस्तदन्यथाऽनुपपत्त्या पूर्वं पाकः
पश्चाद्धोमः । न च “तृतीया च होइछन्दसि” इति स्मरणात्
होः कर्मणि तृतीया चकाराद्वितीया चेत्यर्थकात् ‘यवाग्वा जु-
होते’ इत्यत्र यवाग्वास्तृतीयया कर्मत्वावगमेन होमस्य प्रयो-
जनत्वासिद्धिः । तथात्वेऽपि यवाग्वा उपयोगाभावेन होमवाक्य
एव सकतुन्यायेन विनियोगमङ्गाङ्गीकारात् । पाकश्च तु दृष्टार्थ-
त्वात्संस्कारकर्मत्वमेव ।

वस्तुतस्तु करणत्व एव तृतीयायादशक्तिः । कर्मत्वे त्वानु-
शासनिकी लक्षणा । न चात्र तद्वीजमस्ति । अत एव यत्र चतु-
रवत्तादाबुपयोगकलप्तिस्तत्रैव चतुरवत्तेन जुहोति इत्येतादृशवा-
क्यसत्त्वेऽपि कर्मत्वप्रतीतिरित्येतत्परं स्मरणम् ।

अत्र चार्थोपस्थितः क्रमः प्रयोगावेधिनैव विधीयते । एवं
पाठादिष्वपीति प्राञ्चः । अङ्गान्तरवस्तु अर्थकल्पितश्रुत्या विनि-
योगः, प्रयोगभात्रं प्रयोगविधिनेत्यपि शक्यं वक्तुम् ।

वस्तुतस्तु प्रयोजनवशेन पदार्थानुष्ठाने विहिते आनुषङ्गि-
कः क्रम इति न तदंशे विधानमिति ध्येयम् । अर्थोऽपि क्रम-
नियामक इति प्राञ्चः । वस्तुतस्तु अर्थाविरोधिपाठस्थलेऽन्य-
लभ्यत्वादनुवाद एव । विरोधिपाठस्थले चापूर्वस्यैव तस्य
ज्ञापक इत्यप्यनुसन्धेयम् ॥ २ ॥

(३)-अनियमोऽन्यत्र ॥ ३ ॥

यत्रोक्तवक्ष्यमाणक्रमनियामकप्रमाणाभावस्तत्रानियम एव ।
यथा प्रयाजानुमन्त्रणानां 'वसन्तमृतूनां प्रीणामि' इत्यादीनां
'एको मम' इत्यादीनां च शाखाभेदेनाज्ञातानां परस्परम् ॥

अत्र हि यद्यपि वसन्तादिप्रकाशकानां न देवताकल्पकत्वं,
उभयाकाङ्क्षाप्रमाणकाङ्क्षाभावयाज्यामन्त्रकल्पसमिदादिदेवताऽवरोधे
अन्यतराकाङ्क्षाप्रमाणकाङ्क्षाभावानुमन्त्रणमन्त्रेण तत्कल्पनानुपपत्तेः ।
एवं 'एको मम' इत्यादीनामपि न फलकल्पकत्वं, निर्ज्ञातपा-
राध्यात्, श्रुत्यविनियुक्तत्वाच्च । न चोत्कर्षः, प्रयाजानुमन्त्रण-
समाख्ययाऽत्रैवान्वयेनान्यत्र सामान्यसम्बन्धबोधकप्रमाणाभावात् ।
अतश्च मनोतामन्त्रवलक्षणया प्रयाजीयकतूपकाराख्यफलदेवता-
काशकत्वेऽपि भिन्नकार्यत्वात्समुच्चय एवोभयोरैकैकस्मिन् प्रयाजे ।

यत्तु तन्त्ररत्नादौ अदृष्टार्थत्वेन समुच्चयाभिधानं तत् दृष्टार्थत्वसम्भवे तदयोगात्—

मन्त्रमुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् ।

शेषिणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ।

इत्यनुमन्त्रणलक्षणानुपपत्तेश्चोपेक्षितम् । तत्र चैकैकस्मिन् प्रयाजे द्वयोर्द्वयोर्मन्त्रयोः पठ्यमानयोर्न क्रमनियमः, प्रमाणाभावात् । ननु समित्प्रयाजे नियामकाभावेऽपि येन क्रमेण समिदनुमन्त्रितः तेनैव तनूनपातादयोपि, प्रवृत्तिक्रमादिति चेन्न, प्राजापत्यपशुषु हि एकप्रयोगविधिपरिगृहीतेषु पदार्थानुसमये सति प्रकृतौ पाठेन क्लृप्तक्रमयोरुपाकरणनियोजनयोः औपदेशिकपशुसाहित्यानुसौधेन षोडशक्षणव्यवधानेऽपि तदधिकव्यवधाने प्रमाणाभावात् येनैव क्रमेणोपाकरणं तेनैव क्रमेण नियोजनमिति प्रवृत्तिक्रमो युक्तः । प्रकृते तु एकप्रयाजगतयोर्नानाशाखास्थानुमन्त्रणयोः पाठाद्यभावेनाक्लृप्तक्रमत्वात् सत्यपि च सर्वप्रयाजानामेकप्रयोगविधिपरिग्रहे पदार्थानुसमयासम्भवादेकैकस्मिन् प्रयाजे द्वयोर्द्वयोर्मन्त्रयोः पठनीयत्वान्न प्रयाजान्तरीयमन्त्रस्य प्रयाजान्तरीयमन्त्रेण प्रवृत्तिक्रमः । न च नानाशाखास्थयोः क्लृप्तक्रमत्वाभावेऽपि एकशाखास्थानां पञ्चानामपि मन्त्राणां पाठेन क्लृप्तक्रमत्वाच्छाखान्तरीयेणाप्यनियतव्यवधाने प्रवृत्तिक्रमबाधापत्तिः, पञ्चानां मन्त्राणां पञ्चप्रयाजाङ्गत्वेनैकशेष्यङ्गत्वाभावादवान्तरप्रयोगविधिभेदेन भिन्नप्रयोगविधिपरिगृहीतानां पाठेन क्रमानियमात् । इष्यते च पाशुकानूयाजानामैष्टिकपिष्टलेपफलीकरणहोमस्य च महाप्रयोगैकत्वेऽपि भिन्नावान्तरप्रयोगविधिपरिगृहीतत्वेनाक्लृप्तक्रमत्वम् । तस्मादनियमः ॥ ३ ॥

(४)—क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुण-
त्वात् ॥ ४ ॥ अशाब्द इति चेत्स्याद्वाक्य-
शब्दत्वात् ॥ ५ ॥ अर्थकृते वाऽनुमानं
स्यात् क्रत्वेकत्वे पदार्थत्वात् स्वेन त्वर्थेन
सम्बन्धः तस्मात्स्वशब्दमुच्येत ॥ ६ ॥ तथा
चान्यार्थदर्शनम् ॥ ७ ॥

पदार्थबोधकवाक्यपाठक्रमोऽपि पदार्थक्रमनियामकः । न च
विधीनां तत्तत्पदार्थविधायकत्वात् क्रमस्य च स्वाध्यायत्वसि-
द्ध्यर्थत्वेनाध्ययनविधुपयुक्तत्वान्न पदार्थक्रमनियामकत्वं, पदा-
र्थानामनुष्ठानकाले स्मारकापेक्षायां मन्त्रादीनामुपस्थितत्वेन स्मा-
रकत्वनियमात् तत्क्रमेणैवानुष्ठानक्रमनियमोपपत्तेः । अत एव
यत्र मन्त्रास्त्रानं, तत्र तत्क्रम एव नियामकः । यत्र तु न तत्,
तत्र विधायकत्वेनोपयुक्तस्यापि विधिवाक्यस्यैवोपस्थितस्य स्मार-
कत्वेन नियमात् तत्क्रमस्यापि पदार्थक्रमनियामकत्वम् । पाठोपस्थि-
तस्य च क्रमस्य विनियोजकवाक्यकल्पनयाऽङ्गत्वेऽवगते प्रयोगवि-
धिना प्रयोगविधानम् । लक्षणे पदार्थबोधकत्वं च कचिदनुष्ठेयपदा-
र्थबोधकत्वं, कचिच्च तत्सम्बन्धिद्रव्यदेवतादिवोधकत्वम् । तेन च
द्विविधेनाप्यनुष्ठेयपदार्थक्रमनियमः । अत एव देवताबोधकया-
ज्यादिक्रमादपि यागक्रमः । अतः पाठोपि क्रमनियामकः अपेक्षित-
त्वात् । अत एव यत्र च न क्रमापेक्षा यथा सान्नाय्यादौ एकप्रयोग-
विधिपरिग्रहेऽपि सम्प्रतिपन्नैकदेवताकत्वेन सहानुष्ठानात् । यत्र
वा भिन्नप्रयोगविधिपरिग्रहः यथा तत्तत्काम्यकर्मणां, तत्र न
पाठो नियामकः । तत्र तु स्वाध्यायत्वसिद्ध्यर्थ एवोपयुज्यत
इति द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

(५)—प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमत् ॥ ८ ॥ सर्वमिति चेत् ॥ ९ ॥ नाकृतत्वात् ॥ १० ॥ कृत्वन्तस्वदिति चेत् ॥ ११ ॥ नासमवायात् ॥ १२ ॥

*एवं “सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते” इत्यादौ एकैकस्मिन् पशवुपाकरणादीनां पदार्थानामावर्तनीयानां पदार्थानुसमयस्य वक्ष्यमाणत्वात्^१ आद्य उपाकरणपदार्थो येन क्रमेण कृत्वन्तेनैव क्रमेण नियोजनादिद्वितीयप्रभृतिपदार्थाः कर्तव्याः । अन्यथा प्रकृतिप्राप्तस्य उपाकरणनियोजनयोरव्यवहितानन्तर्यस्योपदेशिकपशुसाहित्यानुरोधेन षोडशक्षणव्यवधानेऽप्याधिकक्षणव्यवधानापत्तेः । अत्र ह्युत्पत्तिवाक्ये, “वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति” इति प्रयोगवाक्ये च साङ्गानां सप्तदशयागानां साहित्यावगमादङ्गसाहित्यानुरोधेनैकैकाङ्गेन सप्तदशयागानां युगपदुपकर्तव्यत्वावगतेरावर्तनीयाङ्गेषु चैकेन कर्त्रा युगपदुपकारासम्भवादवश्यं षोडशक्षणव्यवधानेऽपि तदधिकव्यवधाने औपदेशिकसाहित्यस्यातिदेशिकानन्तर्यस्य च बाधस्स्पष्ट एव । अत एव केषुचित्पशुषु न्यूनक्षणव्यवधानमपि दोष एव । अतः पूर्वपदार्थक्रम एव प्रयोगविध्यवगतप्रत्यासत्त्यनुगृहीतोत्तरपदार्थक्रमनियमे प्रमाणम् । अत्र पूर्वैत्युपलक्षणम् । उत्तरपदार्थप्रवृत्तिक्रमेणापि पूर्वपदार्थक्रमनियमस्य न्यायतौल्येन वक्ष्यमाणत्वात् ।^२

अयं च प्रवृत्तिक्रमोऽनुष्ठानकालीनोपि प्रयोगविधिप्रवृत्तेः पूर्वमपेक्षावशादवगम्यमानस्तदवगम्यप्रत्यासत्त्यनुगृहीतः पदार्थ-

^१ इहैवाध्याये द्वितीयपादाद्याधिकरणे.

^२ ५-१-७.

न्तरक्रमं बोधयति । ततश्च तद्विनियोजकवाक्यकल्पनया तस्या-
ङ्गत्वेऽवधारिते प्रयोगविधिना प्रयोगविधानम् । तदुत्तरं च प्रयो-
गविधेः पर्यवसानमिति ध्येयम् ।

न चेद् सर्वं साहित्यानुरोधेन स्यात्, तत्रैव च प्रमाणाभावः
बोधकशब्दाभावादिति वाच्यं, एकेन पदेनानेकोपस्थितौ क्रिया-
न्वये एककालावच्छिन्नत्वरूपसाहित्यस्यानुभूयमानस्य शाब्दत्व-
सिद्ध्यर्थं लक्षणाङ्गीकारात् । प्रतीयते हि शतावधानवांश्चैत्रः,
पृथिव्यां राजानो बहव इत्यादौ बहुत्वावच्छिन्नानामवधानादीनां
चैत्रान्वयोऽसति बाधके एककालावच्छिन्नः । अतः प्राजापत्य-
पदादौ तल्लक्षणेत्यपि ध्येयम् ॥ ५ ॥

(६)—स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ १३ ॥

स्थानं च क्रमनियमे प्रमाणम् । तच्च क्लृप्तक्रमपूर्वप-
दार्थोपस्थितिः । सा चैकसम्बन्धिदर्शनेनापरसम्बन्धिस्मरणमिति
न्यायेनोत्तरपदार्थस्य झडित्युपस्थापिका । अतस्तत्साहित्येन विहि-
तानामन्येषां पदार्थानां तदनन्तरानुष्ठानसिद्धिः । यथा प्रकृतौ
अग्नीषोमप्रणयनानन्तरमौषधसंस्थाहे दैक्षः पशुः, आश्विनग्रहग्रह-
णोत्तरकालं च सौत्याहे सवनीयः, उदयनीयानन्तरं सुत्योत्त-
रमनूबन्धः । साद्यस्के च सर्वमग्नीषोमप्रणयनादि सौत्येऽहन्येव
क्रियते । तद्वाचनिकातिदेशाच्छयेनेऽपि । तत्र च “सह पशूना-
लभते” इति श्रुतम् । तच्च प्रधानेनात्यन्तप्रत्यासत्तिलाभादाश्वि-
नोत्तरमेवेति स्थितं तृतीये । अतश्चाश्विनस्योपस्थापकस्य सत्त्वा-
त्सवनीयस्यैव स्थानात्प्रथमत उपाकरणं न तु दैक्षस्य, तदुप-
स्थापकस्य भ्रष्टत्वेन स्थानाभावात् । प्राकृतपाठस्य च व्यव-

धायकपदार्थान्तरसत्त्वेन नियामकत्वभावात् । अत एवोपाकरणोत्तरभाविनियोजनादिपदार्थेषु प्रधानसहितेष्वपि प्रवृत्त्यैव क्रमसिद्धेर्न स्थानोदाहरणता । प्रधाने स्थानाभावाच्च नोपाकरणे मुख्यक्रमाशङ्का । अतस्स्थानादेव सवनीयस्य प्रथममुपाकरणं, तदुत्तरं दैक्षस्य, तदुत्तरमनूबन्ध्यस्य, प्रकृतिदृष्टपौर्वापर्यस्यैव नियामकान्तराभावे नियामकत्वाङ्गीकारात् । अत्रापि स्थानावगतस्य क्रमस्य कल्पितवाक्येन विनियोगैऽवगते प्रयोगविधिना प्रयोगविधानम् ॥ ६ ॥

(७)—मुख्यक्रमेण वाऽङ्गानां तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥

मुख्यक्रमोऽप्यङ्गक्रमनियमे प्रमाणम् । मुख्यत्वं च प्रधानत्वम् । यत्र ह्यनेकेषां साङ्गानां प्रधानानां सहकर्तव्यता, तत्र प्रयोगविधिनाऽङ्गप्रधानयोस्साहित्यावगतावपि प्रधानान्तरसाहित्यानुरोधेन यावदनुज्ञातव्यवधानस्वीकारेऽपि तदधिकव्यवधाने प्रमाणाभावात् प्रधानप्रत्यासत्त्यनुग्रहाय मुख्यक्रमेणैवाङ्गे क्रमनियमः । अत एव प्रवृत्तौ अङ्गनिरूपितप्रत्यासत्त्यनुग्रहो बीजं, मुख्यक्रमे तु प्रधाननिरूपितप्रत्यासत्त्यनुग्रहो बीजमिति तयोर्भेदो, वैपरीत्येन बलाबलं चेति वक्ष्यते ।

मुख्यक्रमोदाहरणं च चित्रायागे “सारस्वती भवत एतद्वै दैव्यं मिथुनं यत्सरस्वती सरस्वांश्च” इति वाक्यविहितप्रधानद्वयक्रमात्तन्निर्वापक्रमः । अत्र हि द्रव्यसामानाधिकरण्याभावेऽपि सम्बन्धसामान्यवाचिनस्तद्धितस्य ‘दैव्यं’ इति वाक्यशेषाद्देवतापरत्वोपपत्तेः द्विवचनेन देवताकल्पितयागद्वयं विधीयते । अत एव न यागद्वयऽपि सरस्वानेव देवता । अर्थवादस्य विरूपैकशेषतात्पर्यग्राहकत्वेन सरस्वतीसरस्वदेवत्यत्वावगमात् । न चैव-

मपि सरस्वती च सरस्वांश्च सरस्वन्तौ, सरस्वन्तौ देवते ययोस्ते इति व्युत्पत्त्या एकैकस्य द्विदेवत्वत्वं किं न स्यादिति वाच्यं, एकैकदेवत्ययाज्याऽनुवाक्यापाठेनैकैकदेवत्यत्वावगतेः । अत एव प्राजापत्यवत्सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वाभावेन मन्त्रपाठक्रमात्प्रधानक्रमे सति मुख्यक्रमेणैव तन्निर्वापयोः क्रमः ॥

वस्तुतस्तु तुल्यन्वयितया पूर्वपदार्थप्रवृत्तेरिवोत्तरपदार्थप्रवृत्तेरपि पूर्वपदार्थक्रमनियामकत्वस्योक्तत्वात् प्रकृते च याज्याऽनुवाक्यादिरूपोत्तरपदार्थप्रवृत्त्यैव निर्वापक्रमोपपत्तेर्यद्यपि नेदं मुख्यक्रमस्यासङ्कीर्णमुदाहरणं, तथाऽपि दध्नः पूर्वं शाखाहरणादयो धर्माः पठिताः पश्चाद्ग्नैयस्य निर्वापादयः, याज्याऽनुवाक्ययौस्तु विपरीतः पाठः । ततश्च भूतभाविप्रवृत्तिद्वयवशात् प्रयाजशेषाभिधारणेऽनियमप्रसक्तौ मुख्यक्रमेणाग्नेयस्य प्रथममभिधारणं पश्चाद्दध्न इत्युदाहरणं वक्ष्यमाणं^१ द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

(८)—प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद्यथाक्रमं प्रतीयेत ॥

तदेवं षट् प्रमाणानि निरूपितानि । तेषां चाद्याधिकरणोक्तक्रमेण पारदौर्बल्यं द्रष्टव्यं न तु सूत्रक्रमेण । तत्र श्रुतिविरोधेऽर्थस्यैवान्यथाकल्पनादौर्बल्यम् । अर्थविरोधे पाठस्य वक्ष्यते । एवं वैकृतपाठविरोधे प्राकृतस्थानबाधोऽपि । प्राकृतकलृप्तस्थानविरोधे प्रधानप्रयोगविध्याश्रितमुख्यक्रमस्य दौर्बल्यं वक्ष्यते एव । मुख्यक्रमविरोधे प्रवृत्तिक्रमस्य दौर्बल्यमपि तथैव ।

तदिह पाठक्रममुख्यक्रमयोर्बलाबलं चिन्त्यते—दर्शपूर्णमासयोराग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीयरूपमुख्यक्रमादाज्यस्योपांशुयाजोयस्य प्रथमं निर्वापः^२ । पश्चाद्ग्नीषोमीयद्रव्यस्य । पाठक्रमात्तु विप-

रीतः क्रमः । तत्र पाठस्य स्मारकवाक्यवृत्तित्वेन प्रत्यक्षत्वा-
च्छीघ्रोपस्थितेश्च बलवत्त्वम् । मुख्यक्रमस्तु मुख्ययोरेव प्रथमं
केनापि प्रमाणेनावगम्य तदपेक्षया तत्साहित्यसम्पत्तये कल्प्य-
मानो विलम्बित इति दुर्बलः ॥ ८ ॥

(९)—मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्प्रयोगरूपसाम-
र्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशस्यः ॥ १६ ॥

पाठयोस्तु मन्त्रब्राह्मणगतयोर्मन्त्रपाठो बलीयान्, न तु ब्राह्म-
णपाठः, तस्योत्पत्तिविनियोगविधिगतत्वेन प्रथमोपस्थितत्वेऽपि
पाठस्य स्मारकक्रमविधयैव क्रमनियामकत्वोक्तेर्मन्त्रसत्त्वे च त-
स्यैव स्मारकतया विधानोपयुक्तस्यासमर्थस्य च विधेस्स्मार-
कत्वाभावान्मन्त्रपाठक्रम एव बलीयान् । तेन याज्याऽनुवाक्या-
दिमन्त्रपाठक्रमाद् ज्ञेयस्य प्रथमानुष्ठानं, पश्चाच्चोपांशुयाजोत्तर-
मग्नीषोमीयस्य । न तु ब्राह्मणपाठक्रमादग्नीषोमीयस्य प्रथमं
पश्चादुपांशुयाजोत्तरमाग्नेयस्य । अत एव तत्र पाठक्रमस्स्वा-
ध्यायादावुपयुज्यते ॥ ९ ॥

(१०)—तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात् ॥

१७ ॥ विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथा-

प्रकृति ॥ १८ ॥

इदानीमातिदेशिकपाठक्रमापेक्षया विकृतौ मुख्यक्रमस्य बला-
बलं चिन्त्यते । अध्वरकल्पायां “आग्नावैष्णवमैकादशकपालं नि-
र्वपेत्, सरस्वत्याज्यभागा स्यात्, बार्हस्पत्यश्चरुः” इति श्रुतम् ।
अत्र सत्यपि वाक्यत्रयेण यागत्रयविधाने “एतयैव यजेताभिच-
र्यमाणः” इति वाक्यान्तरेणाभिचारनिरासाख्यफलोद्देशेन सहि-

तानां विधानान् त्रयाणामप्येकप्रयोगविधिपरिग्रहः । अत्रायस्य यागस्य द्विदेवत्ववैषधद्रव्यकत्वादेन्द्राग्राग्राणामीयान्यतरविध्यन्तः । केचित् समानाक्षरतद्वितान्तपदकत्वसादृश्यादग्राणामीयस्यैवेति वदन्ति । द्वितीयस्याज्यद्रव्यकत्वादुपांशुयाजविध्यन्तः । तृतीये एकदेवताकत्वादौषधद्रव्यकत्वादाग्रेयविध्यन्तः । तत्राज्यद्रव्यकयागधर्मापेक्षया आग्रावैष्णवस्य धर्माः आतिदेशिकपाठमुख्यक्रमयोरविरोधादेव प्रथमतः कार्याः, बार्हस्पत्यस्य तु मुख्यक्रमात्पश्चात्कार्याः उतातिदेशिकपाठक्रमात्पूर्वमिति चिन्तायां—मुख्यक्रमस्यौपदेशिकप्रयोगविध्युन्नीतत्वेनौपदेशिकत्वात्सत्यप्यतिदशोत्तरकालकत्वे शरादिवद्वाधोपपत्तेर्मुख्यक्रमस्य बलवत्त्वमिति प्राप्ते—

प्रयोगविधेरौपदेशिकत्वेऽपि स्वरूपेण मुख्यक्रमस्य कल्प्यत्वाच्छ्रन्यायानुपपत्तेः कल्पनायां चापेक्षामूलत्वेन प्रयोगविध्युपजायमानातिदेशप्रापितपाठक्रमेणैवाकाङ्क्षाया उच्येदाच्छ्रयेनादावातिदेशिकनानाश्रुत्विकत्वादिवदेवातिदेशिकपाठक्रमप्रापितक्रमस्यैव बलीयस्त्वम् । तदेतत्सिद्धमपि चोदकस्य प्रयोगविध्यपेक्षया बलवत्त्वस्पर्शिकरणार्थं क्रमलक्षणे पुनरुच्यत इति मन्तव्यम् । न चैवमाग्रावैष्णवबार्हस्पत्यधर्माणामपि प्राकृतकलृप्तक्रमेणैवानुष्ठानापत्तेर्याज्ञिकानां वैकृतमुख्यक्रमानुरोधेनाग्रावैष्णवस्य प्रथमं निर्वाण्यनुष्ठानं विरुध्येतेति वाच्यं, प्रकृतौ हि यत्र पाठ्यदिप्रमाणकः क्रमस्तत्र तत्पदार्थान्तरं तत्पदार्थः कार्य इति विशिष्यैव वाक्यकल्पनं, मुख्यक्रम तु लाघवात् धर्मिग्राहकप्रमाणबलाच्च आद्यप्रधानधर्मनन्तरमुत्तरप्रधानधर्मो अनुष्ठेया इत्येव कल्पनं, न तु विशिष्य, न वाऽऽग्रेयत्वादिप्रवेशः । अत एव विकृतावपूर्वाङ्गप्रवेशेऽपि न वाक्यान्तरकल्पनमित्यापि लाघवम् ।

एवं प्रवृत्तिक्रमेऽपि क्लृप्तक्रमकाङ्क्षप्रवृत्तिक्रमेणेतरे पदार्थाः कर्तव्या इत्येव वाक्यकल्पनम् । अतश्च विकृतावपि आद्यप्रधानधर्मानुष्ठानोत्तरमेव द्वितीयप्रधानधर्मानुष्ठानमिति आग्नावैष्णवस्य प्रथमं निर्वापः पश्चाद्बार्हस्पत्यस्य । एवं साद्यस्के स्थानगम्यक्रमकोपाकरणस्य वाचनिकातिदेशवत्यां कस्यांचिद्विकृतौ वाचनिकोपाकरणव्यत्यये व्यत्यस्तोपाकरणप्रवृत्त्यैव नियोजनादिक्रमः । एवं च केषांचिदेतादृशविषयद्वयेऽपि याज्ञिकाचारे मूलं चिन्त्यमिति प्रकृतिक्लृप्तक्रमेणैव सिद्धान्तकरणं मूलस्योक्तत्वादुपेक्ष्यम् । अत आतिदेशिकपाठविरोध एव मुख्यक्रमादेर्दौर्बल्यामिति स्थितम् ॥ १० ॥

(११)—विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्याद्यथाशिष्टम् ॥ ११ ॥ अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनुमानात्प्रकृतिधर्मलोपस्स्यात् ॥ २० ॥ कालोत्कर्ष इति चेत् ॥ २१ ॥ न तत्सम्बन्धात् ॥ २२

चातुर्मास्येषु साकमेधस्तृतीयं पर्व । तत्र कार्तिक्यां पौर्णमास्यां काश्चिदिष्टयो विहिताः । तास्तु वक्ष्यमाणेनैव न्यायेन 'य इष्ट्या' इति वाक्यवशेनान्येष्टिवत् सद्यस्काला एवेत्यविवादम् । यानि तु "द्वयहं साकमेधेन यजेत" इति वचनेन तत्पूर्वदिनकर्तव्यानि कर्माणि "अग्नयेऽनीकवते प्रातरष्टाकपालं निर्वपेत्, मरुद्भ्यस्सान्तपनेभ्यो मध्यंदिने चरुं, मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यस्सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्" इत्येवंविधवाक्यत्रयविहितानि, तानि किं द्वयहकालानि उत? सद्यस्कालानीति क्रमविशेषोपयिकतया सन्देहे—

प्रकृतिप्राप्तत्वात् द्वयहकालत्वम् । न चान्यान्यविकृतीष्टिन्यायः, तत्र हि 'य इष्ट्या' इत्यादिवाक्येन साङ्गप्रयोगस्य पौर्णमास्या-
दिकालविधानादातिदेशिकद्वयहकालत्वानुग्रहै च तद्वाधप्रसङ्गा-
युक्तं सद्यस्कालत्वम् । प्रकृते तु प्रातरादिकालकत्वस्य दिन-
द्वयेऽपि सम्भवात् द्वयहकालत्वमेव । अतश्च त्रयोदश्यां प्रातरादि-
कालेषु त्रयाणामप्यन्वाधानं कृत्वा चतुर्दश्यां प्रातरादिकालेषु यागा
इति द्रष्टव्यम् । कर्ममध्ये कर्मन्तरारम्भस्तु "द्वयहं साकमेधेन"
इति वचनाच्चैव दुष्यति । यदि तु प्रसङ्गसिद्धिराशङ्क्येत, त-
दाऽस्तु त्रयोदश्यां प्रातस्सकृदेवान्वाधाय चतुर्दश्यां प्रातरादि-
कालेषु यागाः । अङ्गानुष्ठानं तु पूर्वाङ्गानामनीकवत्या सह, उत्त-
राङ्गानां सान्तपनीयया । गृहमेधीयस्य त्वपूर्वत्वादेव नाङ्गापेक्षा ।
अन्वाधानं त्वाज्यभागार्थमिति द्रष्टव्यम् ।

केचित्तु एकादशीप्रभृति द्वयहकालं पृथक्प्रयोगमिष्टित्रयं
पूर्वपक्षे कर्तव्यमिति वदन्ति. तेषां 'द्वयहं साकमेधेन' इति
वचनानुपपत्तिरिति प्राप्ते--

एकस्मिन् प्रातरादिकाले विहितस्य साङ्गततत्प्रयोगस्य
द्वयहकालत्वपक्षे औपदेशिककालैकत्ववाधापत्तेस्सद्यस्कालत्वम् ।
न च सायंप्रातश्शब्दयोरव्ययत्वेनैकवचनान्तत्वे प्रमाणाभावः, एक-
वचनान्तमध्यंदिनपदप्रायपाठादेवैकवचनान्तत्वं निर्णयोपपत्तेः । 'द्वय-
हं साकमेधेन' इति साङ्गस्यैव द्वयहकालत्वश्रुतेश्च । अतश्च विशे-
षणस्यैकत्वस्य विवक्षितत्वात्सद्यस्काला एवैता इष्टयः ॥ ११ ॥

(१२)—अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तमुत्कर्षे
स्यात् ॥ २३ ॥ तदादि वाऽभिसम्बन्धात्त-
न्तमपकर्षे स्यात् ॥ २४ ॥

दैक्षे पशौ प्रकृतितो हविरासादनोत्तरभाविनां प्रयाजानामपकर्षः “तिष्ठन्तं पशुं प्रयजति” इति वचनेन श्रुतः । तथा सवनीये हविरुद्भासनोत्तरभाविनामनूयाजानामुत्कर्षः “आग्निमारुतादूर्ध्वमनूयाजैश्चरन्ति” इति श्रुतः । तौ किमुत्कर्षापकर्षौ तन्मात्रविषयौ उत तदन्तस्यापकर्षस्तदादेशोत्कर्ष इति चिन्तायां—

प्रयाजादिग्रहणस्योपलक्षणत्वे प्रमाणाभावात्पूर्वोत्तरपदार्थानां च प्रयाजाद्यनङ्गत्वेन तदुत्कर्षापकर्षयोः उत्कर्षापकर्षशङ्काऽनुपपत्तेश्च तत्तत्पदार्थानां प्रधानप्रत्यासत्तिबाधापत्तेश्च तन्मात्रस्यैवोत्कर्षापकर्षाविति प्राप्ते—

प्रकृतौ पाठादिक्रमेण पदार्थानां क्लृप्तक्रमत्वात्पूर्वपदार्थोपस्थापितस्यैव चोत्तरपदार्थस्यानुष्ठेयत्वावगतेः श्रुतवचनयोस्तन्मात्रविषयत्वेऽप्यनूयाजोत्तरपदार्थस्य सूक्तवाक्यदेरनूयाजानन्तर्यानूयाजोपस्थापितत्वादिधर्मानुग्रहलोभेनोत्कर्षः । न च प्रधानप्रत्यासत्त्यनुरोधेन तदभावः, तस्याः प्रयोगविधिना क्लृप्तप्रमाणगम्यक्रमानुरोधेनैव प्रकृताविव विकृतावपि कल्पनीयत्वात् । एवमपकर्षेऽपि प्रयाजादीनामाधारादिरूपपूर्वपदार्थानन्तर्यस्य तदुपस्थापितत्वस्य च बाधे प्रमाणाभावेन पूर्वभाविनामपि तदुपपत्तेः । न चापकर्षे पूर्वभाविनां काचित्क्षतिः, प्रधानप्रत्यासत्तेः प्रकृताविवाकिञ्चित्करत्वात् । न चापकर्षे हविरासादनानन्तरं क्रियमाणपदार्थस्य सामिधेन्यादेस्तदानन्तर्यतदुपस्थापितत्वादिरूपधर्मबाधापत्तेरपकर्षानुपपत्तिः, तद्बाधस्योत्तरकालिकप्रतीतिकत्वेनाविरोधात् । सामिधेनीनां तु प्रयाजाङ्गत्वादपि हविरासादनानन्तर्यादिबाधेऽप्यदोषः ॥ १२ ॥

(१३)—प्रवृत्त्या कृतकालानाम् ॥ २५ ॥ शब्द-
विप्रतिषेधाच्च ॥ २६ ॥

सोमे सुत्यायां प्रातरनुवाकप्रैषं “प्रातर्यावभ्यो देवेभ्यो हो-
तरनुब्रूहि” इत्येवंविधं होत्रे दत्त्वा “प्रतिप्रस्थातस्सवनोया-
न्निर्वपस्व इति प्रैष्यति” इति प्रैषं विधाय होत्रा प्रातरनुवा-
केऽनूच्यमानेऽध्वर्योरुपास्तिर्विहिता आ प्रातरनुवाकसमाप्तेः। सा
च वचनादेव वैकल्पिकी। ततः “अथ यत्र होतुरभिजानात्य-
भूदुषारुशत्पशुः इति प्रचरण्यां सुचि चतुर्गृहीतं जुहोति” इत्या-
दिना प्रचरणीहोमादिकान् सौमिकान् पदार्थान् विधाय सव-
नीयहविर्विधिः। ततो बहिष्पवमानाद्यन्ते ‘अग्नीदग्नीन् विहर’
‘बर्हिस्स्तृणीहि’ ‘पुरोडाशानलङ्कुरु’ इति प्रैषस्समाम्नातः। तत्र
सवनोयहविषु धानादिषु दार्शिकविध्यन्ते निर्वापप्रोक्षणादङ्कर-
णादिरूपे प्राप्ते निर्वापान्तस्य प्रैषविधानादपकर्षः, अलङ्करणादे-
श्चोत्कर्षो निर्विवाद एव। मध्यतनानां प्रोक्षणादीनां तु अल-
ङ्करणात्प्रागेव करणं, न तु निर्वापोत्तरं, प्रधानाङ्गानां प्रचरणी-
होमादीनां कृतकालकत्वेन तैर्व्यवधानादिति प्राप्ते—

प्रोक्षणादीनां निर्वापरूपपूर्वपदार्थोपस्थापितानामतिक्रमे प्र-
माणाभावाग्निर्वापोत्तरमेव करणम्। न च सौमिकैर्व्यवधानं,
उपास्तिपक्षे तावत्प्रधानाङ्गभूतायामुपास्तावध्वर्युकर्तृकत्वस्यावश्य-
कत्वादतिदेशप्राप्तनिर्वापसमानकर्तृकत्वानुरोधाच्च प्रोक्षणादौ ‘इत-
रमन्यः’ इति न्यायेन ‘प्रतिप्रस्थातृकर्तृकत्वावगतेस्सौमिकस्य व्यघ-
धायकत्वानुपपत्तेः। न चैवं सति ‘निर्वपस्व’ इति प्रैषे
प्रोक्षणादिलक्षणापत्तिरित्यादितन्त्ररत्नोक्तदूषणावकाशः, न्यायेनैव

तत्प्राप्त्यङ्गीकारेण लक्षणादावापदिकाभावात् । उपास्त्यभावपक्षे तु यद्यप्यध्वर्युरेवातिदेशः प्रोक्षणादौ कर्तेति निर्वापेण भिन्नकर्तृकेन न शक्यते प्रोक्षणादिकमुपस्थापयितुं, तथाऽप्यध्वर्योरपि निर्वापे प्रेषद्वारा प्रयोजककर्तृत्वेन समानकर्तृकत्वोपपत्तेर्युक्तमेव निर्वापोपस्थापितत्वं प्रोक्षणादौ । न चास्मिन् पक्षे प्रधानाङ्गप्रचरणीहोमादिभिर्व्यवधानं, तस्य 'अभूदुषा' इत्यादिप्रातरनुवाकपरिधानीयकालकत्वेन प्रोक्षणाद्युत्तरत्वात्, प्रातरनुवाकचामपि बहुतरत्वेन तन्मध्य एवैष्टिकपदार्थसमाप्त्युपपत्तेश्च ॥

यत्स्वत्र तन्त्ररत्नस्वरसादन्यैरपि वद्धक्रमाणामैष्टिकपदार्थानां बहुत्वात्प्रचरणोहोमकालविधिरुपास्तिपक्षाभिप्रायेणेत्युक्तं, तत् प्रचरणीहोमस्योपास्त्यभावपक्षे कालविध्यभावे 'प्रतिप्रस्थातः' इत्यादिप्रेषोत्तरभाविपाठक्रमेण क्लृप्तक्रमकाणां प्रचरणीहोमादीनां प्रधानाङ्गतया क्रमबाधे प्रमाणाभावात्प्रोक्षणादीनां सौमिकपदार्थोत्तरत्वस्य प्रतिप्रस्थातृकर्तृकत्वस्य चाऽऽपत्तेरुपेक्षितम् । इतरथा उपास्तिपक्षेऽपि तस्या एव प्रतिप्रस्थातृकर्तृकत्वापत्त्या प्रोक्षणादौ तदनापत्तेश्च ।

यत्तु ऐष्टिकानां बहुत्वात् 'अभूदुषा' इत्येतदुत्तरमपि तदापत्तेः प्रचरणीहोमकालवाक्यस्य सङ्कोच इत्युक्तं, तदस्तुनाम तथा, तथाऽपि यावन्त एवैष्टिकास्तत्कालावधि कर्तुं शक्यास्तावतां पूर्वं करणापत्तेरन्येषां च तदुत्तरं प्रतिप्रस्थात्रा वा करणोपपत्तेर्वाक्यसङ्कोचे प्रमाणाभावः । वस्तुतस्तु सर्वे पूर्वं कर्तुं शक्या एवेत्युक्तम् ॥ १३ ॥

(१४)—असंयोगात्तु तदेव प्रतिकृष्येत ॥ २७ ॥

सौमिकाग्नीषोमप्रणयनानन्तरं पञ्चङ्गतया 'यूपं छिनत्ति'

इत्युत्पन्नं यूपच्छेदनं 'दीक्षासु यूपं छिनत्ति' इत्यनेनापकृष्टं प्रयाजन्यायेन^१ प्राचोऽपि पदार्थान् अग्नीषोमप्रणयनादीनपकर्षतीति प्राप्ते-

भिन्नप्रयोगविधिपरिगृहीतत्वेनात्र पाठस्य क्रमानियामकत्वात् महाप्रयोगविध्यैक्येऽपि वा उत्पत्तिविधिवेलायां प्रयोज्यत्वानवगमेन क्रमानाकांक्षत्वात् पाठस्य क्रमाकल्पकत्वेन बद्धक्रमत्वाभावाद्दीक्षाकालविधिवाक्ये च प्रयोज्यत्वावगमेन तत्रैव क्रमापेक्षतया भिन्नप्रयोगविधिपरिगृहीतैरपि सोमाङ्गदीक्षाकालीनपदार्थैः पाठेन क्रमकल्पनात्तत्रैव सप्तहोतृहोमानन्तरं यूपच्छेदनमात्रं यूपोत्पादकधर्ममात्रं वाऽपकृष्य कार्यम् । न तु तदन्तापकर्षः ।

एतेन यूपच्छेदनस्य दीक्षान्ते करणमिति केषांचिदुक्तमपास्तम् । 'दीक्षासु यूपं छिनत्ति' इत्यस्य सप्तहोतृहोमानन्तरं पठितत्वात् ॥ १४ ॥

(१५)--प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात् ॥ २८ ॥

सवनोपशुतन्त्रं सवनीयहविषु प्रसज्यते । दैक्षपशुतन्त्रं च पशुपुरोडाशे शते वक्ष्यते^२ । प्रसङ्गे च ये उपकाराः प्रयाजानूयाजादिजन्यास्तर्कितो लब्धास्तज्जनकीभूतपदार्थो नोतिदेशः, अपेक्षाभावात्, ये तु न लब्धाः आज्यभागपिष्टलेपलीकरणहोमादिजन्याः, तत्पदार्थोऽत्येवातिदेश इत्यपि वक्ष्यते^३ ।

तदिह पाशुकानूयाजानां दैक्षे हृदयादियागोत्तरत्वात् सवनीये चाग्निमासतशस्त्रोत्तरत्वात्तत्पूर्वभावि सवनीयहविः पशुपुरोडाशादीनामङ्गभूताः पिष्टलेपलीकरणादिहोमाः किमनूयाजोत्तरमुत्कृष्टव्याः उत नेति चिन्तायां-

^१ ५-१-१२^२ १२-१-१.^३ १२-१-२.

प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोः पिष्टलेपफलीकरणहोमानां परप्रयु-
कानूयाजैरेव बद्धकमत्वादिहापि सत्यपि भिन्नप्रयोगविधिपरिग्रहे
अङ्गभूतस्यान्याङ्गभूतानुयाजोत्तरत्वस्यापि सम्भवेनोत्कर्षे प्राप्ते—

न तावद्विकृतावेव क्रमकल्प्तिः, भिन्नप्रयोगविधिपरिग्रहात्,
पुरोडाशादिप्रयोगविधिना विहितानां पिष्टलेपफलीकरणहोमेडा-
भक्षणानां व्यवधायकाभावात्, व्यवधायकाभावविशिष्टप्रकृति-
दृष्टपौर्वापर्यस्य क्रमकल्पकत्वेनोत्कर्षे तत्क्रमबाधप्रसङ्गाच्च, पाशु-
कप्रयोगविधिविहितानां समिष्टयजुःपत्नीसंयाजानामुक्तप्रमाणेनैव
क्रमकल्प्तेस्तद्बाधस्यापि प्रसङ्गाच्च । नापि प्रकृतितो अनूयाजोत्त-
रत्वकल्प्तिः, प्रकृतौ हि पाठकलिपतवाक्येन क्रमनियम एव
विधीयते न तु क्रमोऽपि, तस्य प्रयोगविध्याक्षेपादेव प्राप्तेः ।
अतश्च प्रकृते भिन्नप्रयोगविधिपरिगृहीतानां सामान्यतः क्रम-
स्याप्राप्तौ तदाश्रितस्य नियमस्याप्राप्तिः । न ह्यत्राक्षेपात्पूर्वमे-
वावघातविधिवन्प्रवृत्त्यङ्गीकारेण पाठकलिपतवाक्यस्य क्रमविधा-
यकत्वमवेति शक्यं वक्तुं, तद्वदिह पाठकल्प्यस्य विधौ कल्-
प्तत्वाभावेन समतया आक्षेपप्रतिबन्धायोगात् । इतरथा दधि-
यागपयोयागयोरपि पाठेन क्रमापत्तेः । अतश्च प्रकृतितोऽप्य-
नूयाजोत्तरत्वस्याप्राप्तेः पुरोडाशाद्यङ्गेडाभक्षणोत्तरमेव पिष्टलेप-
फलीकरणहोमौ ॥ १५ ॥

(१६)—तथाऽपूर्वम् ॥ २९ ॥

दर्शपूर्णमासयोः हविरभिवासनोत्तरं वेदिकरणमास्नातम् ।
तस्य “पूर्वेद्युरमावास्थायां वेदिं करोति” इति वचनेनापकर्ष-
इत्युक्तः पूर्वभाविनोपि हविरभिवासनादीनपकर्षेत, एकप्रयोगवि-

धिपरिगृहीतत्वेन पाठस्य क्रमकल्पकत्वात्, अमावास्यापदस्य कर्मपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गेन कालपरत्वावसायाद्धविरभिवासनोत्तर-
भाविवेदिकरणविधेरेव पौर्णमास्यङ्गताबोधकत्ववद्दर्शाङ्गत्वबोधक-
त्वाच्च । न च कालद्वयविधाने वाक्यभेदः, सामर्थ्यात् “वेदं
कृत्वा वेदिं करोति” इति श्रुतवेदकरणानन्तर्यबलेनैव च पू-
र्वेषुत्वस्य प्राप्तत्वेनानुवादात् । प्रधानप्रत्यासत्तिलाभात् पौर्ण-
मास्या अतीतत्वाच्च दार्शिकवेदिकरण एवायं कालविधिः । अतश्च
पौर्णमाससाधारण्येन पाठस्य क्रमकल्पकत्वावश्यभावात् अत
एव च यूपच्छेदनवैलक्षण्यात्तदन्तापकर्षे प्राप्ते—

कालपरत्वेऽपि कालविधेः प्रयोगविधित्वेन दार्शिकवेदिक-
रणस्य तत्रैव प्रयोज्यत्वावगमात् तदवगमोत्तरं च क्रमापेक्षायां
पाठस्य नियामकत्वासम्भवात् श्रौतक्रमान्तरसत्त्वाच्च न हविर-
भिवासनेन वद्धक्रमत्वम् । अतश्च पाठोपि परिशेषात्पौर्णमास-
विषय एव । यदि तु खण्डपर्वणि चतुर्दश्यां प्रातरन्वाधान-
दिनै वेदिकरणसिद्धयर्थं लक्षणामप्यङ्गीकृत्यामावास्यापदेन कर्म-
वोच्येत, तदा दार्शिकवेदिकरणस्यायमेव विनियोगविधिरिति
हविरभिवासनेन दार्शिकवेदिकरणस्य सुतरां न वद्धक्रमता । न
चैवं पूर्वेषुःकालविशिष्टवेदिकरणस्य दर्शाङ्गतया वाक्येन वि-
नियोगात् प्रकरणेन पौर्णमासाङ्गत्वायोगः, वदेस्सर्वसाधारण्येन
तत्करणस्याप्यङ्गतयाऽपेक्षासहकृतपौर्णमासप्रकरणेन गर्दभाभिधा-
न्यामादानस्येवाक्षेपोपपत्तेः । अत एव वाक्येन श्रुत्या बोधयत्र
न प्रकरणस्यार्थाक्षेपस्य वा बाधः, तयोः पूर्वेषुःकालमन्त्ररू-
पगुणमात्रविधिकल्पकतया क्रियाविधिफलकत्वाभावात् । अतो न
प्रकृते तदन्तापकर्षः ॥ १६ ॥

(१७)—सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वै-
 गुण्यात् ॥ ३० ॥ अव्यवायाच्च ॥ ३१ ॥
 असम्बन्धात् नोत्कर्षेत् ॥ ३२ ॥ प्रापणाच्च
 निमित्तस्य ॥ ३३ ॥ सम्बन्धात्सवनोत्कर्षः॥

दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबन्धान्मध्यंदिनक्रियमाणसान्तपनीयाया
 उत्कर्षे स्वकालेऽग्निहोत्रहोमः कर्तव्यो न वेति चिन्तायां—स्व-
 कालकरणे सान्तपनीयार्थं प्रणीतस्याग्नेः पुनः प्रणयनासम्भवा
 न्मन्त्रवत्प्रणयनलोपेन वैगुण्यापत्तेः, कालस्य च पदार्थगुणत्वेन
 प्रयोगविधिविशेषणतयोत्तरकालप्रतीतिकत्वेन च लोपेऽपि वैगुण्या
 भावादुत्कर्ष इति प्राप्ते—

अनुपादेयत्वात्कालस्य नित्ये यथाशक्ति उपादेयाङ्गत्याग-
 स्यैव तदनुरोधेन षष्ठे वक्ष्यमाणत्वात् प्रणयनलोपेनापि काला-
 नुग्रह एव न्याय्यः । सायंप्रातःकालस्य जीवनरूपनिमित्तवि-
 शेषणत्वेन सुतरामनुग्राह्यत्वाच्च ।

वस्तुतस्तु—अग्निहोत्रस्यान्यतः प्रणयनजन्योपकारलाभे तद-
 नाक्षेपकत्वस्य दर्शादौ क्लृप्तत्वात्तलोपेऽपि न वैगुण्यम् । अत-
 स्स्वकाल एवाग्निहोत्रं कृत्वा सान्तपनीया कर्तव्येति सान्तप-
 नीयाङ्गानां नैव क्रम आदरणीयः । अत्र च सान्तपनीयेत्युपल-
 क्षणं प्रारब्धकर्ममात्रस्य । अग्निहोत्रेत्यप्यावश्यकमात्रस्य । अना-
 वश्यकविषये “अप वा एतद्यज्ञस्य छिद्यते यदन्यस्य तन्ने वि-
 ततेऽन्यस्य तन्नं प्रतायते” इति निषेधात् । न चैवमनीकवत्यु-
 त्कर्षेऽपि मध्यंदिने सान्तपनीयापत्तिः, तथात्वे सान्तपनीयाया

अनीकवत्युत्तरकालत्वस्यैकप्रयोगविध्यवगतस्य प्रणयनस्य च बाधेन वरमेकस्यैव मध्यंदिनकालस्य बाधः ।

केचित्तु निमित्तविशेषणीभूतकालस्यैवानुग्राह्यत्वं न तु कालमात्रस्येत्यङ्गीकृत्य सान्तपनीयायाः काम्यवन्मध्येऽनावश्यकत्वादकरणमिति वदन्ति । तत्तु चातुर्मास्यानामपि नित्यत्वान्माध्यंदिनस्यापि निमित्तविशेषणत्वापत्तेरुपेक्षितम् ॥ १७ ॥

(१८)—षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् ॥ ३५ ॥

दैवान्मानुषाद्वाऽपराधादेवोक्थ्येषूत्कृष्टेषु षोडशस्तोत्रमुत्कृष्यते न वेति चिन्तायां—“समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनस्स्तोत्रमुपाकरोते” इति वचनविहितसमयाध्युषितकालबाधे प्रमाणाभावादनुत्कर्षः । न च “तं पराञ्चमुक्थ्येभ्यो गृह्णाति षोडशिनम्” इति वचनेन ग्रहणे उक्थ्यपरभावस्य विहितत्वात् स्तोत्रस्य च “ग्रहं वा गृहीत्वा” इति वचनेन ग्रहणोत्तरकालत्वात् तदनुरोधेन समयाध्युषितकालबाधः, ‘तं पराञ्चम्’ इत्यनेन षोडशियागाभ्यासस्यैवोक्थ्यपरभावविधानेन ग्रहणस्य स्तोत्रपूर्वकालत्वेऽपि बाधकभावात् । अत एव तत्र गृह्णातिर्निर्वपतिवद्यागपर एव ।

अस्तु वा ग्रहणपरः, तथाऽपि तैत्तिरीयशाखायां षोडशिनस्सवनत्रयेऽप्याज्ञानात् सवनान्तरविषयकं ‘तं पराञ्चम्’ इति वाक्यम् ।

अस्तु वा एतदपि सर्वविषयं, तथाऽपि ‘ग्रहं वा’ इत्यस्य सामान्यविषयत्वादुक्थ्योत्तरकालग्रहणेऽपि समयाध्युषिते स्तोत्रकरणे न कश्चिद्विरोधः ।

यदि तु सामान्यविशेषरूपबाधस्य यथाऽवस्थितशास्त्रार्थविषयत्वेन दैवाद्यपराधेऽप्रवृत्तेस्सर्वपदार्थानां तुल्यबलत्वमुच्येत, तथाऽप्युक्त्यपरभावस्य क्रमत्वेनोपादेयत्वात् पूर्वाधिकरणन्यायेन बाधोपपत्तेस्समयाध्युषितकालानुग्रहो न्याय्य एव । न च कालस्याङ्गाङ्गत्वेन प्रधानाङ्गकमापेक्षया दौर्बल्यं, उभयोरप्यङ्गाङ्गत्वात् । न च ग्रहणस्यात्रावदानवत्प्रदानोपक्रमता, तद्वादिहैकपदार्थत्वाभावादिति प्राप्ते—

ग्रहणस्य षोडशियागाभ्यासकल्पकत्वेनान्तरङ्गत्वात् तत्क्रमस्य प्राबल्यम् । वस्तुतस्तु 'तं पराञ्च' इत्यस्यापि कालपरत्वमेवेत्यन्तरङ्गतद्वाधोऽन्याय्य एव । न च ग्रहणस्योत्तरकालं करणेऽपि स्तोत्रस्यैव कालानुग्रहशङ्क्यः, तथात्वे स्तोत्रे ग्रहणोत्तरकालत्वस्य प्रधानप्रत्यासत्तेश्च बाधप्रसङ्गेनैकस्यैवास्य समयाध्युषितकालबाधस्य न्याय्यत्वात् । अतस्तस्याप्युत्कर्ष इति सिद्धम् ॥ १८ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

पञ्चमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः.



अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

(१)—सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥ १ ॥ सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्वत्वात् ॥ २ ॥

यत्रानिकेषां प्रधानानामङ्गानां वा एकेन प्रयोगविधिनापसंहारात्साङ्गानां साहित्यावगमस्तत्र दर्शपूर्णमासप्राजापत्यादौ कि-

मेकैकस्य प्रधानस्य सन्निपत्योपकारकाङ्गकाण्डं कृत्वेतरस्य कर्तव्यमित्येवं काण्डानुसमयः, अथवा एकैकमङ्गमेकैकस्य कृत्वेतरस्य कर्तव्यमित्येवं पदार्थानुसमय इति चिन्तायां—

प्रधानप्रत्यासत्त्यनुग्रहात् प्रकृतितः परस्परसंश्लिष्टानामेवोपाकरणनियोजनादीनामेकैकस्मिन् पशौ प्राप्तत्वाच्च काण्डानुसमय एव । एकप्रयांगत्वं त्वारादुपकारकाङ्गाभिप्रायेणेति न कश्चिद्विरोध इति प्राप्ते—

प्रत्यक्षवचनेनैकस्मिन् काले साङ्गानां सर्वेषां प्रयोगविधानात्प्रधानसाहित्यवदङ्गेष्वपि साहित्यावगमादेकैकाङ्गेन सर्वप्रधानानां युगपदुपकर्तव्यमित्यर्थावगमेनैकमुपाकरणाख्यमङ्गं सर्वपशूनां कृत्वा नियोजनं कार्यम् । प्रधानप्रत्यासत्तिस्तु प्रत्यक्षवचनावगतोक्तसाहित्यानुरोधेनैव कल्पनीया । उपाकरणानन्तरमेव च नियोजनमिति यथाप्रकृत्येवानुष्ठानम् । आवृत्तानावृत्तत्वं तु प्रधानसाहित्यानुरोधेनेति न कश्चिद्विरोधः । अतः पदार्थानुसमयः । प्रवृत्तिक्रमविचारस्त्वेतदधिकरणोत्तरं द्रष्टव्यः ॥१॥

(२)—कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥

यत्र तु प्रधानविरोधः यथा—अश्वप्रतिग्रहेष्टयां शते वा सहस्रे वाऽश्वदाने तावत्सु पुरोडाशेषु श्रप्यमाणेषु यदि सर्वेषामधिश्चयणं कृत्वोद्भासनं क्रियेत ततो दह्येरन्, ततस्तत्र काण्डानुसमय एव कतिपयाङ्गानाम् ।

यत्त्वत्र वार्तिके निमित्तगतस्य यावत्त्वस्याविवक्षितत्वाच्चै-
मित्तिकगतस्य च तावत्त्वबहुत्वादेः पृष्ठशमनीयन्यायेन^१ अनु-

वाद्यगतत्वेनाविवक्षितत्वात्साहित्यबोधकवचनाभावेनानेकेष्वप्यश्व-
दानेषु प्रत्येकप्रयोगेणैव वारुणेष्विकर्तव्यत्वावगतेर्भाष्यस्थमेतदुदा-
हरणं साहित्यबोधकवचनान्तरसम्भावनयेत्युक्तम् । तत्र, “सत्रा-
दुदवसाय पृष्ठशमनीयेन यजेरन्” इत्यत्र हि उदवसानसमा-
नकर्तृकत्वबलेनैव पृष्ठशमनीये बहुत्वादेः प्राप्तत्वाद्युक्ता साहित्या-
विवक्षा । प्रकृते तु निमित्तसमसङ्ख्याकत्वस्यैव तावच्छब्दार्थ-
स्य नैमित्तिकविशेषणतयाऽप्राप्तस्य विधेयत्वाद्युक्तमेवानेकनिमि-
त्तसन्निपाते नैमित्तिकसाहित्यम् । तावच्छब्दाभावे हि युगपदने-
कनिमित्तसन्निपाते तन्त्रेण नैमित्तिकीष्टिरेकैव प्रसज्येतेति युक्त-
एव तावच्छब्दार्थविधिः । यत्रापि हि पुरुषार्थतया न कृत्वन्तः
पातित्वं यथा—युगपदनेकचण्डालादिस्पर्शादावनेकग्रहदाहादौ च,
तत्रापि नैमित्तिकस्य सकृदनुष्ठानं किमुत क्रतुप्रयोगमध्यवर्ति-
तदङ्गवारुणेषु । अतश्चाग्नेयादिभेदेऽपि प्रयाजाद्यङ्गतन्त्रत्ववत् युग-
पदनेककपालभेदने होमतन्त्रत्ववच्च वारुणेष्वेस्तन्त्रत्वप्रसक्तौ नि-
मित्तसमसङ्ख्याकत्वविधानेन तावत्त्वप्रतीतावप्येकप्रयोगविधिपरि-
गृहीतत्वेन साहित्यप्रतीतिर्युक्तमेवोदाहरणत्वम् । तत्र चारादुप-
कारकेषु बहुधा प्रसङ्ग एव । सन्निपातिषु बहुधा पदार्थानुस-
मय एव । क्वचिदेव तु प्रधानविरोधैः काण्डानुसमयः । प्रदाने
तु सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वात्तन्त्रत्वमेव । पुरोडाशमात्रे तु निमित्तस-
मसङ्ख्याकत्वं प्राजापत्यवदिति द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

(३)—मुष्टिकपालावदानाज्जनाभ्यञ्जनवपनपाव-
नेषु चैकेन ॥ ४ ॥ सर्वाणि त्वेककार्यत्वा-
देषां तद्गुणत्वात् ॥ ५ ॥

पदार्थानुसमयप्रसङ्गात् कियानेकः पदार्थ इति चिन्त्यते । किमेकैकमुष्टिनिर्वाप एकः पदार्थस्तेन चाग्नेयाग्नीषोमीयनिर्वाप-
योरनुसमयः, किं वा चतुर्मुष्टिनिर्वाप एकः पदार्थस्तावता चा-
नुसमय इति चिन्तायां—एकैकमुष्टिनिर्वापे यत्नसमाप्तेर्मन्त्रसत्त्वा-
च्च तस्यैवैकपदार्थत्वमिति प्राप्ते—

अङ्गपर्यायः पदार्थशब्दः, तस्यैव प्रयोगविधिना विधा-
नात्, विहितस्यैवाङ्गत्वम् । न चैकमुष्टिनिर्वापो विहितः,
किन्तु चतुर्मुष्टिनिर्वाप एव, “चतुरश्चतुरो मुष्टिर्निर्वपति” इति
विधानात् । अत्र हि अर्थप्राप्तनिर्वापानुवादेन न गुणमात्रविधानं
सङ्ख्यामुष्ट्यभयविधाने वाक्यभेदात्, पुरोडाशमात्रपर्याप्तव्रीहि-
मतः पृथक्करणरूपनिर्वापस्य नियमेनाप्राप्तत्वाच्च । अतश्चतुर्मुष्टि-
निर्वापेणैवानुसमयः । अत एव वीप्साऽप्युपपद्यते । एवं “क-
पालानुपदधाति अष्टौ दक्षिणतः एकादशोत्तरतः” इति सङ्ख्या-
दिविशिष्टोपधानविधानात्सर्वकपालोपधानेनानुसमयः । यद्यपि च
कपालगतबहुत्वमुद्देश्यविशेषणत्वादिविवक्षितं, तथाऽप्यष्टत्वादिस-
ङ्ख्याया उपधानविशेषणत्वादिविवक्षोपपत्तिः । यद्यपि च तत्त-
न्मन्त्रादिभेदादेकैकोपधानविधिरपि कश्चिदुद्भाव्येत तथाऽपि व-
क्ष्यमाणकृष्णाजिनास्तरणन्यायेन एकपदार्थत्वं सर्वोपधानस्य द्र-
ष्टव्यम् । अत आग्नेयस्य सर्वाण्युपधायाग्नीषोमीयस्योपधेयानि ।
एवं “द्विर्हविषोऽवद्यति” इत्यत्रापि द्वित्वविशिष्टावदानविधानात्
द्विरवदानेनानुसमयो न त्वेकैकावदानेन । न च “मध्यादव-
द्यति, पूर्वार्धादवद्यति” इति वाक्याभ्यामेव द्विरवदानप्राप्तेस्त-
द्विधिवैयर्थ्यम् । एतद्विध्यभावे चतुरवत्तवाक्यस्थचतुस्सङ्ख्या
मध्यात् द्विः पूर्वार्धात् द्विः । इत्येवं हविष एव सम्पाद्येत । एतत्सत्त्वे
तु तद्विराधादुपस्तरणाभिधारणाभ्यामिति तद्व्याख्या चतुस्स-

ह्यथाऽनुवाद एव । इदं च सान्नाय्यविषयं द्विरवदानानुसमय-
कथनम् । आग्नेयादौ तु अवदानादिप्रदानान्तेनानुसमयस्य व-
क्ष्यमाणत्वात् । सान्नाय्ये तु उपस्तरणाभिघारणयोस्तन्त्रत्वात्
दध्नो द्रव्यवदानं गृहीत्वा पयसो ग्राह्यम् । कल्पसूत्रेषु तु पयसो
द्रव्यवदानं गृहीत्वा पश्चादध्न इत्युक्तम् । तैत्तिरीयश्रुतौ तादृ-
शक्रमस्य वाचनिकत्वात् । होमस्तन्त्रेणैव सम्प्रतिपन्नदेवताक-
त्वात् । एवमञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेष्वपि तत्तद्विधिसत्त्वात्त्रैकेन ने-
त्रेण शरीरावयवेन वाऽनुसमयः, अपित्वमेकयजमानकेऽहीने ए-
कत्र नेत्रद्वयेऽप्यञ्जनं कृत्वा यजमानान्तरे तत्कार्यं सर्वावयवोपे-
ताभ्यञ्जनादिना च प्रत्येकमनुसमयः । सत्रे तु 'अध्वर्युर्ग्रहपतिं
दीक्षयित्वा' इत्यादिना तत्तत्संस्कारकदीक्षोत्तरकालत्वविधानात्
काण्डानुसमय एव ॥ ३ ॥

(४)—संयुक्ते तु प्रक्रमान्तदङ्गं स्यादितरस्य तद-
र्थत्वात् ॥ ६ ॥

सान्नाय्यवदाग्नेयाग्नीषोमीयादौ भिन्नदेवत्येऽपि द्रव्यवदाने-
नानुसमय इति प्राप्ते—

'चतुरवत्तं जुहाति' इत्यनेनावत्तोद्देशेन होमाख्यसंस्कारविधा-
नादर्थदेवावदानप्राप्तेः "द्विर्हविषोऽवद्यति" इत्यनेन द्वित्वमात्र-
विधानादुक्तविधचतुरवत्तहोमस्यैवैकपदार्थत्वेनावदानादिप्रदाना-
न्तेनानुसमयः ।

वस्तुतस्तु—अवत्तस्योद्देश्यत्वेन ततः पूर्वमवदानादिप्राप्तेर्दुरु-
पपादत्वात् द्रव्यवदानवाक्ये चावदानमात्रे द्वित्वविधानेऽलङ्कार-
णन्धर्थाज्यावदानेऽपि द्वित्वप्राप्त्यापत्तेर्हविषोद्देशेनैव द्वित्ववि-

धाने होमादावपि तदापत्तेर्हविर्विशिष्टोद्देशेन तद्विधाने च वा-
क्यभेदापत्तेरवश्यं द्वित्वविशिष्टावदानविधिस्वीकारेऽप्युपस्तरणा-
दिविधिन्यायेन दृष्टार्थत्वलाभाय चतुरवत्तहोमविध्युपपादकत्व-
स्याप्यङ्गीकारादवदानादिप्रदानान्तस्यैवैकपदार्थत्वावगमेन तेनैवा-
नुसमयः ॥ ४ ॥

(५)—वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादि स्यात् ॥

॥ ७ ॥ कारणाद्वाऽनवसर्गस्स्यात् यथा
पात्रवृद्धिः ॥ ८ ॥ न वा शब्दकृतत्वान्नया-
यमात्रमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः ॥ ९ ॥

यूपधर्मा अञ्जनोच्छ्रयणसम्मानपरिव्याणादयो यूपगणेऽति-
देशप्राप्ताः पृथक्पदार्था अपि न प्रत्येकमनुसमेयाः “अञ्जनादि-
परिव्याणान्तं यजमानो यूपं नावसृजेत्” इति प्रकृतावनवसर्गस्य
विहितस्येहाप्यतिदेशात् । न चानेन रागप्राप्ते कादाचित्के यूप-
संयोगे सति त्यागनिषेधविधिः, पाक्षिकत्वाद्यापत्तेः । अपि तु
संयोगाभावाभावरूपसंयोगाख्यस्यानवसर्गस्यैव सहायार्थं नियम-
विधिः । अतश्च तदनुरोधेन सत्रातिरिक्ते यूपगणे तावत् का-
ण्डस्यानुसमयः । सत्रे तु येनकेनापि यजमानेन धारणसम्भ-
वात्पदार्थानुसमय एव । अन्यत्रापि तावदतिरिक्तपदार्थानां प्र-
त्येकमेवानुसमयः ॥ ५ ॥

(६)—पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत्पश्वेकत्वात् ॥

१० ॥ दैवतैर्वैककर्मात् ॥ ११ ॥ मन्त्रस्य
चार्थवत्त्वात् ॥ १२ ॥

प्रकृतौ साम्नाय्ये अवदानादिप्रदानान्तस्यैकपदार्थत्वादतिदेशेन दैक्षेऽपि तथैव प्राप्तौ “दैवतान्यवदाय न तावत्येव होतव्यं सौविष्टकृतान्यवदाय, सौविष्टकृतान्यवदाय न तावत्येव होतव्यं ऐडान्यवदायति” इति वचनेन क्रमान्यत्वविधायिना पदार्थभेदावगातिः । न ह्यसम्बन्धिपदार्थान्तरव्यवधाने प्राकृतैकपदार्थता सम्पद्यते । अतश्चैकदेवत्ये पशुगणे प्राजापत्यन्यायेन दैवतावदानादिना प्रत्येकमनुसमयः । अन्ते च तन्त्रेण देवताहोमः न च प्रकृतावेकस्य पशोर्दैवताद्यवदानत्रयमानन्तर्येण कृतमितीहापि तथैव कार्यमिति शङ्क्यं, प्राजापत्यन्यायेनैव पश्वेकत्वस्य प्रकृतावार्थकत्वेन चोदकविरोधाभावात् । अत एव यत्र विभिन्नदेवताके पशुगणे चोदकविरोधस्तत्रावदानत्रयं होमं चैकस्य कृत्वा परस्याप्यवदानत्रयपूर्वकप्रदानान्तं कार्यम् । स्विष्टकृदिडाभक्षणे तु तन्त्रेणैव । तत्रापि पदार्थानुसमये द्वितीयहोमस्यातिदेशप्राप्तैडावदानानन्तर्यबाधः सत्तेः ॥

वस्तुतस्तु असम्बन्धिपदार्थान्तरव्यवधानेऽपि पञ्चावत्तहोमसम्पादकत्वेन देवतावदानस्यापि प्रदानावयवत्वोपपत्तेर्विभिन्नदेवताकस्थलेऽपि दैवतावदानादिप्रदानान्तेनानुसमयः । एकदेवताके तु पदार्थावयवानामेवानुसमय इति न कोपि विरोधः ॥

(७)—नानाबीजेष्वेकमुलूखलं विभवात् ॥१३॥

विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्वस्य तदर्थत्वात् ॥१४॥

एकं वा तण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात् ॥१५॥

राजसूये—“अग्नये गृहपतयेऽष्टाकपालं कृष्णानां ब्रीहीणां सोमाय वनस्पतये श्यामाकं चरुम्” इति नानाबीजेष्वेष्टिराम्नाता ।

तत्रातिदेशप्राप्तानि कृष्णाजिनास्तरणोलूखलाधिवर्तनबीजावापाव-
घातपरावपनविवेचनफलोकरणपात्रचधिकरणकतण्डुलप्रक्षालनानि
तत्तद्विधिविहितत्वेन पृथक्पदार्थत्वात्प्रत्येकभनुसमेयानि । न ह्यत्र
द्वयवदानस्यावत्तहोमविध्याक्षिप्तत्ववत्सर्वेषामवघातविध्याक्षिप्तत्वं,
येनैकपदार्थत्वं शङ्क्येत, तद्व्यतिरेकेणाप्यवघातसम्भवात् । नापि
सर्वेषामेवावघातपदार्थत्वं, उलूखलमुसलसंयोगविशेषस्यैव सर्वो-
पधावघातवत्तत्पदार्थत्वात् अतः प्रत्येकानुसमये प्राप्ते—

तत्तद्विधिविधेयत्वेऽपि पृथक्पदार्थत्वेऽदृष्टार्थत्वापत्तेस्सर्वेषा-
मेषां तण्डुलनिष्पत्तिफलकावघातविधिशेषत्वेनैव विधेयत्वादेक-
पदार्थत्वावगतेस्तावताऽनुसमयः एवं सत्यूलूखलमप्येकमेवेति-
सिध्यति पात्री च । इतरथा हि कृष्णाजिनमुसलशूर्पाणामेक-
त्वेनोपकारकत्वसम्भवेऽप्यूलूखलपात्रयोर्भेदावश्यंभावात् । तस्मा
त्कृष्णाजिनास्तरणादिपात्रे तत्प्रक्षालननिनयनान्तेनानुसमयः । उ-
त्करे तत्प्रतिपत्तिस्तु तन्त्रेणेति विवेकः । एवं कृष्णाजिनास्त-
रणादिपेषणान्तेन तस्याप्यनुसमयः, तेषामपि पेषणविधयेकवाक्य-
तया एकपदार्थत्वात् ।

नन्वत्र किं अनुसमेयपदार्थानां पदार्थत्वं, न तावदनुष्ठे-
यत्वं, एकमुष्टिनिर्वापादावतिव्याप्तेः । नापि विहितत्वघटितमङ्गत्वं,
द्रव्यादावतिव्याप्तेः । नापि क्रियात्वविशेषितं तत्, उपस्तरणकृ-
ष्णाजिनास्तरणादावतिव्याप्तेः । नापि परानवयवत्वे साति निरु-
क्तक्रियात्वं, अवयवत्वस्यापि निर्वक्तुमशक्यत्वात् । दृष्टविधया
क्रियान्तरोपकारकत्वमिति चेत् अवघातस्यापि दृष्टविधया या-
गपेषणाद्युपकारत्वेनावयवत्वापत्तावघातादिपेषणान्तेनानुसमयाप-
त्तेः, अवघातकालीनतदङ्गजपादिमन्त्राणामदृष्टविधयोपकारकत्वे-
नावयवत्वानापत्तेश्च । किञ्च सत्यप्यवयवत्वे कृष्णाजिनास्त-

रणोपस्तरणादीनां विहितत्वे ऽङ्गत्वे प्रयोगविध्युपसङ्गहेन सा-
 हित्यावगतेः प्रत्येकानुसमयः किं न स्यात् । एवं द्वयवदान-
 स्यापि होमवद्धविस्संस्कारकत्वात् पेयणावघातन्यायेन प्रत्येका-
 नुसमयः किं न स्यादिति चेन्न, सत्यपि कृष्णाजिनास्तरणा-
 दीनां स्वतन्त्रविधिविधेयत्वे ऽङ्गत्वेन प्रयोगविधिप्रयोज्यत्वे वा
 अवघाताद्यङ्गत्वेन तद्द्वारैव प्रयोज्यत्वावगमात् तदनुसमयेनैवानु-
 समय इति न प्रत्येकमनुसमयः, प्रत्येकं साहित्यानवगतेः । एवं
 परावपनादिप्रक्षाळननिनयनान्तानामपि तण्डुलरूपावघातफलो-
 पयोगितयाऽवघातार्थत्वाच्च पृथक्पदार्थता । अत एवावघातार्थमपि
 तदङ्गं न पृथक्पदार्थः । एवमुपस्तरणादेरपि स्तुच्यसंसर्गद्वारा
 होमार्थत्वाच्च स्वातन्त्र्येण प्रयोज्यतेति न पृथगनुसमयः । द्वयव-
 दानस्य च हविस्संस्कारकस्याप्यवघातोद्देशेन होमविधानाह्लाववे-
 नावत्तहोमस्यैव प्रयोज्यत्वेऽवदानांशेऽपि पृथक्प्रयोज्यत्वाकल्प-
 नात् न पृथक्पदार्थत्वम् । अत एव पदार्थत्वं नाम स्वात-
 न्त्येण प्रयोगविधिविषयत्वं, पदार्थावयवत्वेन सम्मतानां हि
 कृष्णाजिनास्तरणादीनां नावघातादिनिष्ठप्रयुक्तिविषयत्वज्ञानं विना
 प्रयुक्तिविषयत्वं ज्ञायते, अवघातादीनां तु नान्यनिष्ठप्रयुक्तिवि-
 षयत्वज्ञानोत्तरकालत्वनियतं तदज्ञानं, प्रयोगविधिनाऽङ्गप्रधानोभ-
 यविशिष्टभावनाप्रयुक्तिज्ञापनेनाङ्गप्रयुक्तेरपि प्रधानप्रयुक्त्यन्यथाऽ-
 नुपपत्तिप्रसूतत्वाभावात् । अतश्च यत्प्रयुक्त्यन्यथाऽनुपपत्ति
 विनैव यत्प्रयुक्तिविषयत्वज्ञानं स ततः पदार्थान्तरमिति सि-
 द्धम् ॥ ७ ॥

(८)—विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदा-

त्स्यात् ॥ १६ ॥

दैक्षे पशौ अनूयाजानां “पृषदाज्येनानूयाजान् यजति” इति पृषदाज्यं श्रुतम् । प्रयाजानां तु शुद्धमेवाज्यं प्रकृतिप्राप्तम् । प्रकृतौ चोपभृत्येकस्मिन्नेव पात्रे प्रयाजाङ्गभूतं चतुर्गृहीतं गृहीत्वा तस्मिन्नेव काले अनूयाजार्थं चतुर्गृहीतं गृहीतमासीत् । अपि तथैव ग्रहणे प्रयाजाज्यस्य दधिसंसर्गेणोत्पवनावेक्षणयोरदृष्टार्थत्वप्रसङ्गेनाप्राकृतकार्यकारितापत्तेः, समानयनवेलायां प्रयाजाज्यस्य न्यूनत्वापत्तेश्च । अतोऽवश्यं पात्रैकत्वमनुगृह्य क्रमो बाध्यतां विपरीतं वेति चिन्तायां—पात्रैकत्वस्य श्रुतत्वात्पदार्थत्वाच्च बाधानुपपत्तेः क्रमस्यैव मन्त्रपाठकल्प्यत्वेन पदार्थगुणत्वेन च दौर्बल्यात् शिष्टकोपाधिकरणन्यायेन बाधः । एवं “अष्टावुपभृति” इत्येतद्वाक्यावगम्यचतुष्कद्वयसाहित्यबलकल्पैककालत्वस्यापि । न च प्रकृतौ तयोः कलसकल्प्यत्वादिना बलाबलेऽपि विकृतावतिदेशेन प्राप्तयोस्तयोस्समत्वाच्च बलाबलमिति शङ्क्यं, कलसकल्प्यत्वादिरूपबलाबलस्य विकृतावसम्भवेऽपि पदार्थतद्गुणत्वादिकृतबलाबलस्य विकृतावपि नियामकत्वोपपत्तेः । सम्भवति विकृतौ नियामकान्तरासत्त्वे प्राकृतस्यापि बलाबलस्य सप्तदशशरावे चरौ चतुस्सङ्ख्यामुष्टिनिष्ठप्राथम्यजघन्यत्वस्येव नियामकता । अतस्तस्मिन्नेव पात्रेऽनूयाजकरणवेलायां पृषदाज्यग्रहणमिति प्राप्ते—

पात्रैकत्वस्य पदार्थत्वेऽप्यनुष्ठयपदार्थमात्रवृत्तिक्रमस्य तद्धर्मत्वाभावात् प्रत्युत साक्षाद्ग्रहणाङ्गभूतक्रमकालाद्यपेक्षया ग्रहणाङ्गभूतपात्राङ्गैकत्वस्य अङ्गगुणविरोधन्यायेन दौर्बल्यात्तदैवोपभृद्भूयं सम्पाद्य शुद्धं दधिसंस्कृतं च चतुर्गृहीतञ्च ब्राह्मम् ॥ ८ ॥

(९)—प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचो-

दितस्य शेषान्नानम् ॥ १७ ॥ मुख्यानन्तर्य-
मात्रे यस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात्प्राकृ-
तानां व्यवायस्स्यात् ॥ १८ ॥ अन्ते तु
वादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥ १९ ॥
तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ २० ॥

“अग्रये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपलं निर्वपेत्” इति
नक्षत्रेष्टि विधाय “सोऽत्र जुहोति” इत्युपहोमा विहिताः । प्रकृतौ
च प्रधानस्विष्टकृतोर्मध्ये वाचनिका नारिष्टहोमास्समाज्ञाताः ॥

तदत्रोपहोमानां नारिष्टेभ्यः पूर्वमनुष्ठानं, औपदेशिकप्रधान-
पाठक्रमेण प्रधानानन्तर्यस्य विहितत्वात् । उपहोमानामौपदेशि-
कत्वेन नारिष्टेभ्यः प्रथममन्वितत्वाच्चेति प्राप्ते—

उपकारकसाक्षाद्भ्या विकृतिभावनया क्लृप्तोपकारकाणामा-
तिदेशिकानामङ्गानां प्रथमं गृहीतत्वेनोपहोमानामन्यतराकांक्षया
पश्चादन्वयादतिदेशस्य च प्रधानवाक्यशेषत्वस्यैव लाघवाद्भ्यु-
पगमेनोपहोमानामातिदेशिकाङ्गयुक्तप्रधानोत्तरमेव पाठेन क्रमाव-
गतेः पश्चादेव करणम् । तत्रापि ब्राह्मणतर्पणान्ते कर्तव्यत्वे
प्राप्ते “मध्ये जुहोति” इति वचनेनोपहोमसमाख्यया च अत्रेति
स्थाननिर्देशाच्च नारिष्टेभ्योऽनन्तरं कार्याः ॥ ९ ॥

(१०)—कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देशस्यात्तेन प्र-
त्यक्षसंयोगात् न्यायमात्रमितरत् ॥ २१ ॥

राजसूये अभिषेचनीयसोमयागानन्तरं प्राग्दशमेयात् वि-

देवनादयोऽभिषेकान्ता राजसूयधर्माः “अक्षैर्विव्याति, राजन्यं जिनाति, शौनदशेषमाख्यापयति, अभिषिच्यते” इत्यादिभेर्विहिताः । तत्राभिषेकस्तावत् वचनादेव “माहेन्द्रस्य स्तोत्रं प्रत्यभिषिच्यते” इत्यभिषेचनीयमाहेन्द्रकालेऽपकृष्टः । तदपकर्षेऽपि च न तत्पूर्वपठितानामपि विदेवनादीनामपकर्षः, वेदिकरणन्यायेन अपूर्वाणामेषां बद्धक्रमत्वाभावात् अभिषेचनीयोत्तरमपि च पाठस्य सत्त्वेन पूर्ववत्प्राकृताङ्गोत्तरमेव करणमिति प्राप्ते—

पूर्वं प्रयाजादिवत् बद्धक्रमत्वाक्लृप्तावपि इदानीमेव प्रत्यक्षेण पाठेनैकराजसूयप्रयोगविधिपरिगृहीतानां विदेवनाद्यभिषेकान्तानां बद्धक्रमत्वोपपत्तावभिषेचनीयपाठेन । प्राकृताङ्गानामानुमानिकत्वेन तैस्सह विदेवनादीनां भिन्नप्रयोगविधिपरिगृहीतानां क्रमकल्पनानुपपत्तेरभिषेकापकर्षेणापकर्ष एव विदेवनादीनाम् ॥ १०

(११)—प्राकृताञ्च पुरस्ताद्यत् ॥ २२ ॥

दीक्षणीया ज्योतिष्टोमप्रकरणे समास्नाता, चयनं चानारभ्याघीतं वैकल्पिकं सोमयागाङ्गं, तत्प्रकरणे च सावित्रहोमोखासम्भरणादयश्चयनाङ्गभूता धर्माश्श्रुताः, पश्चाञ्च सचयनज्योतिष्टोमाङ्गदीक्षणीयाप्रयोगोद्देशेन केचिद्रुणाश्श्रुताः ।

तदत्र दीक्षणीयायास्सामान्यतस्सोमप्रकरणान्नातदीक्षणीयापूर्वपदार्थैस्सह पाठेन बद्धक्रमत्वावगमाच्चयनप्रकरणे दीक्षणीयाया गुणमात्रश्रवणेन पाठाभावाच्च सावित्रादीनामागन्तुकानां दीक्षणीयादिनकृत्यान्ते निवेश इति प्राप्ते—

गुणेनापि गुणिन उपस्थितेस्तद्वाक्ये गुणिन उद्देश्यतया सङ्कीर्तनाच्च गुणगुणिनोरेकस्थानत्वावगतेः प्रत्यक्षेण विशेषरूपेण

च पाठेन सामान्यरूपस्य पाठस्य बाधात् पूर्वं सावित्रादयः
पश्चाद्दीक्षणीयेति सिद्धम् ॥ ११ ॥

(१२)—सन्निपातश्चेद्यथोक्तमन्ते स्यात् ॥ २३ ॥

तत्रैव दीक्षणीयागुणश्रवणोत्तरं रुक्मप्रतिमोचनादि चयनाङ्गं
श्रुतम् । ज्योतिष्टोमप्रकरणे च सामान्यतो दीक्षणीयोत्तरं दी-
क्षितसंस्कारा दण्डदानादयः ।

तदत्रापि विशेषपाठेन सामान्यपाठस्य बाधात् दीक्षणीयो-
त्तरं रुक्मप्रतिमोचनादि कृत्वा ततो दीक्षितसंस्कारा इति प्राप्ते—

विशेषपाठस्य पश्चाद्भावमात्रबोधनेनान्यथासिद्धस्यावर्ज-
नीयतयाऽप्युपपत्तौ दीक्षणीयाऽऽनन्तर्यानियामकत्वात्सामान्यपाठेन
कृतक्रमान् दीक्षितसंस्कारानेव दीक्षणीयाऽऽनन्तरं कृत्वा तद्दि-
नकृत्यान्ते रुक्मप्रतिमोचनादिकं कार्यम् ॥ १२ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां पञ्चम-
स्याध्यायस्य द्वितीयः पादः.

अथ तृतीयः पादः.

(१)—विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्मवत्तस्य तस्यो-
पदिश्येत ॥ १ ॥ अपि वा सर्वसङ्ख्यत्वा-
द्विकारः प्रतीयेत ॥ २ ॥

विकृतौ “एकादश प्रयाजान् यजति षडुपसदः” इत्या-
दिवैकृती अनेकव्यक्तिवृत्त्यधिकसङ्ख्या श्रुता । सा प्रतिप्रधानं
गुणावृत्तिन्यायेन पृषदाज्यादिवदेकैकस्मिन् प्रयाजादौ प्रत्येकम-
भिसम्बध्येतेति एकैक एकादशवारमावर्तनीय इति प्राप्ते—

द्वित्वादिसङ्ख्यायाः पृथक्त्वनिवेशित्वादेकैकस्मिन् पञ्चस्व-
पि वा पृषदाज्यवदावृत्तिं विना एकादशत्वानुपपत्तेरुत्पन्नवाक्य-
गतत्वेन च कर्मभेदकत्वायोगादावश्यकं जघन्ये प्रयाजपदे प्रयो-
गलक्षणया सङ्ख्याविधौ वरं सहितैरेव प्रयाजैस्तल्लक्षणात् सहि-
तंप्रयाजप्रयोगाणां सहितानामेवोद्देशात् सर्वसम्पाद्या सङ्ख्येति
प्राञ्चः । वस्तुतस्तु—प्रयोगोनाम न पदार्थान्तरं येन लक्षणा
स्यात् अपि तु प्रयाजानामेव व्यक्त्यन्तरम् । अतश्च यथैव
प्रकृतौ “पञ्च प्रयाजाः” इत्यादौ तत्तद्व्याप्यजात्यवच्छिन्ना एव व्य-
क्तयः प्रयाजत्वरूपव्यापकजात्यवच्छेदेनोच्यन्ते तथाऽत्राप्येकादश-
त्वादिसङ्ख्यासम्पत्त्यर्थं तावद्व्यक्तीनामुक्तौ क लक्षणा, अतस्तद-
भावेऽपि व्यापकधर्मावच्छिन्नोद्देशेन विहितैकादशत्वादिसङ्ख्याऽ-
नेकत्र व्यासज्यवृत्तित्वस्वाभाव्याद्व्यक्त्यन्तराण्याक्षिपन्ती लाघवा-
त्प्रकृतिकलृप्तव्यक्त्यधिकव्यक्तीष्णडेवाक्षिपति नाधिका इति सर्व-
सम्पाद्यत्वसिद्धिः । न चैवं प्रयोगलक्षणाभावे “तिस्र आहुतीः”
इत्यादाविव व्यक्तिभेदापत्तिः । तत्र विधेयतावच्छेदकविजातीयहो-
मत्वस्यैकस्य पूर्वमकलृप्तत्वेन भेदप्रतियोगितावच्छेदकतया त्रया-
णामेव तेषां कल्पनयोपपत्तौ तत्तद्व्यक्तित्वस्य प्रतियोगिताव-
च्छेदकीभूतस्य विधेयतावच्छेदकत्वकल्पने गौरवात्, प्रकृते तु
कलृप्तप्रयाजत्वस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वात् सङ्ख्यायाश्च विधेयत्वा-
न्न काचित्कल्पनेति वैषम्यम् ॥ १ ॥

(२)—स्वस्थानात्तु विवृद्धयेरन् कृतानुपूर्व्यत्वात्॥

तत्र प्रयाजैकादशत्वादिसङ्ख्या स्वसम्पत्त्यर्थं व्यक्त्यन्तरा-
 ण्याक्षिपन्ती चतुर्थोत्तमप्रयाजजातीयान्येवाक्षिपति, तदङ्गभूतयोः
 प्राकृततदङ्गदेवताप्रकाशकयोरपूर्वयोः प्रैषयोर्मध्ये षण्णामन्येषाम-
 प्राकृतदेवत्यमन्त्राणां पशावासानात् । तद्यदि आद्यानां त्रयाणा-
 मभ्यासस्स्यात् ततो मन्त्राणामपकर्षापत्तिः, समिद्यागत्वस्यानु-
 पस्थितिश्च । अतस्सन्निधानविशेषाच्चतुर्थोत्तमप्रयाजयोरेव चतु-
 श्चतुर्वारमावृत्तिः । उभयत्राभ्यासत्रये च प्राकृतदेवताबाधो लक्ष-
 णया वा तद्देवताप्रकाशनमित्यन्यदेतत् । एवमनूयाजेष्वपि
 मन्त्रलिङ्गवशादेव प्रथमानुयाजस्याद्याश्चत्वारो दशमश्च । द्विती-
 यस्याष्टमपर्यन्तं पञ्चमप्रभृत्यभ्यासः । नवमैकादशौ तृतीयस्येति ।
 यत्र तु न किञ्चिद्भ्रमकं तत्र विषमसम्पाद्यसङ्ख्याकस्थले अव-
 श्यकल्प्याया अधिकाया आवृत्तेरन्तिमविषयत्वात्सर्वस्याप्यन्ति-
 मविषयकत्वमेवेत्यपि वक्ष्यते । यत्र तु समसङ्ख्याकैवाऽऽवृत्तिः
 यथा तिसृषु उपसत्सु षट्त्वश्रवणे तत्रैकैकस्या द्विरावृत्त्याऽपि
 षट्त्वसम्पत्तौ नान्तिमाया एव चतुरावृत्तिः समुदाये विहित-
 कार्यान्यथाऽनुपपत्त्या कल्प्यमानाया आवृत्तेः सर्वविषयत्वौचि-
 त्यात् । तत्र च त्रिरनुवाकः पठ्यतामित्यादौ सम्पूर्णानुवाक-
 स्यावृत्तिदर्शनेन प्रकृतेऽप्युपसत्त्यमेकवारं कृत्वा पुनः कार्यमि-
 ति दण्डकलितवदावृत्तिरिति प्राप्ते—

प्रथमद्वितीययोर्हि तृतीयातः पूर्वं करणं क्लृप्तं तत् दण्ड-
 कलितवदावृत्तौ बाध्येत । अतः प्रथमां द्विः कृत्वा द्वितीयां
 च द्विरभ्यस्य तृतीयाऽपि तथैव कार्येति स्वस्थानविवृद्धिरेवति
 सिद्धम् ॥ २॥

(३)—समिद्धयमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरण
 धाय्यास्स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्ह-
 णात् ॥ ४ ॥ तच्छब्दो वा ॥ ५ ॥ उष्णिक्-
 कुभोरन्ते दर्शनात् ॥ ६ ॥

पञ्चदशसामिधेनीनां यत्र “एकविंशतिमनुब्रूयात्” इत्य-
 त्राधिका सङ्ख्या श्रुता, तत्रागमेन सङ्ख्यापूरणं दशमे वक्ष्यते ।
 तदत्रागम्यमानानामृचां यद्यपि न्यायेनान्ते निवेशः प्रसज्यते,
 तथाऽपि “इयं वै समिद्धयमानवती अस्मै समिद्धवती यदन्तरा
 तद्धाय्या” इति द्यावापृथिव्यन्तरालत्वेन स्तुतस्य च समिद्धय-
 मानवतीसमिद्धवत्यन्तरालस्याप्राप्तिबलकल्पितविधिविहितस्य स-
 त्त्वात्तदन्तराल एव सर्वासामागम्यमानानां निवेशः । न च
 धाय्यापदपरिभाषितानामेव मन्त्रविशेषाणां तदन्तराले निवेशोऽ-
 न्येषां त्वन्त इति वाच्यं, धीयमानत्वयोगेन सर्वेषामेव धाय्या-
 पदवाच्यत्वादिति प्राप्ते—

नायं यौगिकः स्तोत्रादावागम्यमानास्वपि धाय्याशब्दप्रयो-
 गापत्तेः, पाणिनिना सामिधेनीष्वेव धाय्यापदस्यानुशिष्टत्वाच्च ।
 अतो रूढ एवायम् । सोऽपि यत्रैव वेदे “पृथुपाजवत्यौ धाय्ये”
 इत्यादिना परिभाषितस्तत्रैव । तेषामेव चान्तराले निवेशः ।
 अन्येषां त्वन्त इति । अत एव त्रैधातवीयायामधाय्याशब्दिता-
 याः “अग्ने त्री ते” इत्यस्या ऋचः “त्रिष्टुभा परिदधाति” इत्य-
 न्ते निवेशदर्शनमुपपद्यते ॥ ३ ॥

(४)—स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्प-

पर्यासादागन्तवस्स्युस्तथा हि दृष्टं द्वादशाहे ॥
 पर्यास इति चान्ताख्या ॥ ८ ॥ अन्ते वा
 तदुक्तम् ॥ ९ ॥ वचनात्तु द्वादशाहे ॥ १० ॥
 अतद्विकारश्च ॥ ११ ॥ तद्विकारेऽप्यपूर्व-
 त्वात् ॥ १२ ॥

प्रकृतौ बहिष्पवमाने त्रयस्तृचाः स्तोत्रीयोऽनुरूपः पर्यास-
 स्तेत्येवं संज्ञाः । विवृद्धस्तोमकायां विवृतौ बहिष्पवमाने ऋगा-
 गमो वक्ष्यते ।

तत्रागम्यमानानामृचां प्राक्पर्यासान्निवेशः । पर्यासशब्दस्य
 नदीपर्यासः क्षेत्रपर्यासः इत्यादावन्तवचनत्वेन प्रसिद्धेऽस्समाख्य-
 यैवान्तिमस्थानत्वावगतेस्तदबाधार्थं प्राक्पर्यासादागन्तूनां निवे-
 शकल्पनात् । अत एव द्वादशाहे पार्थिके द्वितीयेऽहनि पञ्च-
 दशस्तोमके स्तोत्रीयानुरूपौ पठित्वा वृषण्वन्तौ तृचौ समा-
 स्नाय पश्चात्पर्यासः पठित इति प्राप्ते —

प्रकृतिकल्पस्थानुरूपानन्तर्यस्य पर्यासे बाधे प्रमाणाभावात्
 समाख्यायाश्च प्रकृतौ पाठप्राप्तान्तिमस्थानकत्वानुवादकत्वेन स्था-
 नविधिकल्पकत्वाभावादन्त एवागन्तूनां निवेशः । द्वादशाहे पा-
 र्थिके द्वितीयेऽहनि तु वाचनिकं वृषण्वतोस्तृचयोः प्राक्पर्यासा-
 दनुष्ठानम् । तदपि तयोरेव । तद्विकारेऽप्यन्येषामागमस्त्वन्त एव ॥

(५)—अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात् ॥ १३ ॥ अपि वा

गायत्रीवृहत्पुनष्टुप्सु वचनात् ॥ १४ ॥

यत्र तु विवृद्धस्तोमकेष्वेव क्रतुषु उत्तरयोर्माध्यंदिनार्भव-
पवमानयोर्वक्ष्यमाणस्सामागमः, तत्र स नान्ते अनारभ्याश्रीतेन
“त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहत्यनुष्टुप् अत्र ह्येवाव-
पन्ति अत एवोद्वपन्ति” इति वचनेनाप्राप्तिबललब्धविधिशक्ति-
केन गायत्र्यादिष्वेव सामावापविधानात् । अतो नान्त इति
प्रत्युदाहरणमात्रमिदम् ॥ ५ ॥

(६)—ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेष-
स्स्यात् ॥ १५ ॥ क्रत्वग्निशेषो वा चोदित-
त्वादचोदितानुपूर्वस्य ॥ १६ ॥

यानि प्राकरणिकानि ग्रहणान्यैन्द्रवायवादीनि तानि यथा-
पाठमेव व्यवस्थितानीति न तेषु चिन्ता । यानि त्वनार-
भ्याधीतानि तेष्वपि यत्रांश्वदाभ्यादौ प्राकरणिको विनियोगस्त-
त्रापि विधिपाठबलादेवानुष्ठानासङ्गेन चिन्ताविषयत्वम् । अत
एव न तयोरन्ते करणं, अपि तु प्रातस्सवन एव धाराग्रहेभ्यः
पूर्वमेव । यत्र त्वनारभ्याधीतमेव तेषां यागाङ्गतयाऽपि विनि-
योजकं वाक्यं तत्र ग्रहणस्य यागाभ्यासोपकारकस्य सामर्थ्याद्-
भ्याससमुदायात्मकसवनद्वारकतयैव यागाङ्गत्वात् द्वारभूतसवनभे-
देन प्रतिसवनं ग्रहणानुष्ठानं निर्वापाङ्गस्य मन्त्रस्येव मुष्टिरूप-
द्वारभेदेन । एवमनारभ्याधीतानां “चित्रिणीरुपदधाति” इत्या-
दीनामपि प्रतिचिति भेदेनानुष्ठानम् । चित्रिण्यादीष्टकानां ह्यना-
रभ्याधीतानामप्युपधानसंस्कृतानामुपयोगापेक्षायां “तस्मादग्निचि-
त्सर्वमायुरेति” इत्याद्यर्थवादवशादग्न्यङ्गत्वप्रतीतावप्यग्निपदाभि-
धेयस्थण्डिलारम्भकचितिद्वारकतयैव तदङ्गत्वावगतेः प्रतिचित्या-

वृत्तिः । 'यां कां चन' इतिवचनं तु प्राकरणिकेष्टकाभिप्रायमिति प्राप्ते—

ऐन्द्रवायवादिग्रहणवदेवाभ्याससम्पादनद्वारा यागोपकारकत्व-
स्यैव सिद्धेस्सवनारम्भस्यानुषङ्गिकत्वेऽपि द्वारत्वे प्रमाणाभावात्
प्रतिसवनमावृत्तिः, अपि त्वन्त एवानुष्ठानम् । एवं चित्रिण्या-
देरपि न प्रतिचित्यनुष्ठानम् ॥ ६ ॥

(७)—अन्ते स्युरव्यवायात् ॥ १७ ॥ लिङ्गदर्श-
नाच्च ॥ १८ ॥ मध्यमायां तु वचनाद्ब्राह्म-
णवत्यः ॥ १९ ॥

चित्रिण्यादीनां तु “यां कां चन ब्राह्मणवतीमिष्टकामभि-
जानीयात्तां मध्यमायां चितावुपदध्यात्” इति वचनेन मध्यम-
चितावुपधानम् । अत्र ह्यभिपूर्वस्य जानातेः प्रत्यक्षज्ञानवाचित्वा-
द्वाक्यस्यार्थवत्त्वाच्च प्रत्यक्षब्राह्मणविहितेष्टकोद्देशेन मध्यमचिति-
रूपदेशविधानम् । उपधानं तु प्रकरणप्राप्तमाश्रयः । प्रत्यक्षब्राह्मण-
वत्त्वं इष्टकावाचिश्रुतशब्दविनियुक्तमन्त्रोपधेयत्वमित्युक्तमेव भू-
माधिकरणे । न च प्रत्यक्षब्राह्मणवत्त्वस्योद्देश्यविशेषणता, तच्छ-
ब्देन विशिष्टपरामर्शकेन विशिष्टोद्देशोपपत्तेः । अतो मध्यमचि-
तावेवोपधानम् । न चेदं प्राकरणिकविषयं, अविशेषात् ॥ ७ ॥

(८)—प्राग्लोकंपृणायास्तस्यास्सम्पूरणार्थ-
त्वात् ॥ २० ॥

मध्यमायामपि प्राकरणिकेष्टकोपधानानन्तरमेवोपधानं चि-
त्रिण्यादीनां न तु प्राग्लोकंपृणायाः, आगन्तुकत्वात् । न च

“प्रवेद्यास्थोनं यच्छिद्रं तदेतया पूरयति लोकं पृण छिद्रं पृण”
इति वचनेन लोकंपृणायाः पूरणार्थत्वावगमात् तस्या अन्ते नि-
वेशावगतेः ततः प्राङ्निवेशश्चित्रिण्यादीनां, लिङ्गादेव मन्त्रस्य
छिद्रपूरणार्थत्वे अस्य वचनस्य तदर्थत्वविधायकत्वाभावात् ।
कथञ्चिन्मन्त्रस्य तद्विधायकत्वेऽपि इष्टकायास्तदर्थत्वे प्रमाणाभा-
वाच्च । अस्तु वा मन्त्रे छिद्रपूरकत्वस्येष्टकायास्तत्पूरकत्वं वि-
नाऽनुपपत्तेस्तस्या अपि तत्, तथाऽपि तस्य चित्यन्तरेऽपि सा-
वकाशत्वान्न चित्रिण्यादीनामन्ते निवेशन्यायस्य निरवकाशस्य
बाधः । न च लोकंपृणाया अपि प्रत्यक्षब्राह्मणवत्त्वान्मध्यमचि-
तिमात्रविषयत्वं, इतिकरणविनियुक्तत्वेनास्य मन्त्रस्येष्टकावाचि-
श्रुतपदविनियुक्तत्वाभावात् । न च तथाऽपि तत्तच्चित्यवान्तरप्र-
करणपठितत्वे तत्रैव निवेशापत्तेश्चयनमहाप्रकरणपठितत्वे चा-
न्तिमचितावेव निवेशापत्तेः कथं सावकाशत्वमिति वाच्यं, पू-
रणार्थत्वे लिङ्गादेव द्वारभेदेन भेदोपपत्तेस्सर्वविषयत्वादिति प्राप्तं-

चित्रिण्यादीनामन्ते निवेशे लोकंपृणायाश्छिद्रपूरणरूपफल-
स्यैव बाधापत्तेर्वरं पूर्वपठितेष्टकोपधानोत्तरत्वरूपक्रमबाधेन चि-
त्रिण्यादीनां लोकंपृणायाः प्राङ्निवेशः ॥ ८ ॥

(९)—संस्कृते कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात् ॥

अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् ॥ २२ ॥ पूर्वं च
लिङ्गदर्शनात् ॥ २३ ॥ अर्थवादो वा अर्थ-
स्य विद्यमानत्वात् ॥ २४ ॥ न्यायविप्रति-
षेधाच्च ॥ २५ ॥

आधानस्य नैरपेक्ष्येणोत्पत्तिवाक्येऽग्निनिष्पादकत्वावगमात्
 आधानमात्रेणैवाग्निनिष्पत्तिरिति सिद्धत्वादग्नीनामाधानमात्रानन्तर-
 मेवोत्तरक्रतूनां प्रवृत्तिः । पवमानेष्ट्यस्तु यदि भाष्यकारमताद-
 ग्न्यङ्गं तदा सिद्धेऽप्येवाग्निषु स्वोत्तरभाविक्तूपयोगितया संमा-
 र्गवत् संस्कारविशेषाधायकाः । यदि तु वार्तिककारमतादाधा-
 नाङ्गं तदा बृहस्पतिसववदेता अग्नीनां स्थापिकाः इति केषां
 चित्क्रतूनामाधानानन्तरमेव करणेऽपि न पवमानेष्टीनां वैयर्थ्या-
 पत्तिः । “अग्निं वै सृष्टमग्निहोत्रेणानुद्ववन्ति” इति पवमाने-
 ष्टिभ्यः प्रागेवाग्निहोत्रप्रवृत्तिं दर्शयति । अतश्च “आहिताग्निर्न
 क्लिन्नं दार्वभ्यादध्यात्” इत्याद्याहिताग्निव्रतवदेवाधानोत्तरमेव क्रतु-
 प्रवृत्तिरिति प्राप्ते—

भाष्यकारमते तावत् तत्तद्वाक्ये नैरपेक्ष्यश्रवणेऽपि एकस्यो-
 त्पादकत्वमितरस्य संस्कारकत्वमित्यत्र प्रमाणाभावः । प्रत्युत
 पवमानेष्टीनामेव स्वविनियोजकवाक्ये आहवनीयोत्पादकत्वावग-
 तेराधानस्य गुणवाक्यावगताहवनीयोत्पादकत्वं विलम्बोपस्थि-
 तिकम् । न चैवमुभयोरुत्पादकयोर्विकल्पः, “सद्यो निर्वपेत् द्वाद-
 शरात्रिष्वनुनिर्वपेत्” इत्यादिकालविधिवशादेव समुच्चयसिद्धेः ।

वार्तिकमते तु साङ्गस्यैवाधानस्योत्पादकत्वात् न तदभा-
 वेऽग्निसिद्धिः । न च स्थापकत्वं, बृहस्पतिसववत् पवमानेष्टी-
 नामाधानप्रयोगबहिर्भावेऽपि तद्वद्वाधानकरणकभावनाबहिर्भाव-
 स्याश्रुतत्वेन स्थापकत्वकल्पनानुपपत्तेः । अतः पवमानेष्टिव्यति-
 रेकेणाहवनीयनिष्पत्तेरभावात् तदनन्तरमेवाग्निहोत्रादीनि । आहि-
 ताग्निव्रतेषु तु आधानोत्तरमेव पुरुषस्याहिताग्निपदवाच्यत्वोप-
 पत्तेस्तदनन्तरं करणम् ।

यत्तु निदर्शनमुक्तं तत् तूष्णीहोमस्य आधानाङ्गभूतस्य स्तु-
त्यर्थं नाग्निहोत्रस्य पूर्वप्रवृत्तिसूचकम् । तूष्णीहोमो हि नाग्निहोत्रहो-
मः प्रमाणाभावात् । नाप्यग्निहोत्रधर्मकः, अर्थवादगतस्य नास्मोऽन-
तिदेशकत्वात् । एतद्धोमस्याप्याधानद्वाराऽग्निप्रयोजकस्याग्निस्-
म्बन्धित्वाविशेषात् प्रायणीयादिपदवदनतिदेशकत्वाच्च । अतोऽ-
पूर्वस्यैव होमस्येयं स्तुतिरिति नाग्निहोत्रस्य पूर्वप्रवृत्तौ लिङ्गम् ।
भिन्नप्रयोगपरिगृहीतानामपि च पौर्वापर्यमात्रं प्रसङ्गाग्निरूपितम् ।
व्यवहिताव्यवहितसाधारण्येन पौर्वापर्यमेवाध्ययार्थं इत्यपि ध्ये-
यम् ॥ ९ ॥

(१०)—सञ्चिते त्वग्निचिद्युक्तं प्रापणाग्निमित्त-
स्य ॥ २६ ॥ कृत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभा-
वात् ॥ २७ ॥ अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् ॥ २८ ॥

‘वर्षति न धावेत्’ इत्यादीन्यग्निचिद्वृत्तान्यामरणं वर्षमात्रं वा
चयने निमित्ते पुरुषार्थतया आधाने निमित्ते आहिताग्निव्रतव-
देव विहितानि । अत्र व्रतपदश्रवणादेवोभयत्रापि सङ्कल्पलक्ष-
णा पुरुषार्थत्वं च वाचनिकफलश्रवणात् द्रष्टव्यम् । तदिदमग्नि-
चिद्वृतं भूतचयनमात्रस्यैव भूताधानवग्निमित्तत्वाच्चयनमात्रे कृते
कर्तव्यमाहिताग्निव्रतवदिति प्राप्ते—

कर्मणि भूत इति चानुवर्तमाने ‘अग्नौ चैः’ इति सूत्रेण क-
र्तरि चिनोतेः किप्रत्ययविधानात् कर्मत्वाद्यन्यथाऽनुपपत्त्या च भा-
वनाक्षेपादग्निकर्मकचयनकरणकभाषनाया एव भूताया निमित्त-
त्वावगतेरग्निशब्दवाच्यस्य च ज्वलनाख्यस्याग्नेः स्वरूपेण चय-
नकर्मत्वाभावाच्चयननिष्पादितस्थण्डिलाधारत्वद्वारा कर्मत्वावगतेः

राधारतायाश्च साङ्ख्यागसमाप्तिं यावदनिष्पत्तेः कृत्वन्त एवाग्नि-
कर्मकवचनकरणकभावनाया भूतत्वावगतेस्तदन्ते एवाग्निचिद्भू-
तानि । अहिताग्निपदे तु यद्यपि कप्रत्ययेन तथैव लक्षणया भाव-
नावगतेस्तस्या एव भूताया निमित्तत्वावगमः तथाऽपि ज्वल-
नाख्यस्याग्नेराधानकर्मत्वस्य स्वजन्यावान्तरापूर्वाधारत्वेनैव वा-
च्यत्वात्तादृशस्य चाधानान्त एव निष्पत्तेस्तदन्त एवाहिताग्नि-
व्रतानि । न ह्यग्राहवनीयत्वादिना कर्मत्वं श्रुतं येन पवमाने-
ष्ट्यन्ते तन्निष्पत्तिदशङ्कयेत ॥ १० ॥

(११) — परेणावेदनादीक्षितस्स्यात्सर्वैर्दीक्षाभि-
सम्बन्धात् ॥ २९ ॥ इष्टयते वा तदर्थं
ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् ॥ ३० ॥ समाख्या-
नं च तद्वत् ॥ ३१ ॥

‘आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिष्यमाणः’ इति दी-
क्षणीयेष्टेस्तावद्दीक्षार्थत्वं लृट्प्रत्ययस्य क्रियार्थायां क्रियायामुप-
पदे विहितस्य श्रवणादवगम्यते । “दण्डेन दीक्षयति मेखलया
दीक्षयति कृष्णविषाणया दीक्षयति” इत्यादिना तृतीययैव दण्डा-
दीनां दीक्षार्थत्वम् । न च दण्डादीनामभिव्यक्त्यर्थत्वं, दीक्षाऽ-
भिव्यक्तेरश्रुतत्वात् अनेकेषु दीक्षयतिपदेषु तल्लक्षणायां प्रमाणा-
भावाच्च । किञ्चादृष्टरूपयमनियमपरिग्रहानुकूलयोग्यतारूपाया
दीक्षाया अभिव्यक्तिर्न तावदनुमित्यात्मिका, दण्डादीनां व्यभिच-
रितत्वात् । नापि स्मरणात्मिका सम्बन्धित्वस्य प्रागज्ञानात् ।
अस्तु वा दीक्षणीयाया एव दीक्षोत्पादकत्वं, तथाऽपि न तदन्ते
दीक्षितधर्मा यमनियमादयः । तत्र ‘दीक्षितोऽसि दीक्षितवादं वद स-

त्यमेव वद माऽनृतम्' इत्याद्यावेदनप्रेषणदण्डादिदानोत्तरमेव यमनियमपरिग्रहविधानात् । इतरथा आवेदनस्यादृष्टार्थत्वापत्तेः । अत एव यमनियमपरिग्रह एव दीक्षेति पार्थसारथिलेखनमप्यपास्तम् । आवेदनप्रेषे दीक्षासम्बन्धोत्तरकालं यमनियमपरिग्रहाभिधानात् स्वयमेव दीक्षाया अदृष्टरूपत्वाभिधानाच्च । अतो दण्डादीनामपि दीक्षार्थत्वात्सर्वान्ते सा । न चैवं नैरपेक्ष्यश्रवणाद्विकल्पापत्तिः अदृष्टार्थतयैकप्रयोगविधिपरिग्रहेण समुच्चयावगतौ अवान्तरकार्ये नैरपेक्ष्योपपत्तेरिति प्राप्ते—

दीक्षणीयावाक्ये 'दीक्षिष्यमाणः' इति लृट्प्रत्ययश्रवणेन तस्या दीक्षार्थत्वं तावदवगतम् । दण्डादीनां हि णिजन्तदीक्षयतिपदश्रवणान्न दीक्षार्थत्वमवगम्यते अपि तु तदनुकूलव्यापारार्थत्वमेव प्रथममवगम्यते पश्चात् तत्सम्बन्धात् प्रयोज्यव्यापाररूपदीक्षार्थत्वं दण्डेन घटं कारयतीत्यादिवत् कथञ्चित्कल्प्येत । न च शीघ्रावगतदीक्षणीययैव कृतार्थत्वान्न दीक्षाया दण्डादिजन्य कल्पनावसरः । सिद्धरूपत्वाच्च दण्डादीनां न क्रियाव्याप्यत्वज्ञानमन्तरेण दीक्षार्थत्वज्ञानसम्भवः । न च प्रथमावगतप्रयोजकव्यापारार्थत्वमेव वचसैव कारयतीत्यादिवत् तर्ह्यस्त्विति वाच्यं, तथात्वे साक्षादीक्षणीयार्थत्वाङ्गीकारे अदृष्टार्थत्वापत्तेः तद्वरं दीक्षायाः फलीभूतयमनियमपरिग्रहोपयोगिदीक्षितत्वज्ञानजनकतयैव दीक्षणीयार्थत्वं दीक्षार्थत्वमेव वाऽङ्गीकर्तुमुचितं अगन्मेति मन्त्रस्य यागफलप्रकाशकतया यागाङ्गत्वमिव । अत एव परम्परासम्बन्धस्य सम्बन्धिविधयैव बोधोपपत्तेर्न लक्षणाऽपि । ज्ञानजनकत्वं च स्मारकविधया । सम्बन्धस्य च मानान्तरादनवगमेषुपि विध्यन्यथानुपपत्त्यैवावगमात् स्मारकत्वोपपत्तिः । तत्तद्विध्यन्तरैरेव च दण्डादीनां धारणकण्डूयनादिरूपक्रियाविधाना-

आक्रियाविष्टानां स्मारकत्वसम्भव इति शङ्कनीयम् । अत एव तत्तत्क्रियार्थानामप्येषां दीक्षाभिव्यञ्जकत्वमप्यानुषङ्गिकम् । अत एव दण्डादीनां दीक्षाभिव्यक्तौ समुच्चयः । अत इष्ट्यन्त एव दीक्षा, तदन्त एव दीक्षितधर्माः 'दीक्षितो न जुहोति, न दीक्षितस्यान्नमश्नीयात्' इत्यादयः । न चैवमावेदनवैथर्यमभिव्यक्तिवैथर्यं चेति वाच्यं, तद्विध्याम्नानबलेन तत्प्रेषपठितधर्माणामेव तदुत्तरत्वप्रतीतेः ॥ ११ ॥

(१२)—अङ्गवत्क्रतूनामानुपूर्व्यम् ॥ ३२ ॥ न
वा सम्बन्धात् ॥ ३३ ॥ काम्यत्वाच्च ॥ ३४
आनर्थक्यान्नेति चेत् ॥ ३५ ॥ स्याद्विद्या-
र्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥ ३६ ॥

काम्यानामुद्भिद्भिर्साक्षादीनां नैमित्तिकानां च भेदनहोमादीनां समिदादिवदेव पाठक्रमात् क्रमे प्राप्ते उपायप्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्राप्ति फलेच्छायाः कारणत्वात् नैमित्तिकानुष्ठानस्य च निमित्ताधीनत्वात्तदनुरोधेनैव क्रमावगतेर्न पाठस्य नियामकता । वस्तुतस्तु यत्रैकप्रयोगविधिपरिग्रहोऽनेकेषां तत्रैव क्रमापेक्षायां पाठादीनां नियामकता । न तु यत्र भिन्नप्रयोगविधिपरिग्रहः । अत एव तादृशस्थले पाठः पारायणादावुपयुज्यते ॥ १२ ॥

(१३)—य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥ ३७ ॥
लिङ्गाच्च ॥ ३८ ॥

स्थिते भिन्नप्रयोगपरिगृहीतानां क्रमानियमे कचिद्वचनात्पौ-
Vol. II.

वर्षयै यथा “एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ञज्योतिष्टोमः य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजते गर्तपत्यमेव तद्भवति” इति । तत्रैतच्छब्दो यद्यपि ज्योतिष्टोममात्रपरामर्शः, तथाऽपि न सर्वसंस्थस्य ग्रहणं, अपि तु अग्निष्टोमसंस्थस्यैव, संस्थान्तराणामन्यशब्देनाभिधानस्याग्निमाधिकरणे वक्ष्यमाणत्वेन तास्वपि ज्योतिष्टोमोत्तरत्वस्यावश्यकत्वात् परिशेषादेवाग्निष्टोमसंस्थस्य पूर्वं करणसिद्धेः अत एवातिरात्रसंस्थाकस्य ‘अतिरात्रमेके प्रथममाहरन्ति’ इति वचनादेव प्रथमं करणम् । अस्तु वाऽग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोमपरामर्शकत्वमेवैतच्छब्दस्य, अग्निष्टोमसंस्थामभिप्रेत्यैव ज्योतिष्टोमे सकलधर्मविधानात् । अत एव ‘तस्य नवातिशतं स्तोत्रीयाः’ इत्युपपद्यते, अग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोम एव हि तावत्यस्स्तोत्रीयाः न संस्थान्तरयुक्ते । एवं चातिरात्रप्रथमाहारोत्तरमपि अग्निष्टोमसंस्थां कृत्वैवोद्भिदादयः कार्या इति द्रष्टव्यम् ॥

(१४)—अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात् ॥

३९॥ तत्प्रकृतेर्वाऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते ॥ ४० ॥ प्रशंसा वा विहरणाभावात् ॥ ४१ ॥ विधिप्रत्ययाद्वा न ह्यकस्मात् प्रशंसा स्यात् ॥ ४२ ॥

एतच्छब्दार्थे निरूपिते अन्यशब्दार्थो निरूप्यते । अन्यशब्दस्य पूर्वप्रकृतादितरद्यत्सन्निहितं तद्वाचित्वात् संस्थानां च सन्निहितत्वेन तास्वेवाग्निष्टोमोत्तरत्वस्य विधिरिति प्राप्ते—

न तावत्संस्थानां प्रकरणेन सन्निधानं विकृतित्वात् । अ-

धिकारोपि ज्योतिष्टोमस्यैव 'एष वाव' इत्यादिवाक्यशेषे तस्यैव सङ्कीर्तनाच्च । यज्ञानां ज्योतिष्टोमोद्भिदादीनां मध्ये अग्निष्टोम-संस्थाक एव प्रथममित्युक्ते अन्येषामप्युद्भिदादीनां यज्ञपदेनोपादानाच्च । न चैवं संस्थानामयज्ञत्वादग्रहणं तास्वप्याश्रयस्य यज्ञत्वात् । अतश्चाग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोमान्यतद्विकारमात्रे तदुत्तरकालत्वविधिः । न च ज्योतिष्टोमे यज्ञान्तरापेक्षया प्राथम्यमेव प्रकरणानुग्रहाय विधीयतामिति वाच्यं 'एष वाव' इत्यस्यार्थवादत्वेनाविधायकत्वात् । 'अथान्येन' इत्यनेन तृतीयविधिप्रकारलिप्सया यागान्तरेष्वेवाग्निष्टोमपूर्वकालकत्वस्य तदुत्तरकालत्वसमनियतस्य विधानसंभवे प्रकरणबाधस्यादोषत्वाच्च । न च प्रकरणान्तरन्यायेनात्र कर्मान्तरत्वशङ्का 'एष वाव' इत्यनेनार्थवादेनोद्भिदादीनां यज्ञान्तराणां सन्निहितत्वात् । न च तत्रैव कर्मान्तरत्वशङ्का, तस्योत्तरकालत्वाक्षिप्तप्राथम्यस्तावकत्वेनोपादेयत्वसामानाधिकरण्येन विधेयत्वानाक्षेपकतया कर्मान्तरानाक्षेपकत्वात् । अतस्सिद्धमग्निष्टोमसंस्थाकज्योतिष्टोमान्यतद्विकारमात्रे तदुत्तरकालत्वविधिरिति ॥ १४ ॥

(१५)-एकस्तोमे वा ऋतुसंयोगात् ॥ ४३ ॥

सर्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तो-
मानाम् ॥ ४४ ॥

ननु "यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते स तं दोषयति यः पञ्चदशः स तं यस्सप्तदशः स तं य एकविंशः स तम्" इति वाक्यशेषे एकस्तोमकानामेव सङ्कीर्तनात्तेषामेवान्यशब्देन ग्रहणात्तत्रैवोत्तरकालत्वविधिः अक्ताधिकरणन्यायेनोचितेति चेन्न, वाक्य-

शेषस्यान्यथाऽप्युपपत्तेः । यो हि त्रिवृत्स्तोमः प्रकृतावनुष्ठितश्चो-
दकेनान्यं यज्ञक्रतुमापद्यते प्राप्नोति स स्तोमस्तं यज्ञक्रतुं अ-
भ्यस्तत्वादीपयतीति तस्यार्थः । सम्भवति च स्तोमान्तरसत्त्वेऽ-
पि त्रिवृदादेरपि सत्त्वात् अनेकस्तोमकक्रतुदीपकत्वं पुत्रान्तरस-
त्त्वेऽप्येकस्य गुणघत्त्वविवक्षया पितृदीपकत्ववत् ।

वस्तुतस्तु गुणविशेषस्य प्रकृतेऽविद्यमानत्वाव्निगवादिमा-
त्रस्तोमकक्रतौ च त्रिवृदादेरभावेन दीपकत्वानुपपत्तेर्वाक्यशेषस्य
क्रतुविशेषोपस्थापकत्वेऽपि विधौ प्रतिप्रधानावृत्तिन्यायेन सर्व-
विषयत्वप्रतीतेः सन्देहाभावेनाक्ताधिकरणन्यायाभावात् वाक्यशे-
षस्य विधिसङ्कोचकत्वकल्पनावसरः । अतस्त्रिवृदादिग्रहणं ज्यो-
तिष्टोमीयाङ्गमात्रोपलक्षणं तदङ्गमात्रस्य तद्विकृतावभ्यस्तत्वेन त-
द्विकृतिदीपकत्वात् तदुत्तरकालत्वस्तुत्युपपत्तेः । अत एवान्य
पदेन न सौर्यादिग्रहणं तत्र सौमिकाङ्गाभ्यासाभावात्, अत-
स्तद्विकृतिमात्रस्य तदुत्तरकालतोति सिद्धम् ॥ १९ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां
पञ्चमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः.

अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः.

(१)—क्रमको योऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थ-
परत्वाच्च ॥ १ ॥

तदेवं निरूपितेषु क्रमप्रमाणेषूत्तरोत्तरस्य दौर्बल्यं प्रागे-

वास्माभिर्निरूपितम् । सुबोधत्वात् न सूत्रकारेणोच्यते । शिष्या-
नुग्रहार्थं तु क्वचिदुच्यते । श्रुतिविरोधे पाठस्य दौर्बल्यं यथा-
'आश्विनो दशमो गृह्यते तं तृतीयं जुहोति' इति । अत्र पाठात्
"ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति"
इत्येवंविधादाश्विनग्रहणस्य तृतीयस्थाने प्राप्तस्य दशमश्रुत्या
दशमस्थाने अनुष्ठानम् । 'तं तृतीयम्' इति तु पाठप्राप्तानुवाद
एव, प्रवृत्तेः पाठेन बाधात् । एवमर्थेनापि पाठस्य बाधः ।
यथा - 'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति' इति । व्याख्यात-
पूर्वमिदम् ॥ १ ॥

(२)-अवदानाभिघारणासादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृ-

त्त्या स्यात् ॥ २ ॥ यथाप्रदानं वा तदर्थ-

त्वात् ॥ ३ ॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४ ॥

एवं मुख्यक्रमेण प्रवृत्तिक्रमस्य बाधः । यथा-दध्नः पाठा-
दर्थाच्च पूर्वं धर्मा दोहनादयः, पश्चादाग्नेयस्य निर्वापादयः । त-
त्प्रवृत्तिक्रमेण च हविरासादनप्रयाजशेषाभिघारणस्विष्टकृदवदा-
नादीन्यपि कर्तव्यत्वेन प्राप्तानि मुख्यक्रमात् प्रथममाग्नेयस्य का-
र्याणि पश्चाद्दध्नः । प्रधानानां हि पाठादेव प्रथममाग्नेयस्य प-
श्चात् साक्षाद्यस्यानुष्ठानम् । यद्यपि च आसादनादीनां याज्यानु-
वाक्याप्रवृत्तिक्रमात्तादृशानुष्ठानमपि प्रसज्यत इति भूतभाविप्र-
वृत्तिक्रमाभ्यासनियमप्रसक्तौ मुख्यक्रमस्य नियामकत्वमात्रमिति
नेदं विरोधोदाहरणं संभवति । तथाऽप्यन्यदेतादृशोदाहरणं मृ-
ग्यम् । दूषकताबीजं तु मुख्यक्रमे प्रधानप्रत्यासत्त्यनुग्रहः । प्र-
वृत्तिक्रमे त्वङ्गानां परस्परप्रत्यासत्तिः । अतस्तस्य बाधः । अत्र

न प्रधानावदानमुदाहरणं तस्य प्रदानेनैकपदार्थत्वस्य स्थापित-
त्वात् ॥ २ ॥

(३)-वचनादिष्टिपूर्वत्वम् ॥ ५ ॥ सोमश्चैके-

षामग्न्याधेयस्यर्तुर्नक्षत्रातिक्रमवचनात् ॥ ६ ॥

तदन्तेनानर्थकं हि स्यात् ॥ ६ ॥ तदर्थव-

चनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम् ॥ ७ ॥ अय-

क्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालनिर्दे-

शात् आनन्तर्याद्विशङ्का स्यात् ॥ ८ ॥

इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ॥ ९ ॥

आधानप्रकरणे “यस्सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत नर्तुं
पृच्छेन्न नक्षत्रम्” इति श्रुतम् । न च तेन सोमस्याधानानन्तर्यं
विधातुं शक्यं, आनन्तर्यस्याश्रवणात् वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च । अतो
विहितकालानादरमात्रमाधानोद्देशेन विधीयते । ‘सोमेन यक्ष्य-
माणः’ इति त्वनुवादः । तेन ‘दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन
यजेत’ इत्येतद्वाक्यविहितदर्शपूर्णमासोत्तरकालत्वमेव सोमस्ये-
ति प्राप्ते—

आधानमात्रोद्देशेन विहितकालानादरविधाने ‘सोमेन यक्ष्य-
माणः’ इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । आधानकर्तुश्च सर्वस्यापि सोम-
यागाधिकारित्वात् विशेषणस्य व्यावर्त्याभावेन वैयर्थ्यापत्तेः
सोमेनाधानानन्तरं यक्ष्यमाणोऽग्निमित्यर्थावगतिः । न च रथका-
राधानव्यावृत्त्यर्थं विशेषणोपपत्तेः नानन्तर्यकल्पना युक्तेति वा-

कथं 'यक्ष्यमाणः' इत्यद्यतनवाचिप्रत्ययश्रवणेनानन्तर्यस्याकल्पनीयत्वात् रथकाराधानस्यादृष्टार्थत्वेनाग्निमिति द्वितीयानुपपत्तेश्च । रथकाराधाने कालानादरस्य 'यदहरेवैनम्' इति वचनेनैव सिद्धतया तस्य प्रसक्त्यभावेन निवारणीयत्वानुपपत्तेश्च । अतोऽत्र सोमाव्यवहितपूर्वकालीनाधाने निमित्ते विहितकालानादरो विधीयते । कर्तृसमानाधिकरणेन भाष्यकारोदाहृतेन यच्छब्देन निमित्तत्वावगतेः सकलकारकाणामन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च न विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदः । अतश्च सिद्धवन्निर्देशान्यथानुपपत्त्या कल्पितेन विध्यन्तरेण 'उपरि हि देवेभ्यो धारयति' इतिवत् सोमाङ्गतया आधानानन्तर्यं विधीयते ।

अथवा "अपहतपाप्मानः ऋतवः असौ खलु वाव आदित्य उद्यन्नेषां पाप्मानमपहन्ति तस्माद्यदहरेवैनं श्रद्धोपनमेत् अथादधीताथ यजेत" इति वचने 'अथ यजेत' इत्यनेन आधानानन्तर्यं सोमे विधीयते 'यजेत' इत्यनेन सोमस्यैव परामर्शात् । अत एव 'अथादधीत' इत्यनेनाधान एव कालबाध इति वक्ष्यते । अतश्च न निमित्तश्रुत्यन्यथानुपपत्त्याऽपि विध्यन्तरकल्पना । अत एवेष्टिपूर्वत्व एव यदेष्टुत्तरमग्निविनाशादिनिमित्ताधानाव्यवहितोत्तरसोमकरणं तदा सोमे कालानादरविधानोपपत्तेर्न विध्यन्तरकल्पनया विकल्पाङ्गीकरणं युक्तमित्यपास्तम् । प्रत्यक्षविधिनैवापूर्वाधानानन्तर्यस्य विहितत्वात् । न हि 'अथादधीत' इत्यत्र पुनराधानप्रसङ्गोऽस्ति तस्य निमित्तवशवर्तित्वेन तत्र कालानादरविधिवैयर्थ्यात् । अतश्चापूर्वाधानानन्तर्यं एव कालानादरविधानादिष्टिपूर्वत्वस्य सोमपूर्वत्वेन युक्त एव विकल्पः ।

केचित्तु 'सोमेन यक्ष्यमाणः' इति भिन्नं वाक्यं 'नर्तुं

पृच्छेत्' इति भिन्नं, तत्राद्येन प्रकरणात् तृतीयविधिप्रकारे लाघवाच्चाधानोद्देशेन सोमाव्यवहितपूर्वकालता विधीयते सूम-पूर्वकालत्वमात्रविधाने वाक्यवैयर्थ्यात् । अतश्च वाचनिकेन सोमपूर्वत्वेनेष्टिपूर्वत्वस्य विकल्प इत्याहुः । तन्न वाक्यभेदे प्रमाणाभावात् आधानाङ्गभूतसोमपूर्वत्वेन सोमाङ्गभूतेष्टिपूर्वत्वस्य विकल्पापादनायोगाच्च । किञ्चैवमस्मिन्नेव वाक्ये विशिष्टाधानविधिः आधानमात्रविधिर्वाऽस्तु 'सोमेन यक्ष्यमाणः' इत्यस्य 'ऐन्द्रवायवाग्रान्' इतिवदनुवादोपपत्तेः । न चेष्टापत्तिः वसन्तादिवाक्यानां निमित्तार्थत्वापत्तेः । न च यच्छब्दस्य धात्वर्थीश एव विधिप्रतिबन्धकत्वं न विशेषणांशे इत्यत्र प्रमाणमस्ति प्राप्तमात्र एव तस्य प्रतिबन्धकत्वात् । न चास्याधानोत्पत्तिविधित्वे अग्रिमित्येकवचनादाधानस्यैकाग्र्युत्पादकत्वापत्तिः अग्रिगतस्यैकत्वस्य बहुत्वस्य बोद्देश्यगतत्वेन प्रमाणा-न्तरसिद्धसङ्ख्योपलक्षणार्थत्वात् अनेकाग्र्युत्पादकत्वं तु 'आयतनेषु सम्भारान् निदधाति' इत्यायतनबहुत्वविवक्षाबलादित्युक्तं ग्रहैकत्वाधकरणे कौस्तुभे । किञ्चैवं विहितकालानादरः शुद्धाधानेऽपि स्यात् न सोमाव्यवहितपूर्वाधान एव । उत्तराधिकरणवक्ष्यमाणरीत्या कालानादरस्य सोमाङ्गत्वेऽपि च इष्टिपूर्वत्वपक्षेऽपि स्यात् न सोमपूर्वत्वपक्ष एव । अतश्चास्मदुक्तप्रकार एव श्रेयान् । आधानानन्तर्योऽपि न पवमानेष्टिभिर्न वाऽधिकारपशुना व्यवधानं तेषां सोमोपकारकत्वात् । अत एव सोमाधानपक्षे पवमानेष्टीनां सद्य एव करणं सोमेनायक्ष्यमाणस्यैव संवत्सरादिकालाभ्यानात् ॥ ३ ॥

(४)-उत्कर्षात् ब्राह्मणस्य सोमस्स्यात् ॥१०॥

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥ ११ ॥ स-
र्वस्य वैककर्मात् ॥ १२ ॥ स्याद्वा विधि-
स्तदर्थेन ॥ १३ ॥ प्रकरणात्तु कालस्स्यात्॥

एवं स्थिते कल्पद्वये “आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया स सो-
मेनेष्टाऽग्नीषोमीयो भवति यदेवादः पौर्णमासे हविः तत्सहर्षेण
निर्वपेत्” इति वचनेन ब्राह्मणकर्तृकत्वे निमित्ते एकदेशोत्कर्षेण
समस्तदर्शपूर्णमासोत्कर्षप्रतीतेः ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव । न
हि समस्तयागसाध्यत्वेन श्रुतं फलमेकदेशाद्भवितुमर्हति । न
च सोमोत्तरं तन्त्रेण सकृत्क्रियमाणोत्कृष्टहविर्मात्रसहकृतपूर्वया-
गेभ्यः फलसिद्धिः ‘दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन’ इत्यनेन दर्श-
पूर्णमासपदवाच्यसर्वयागोत्तरत्वस्यैव सोमे विहितत्वेन तथा
कल्पनानुपपत्तेः । ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां’ इति तृतीयाबलेन परमा-
पूर्वोत्पत्तेरप्यवगतत्वाच्च । अतः इतरयोः क्षत्रियवैश्ययोः कल्प-
द्वयं इष्टिपूर्वत्वमेव वेत्ति प्रथमः पक्षः ॥

द्वितीयस्तु नैकदेशोत्कर्षेण सर्वदर्शपूर्णमासोत्कर्षः प्रमाणा-
भावात् । साम्नाय्यानाधिकारिणः ऐन्द्राग्नविध्यनुपपत्त्या फल-
वाक्ये सर्वसाहित्यस्याविवक्षितत्वाच्च । अतो यस्य यावत्स्व-
धिकारस्तस्य तावद्भ्य एव फलसिद्धिः । अतश्च ब्राह्मणस्या-
प्युत्कृष्टहविर्भिन्नदर्शपूर्णमासयागकरणोपपत्तेः कल्पद्वयं, उत्कर्षः
परं पौर्णमासीस्थहविर्मात्रस्य विधावविशेषश्रुतस्योद्देश्यपरस्य
पौर्णमासपदस्यार्थवादेन सङ्कोचानुपपत्तेः यदेवेत्यनेन साकल्य-
प्रतीतिश्चेति प्राप्ते—

पौर्णमासीमात्रस्थत्वेनात्र पौर्णमासपदव्यपदेशादाग्नेयस्योभ-
यत्र विद्यमानत्वेन विशिष्य तात्पर्यग्राहकाभावे व्यपदेशानुपपत्तेः
प्रत्युतोपक्रमस्थार्थवादस्यैवाग्नीषोमीयहविर्मात्रतात्पर्यग्राहकस्य स-
त्त्वेन तस्यैवात्कर्षः । यदेवेत्यनेकापेक्षं तु वचनं उपांशुयाजस्या-
ग्नीषोमदेवताकत्वात् तदभिप्रायेण न विरुद्धयते । अत्र च सो-
मोत्तरकालत्वविधौ उद्देश्यसमर्पकं पदं समभिव्याहृतसर्ववाचि-
तच्छब्द एव । न त्वदःपदम्, अग्नीषोमपदं हविःपदं वा ।
तस्यार्थवादस्थत्वेन पौर्णमासपदवत्तच्छब्दार्थतात्पर्यग्राहकत्वात्
विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च । उद्देश्यतावच्छेदकमपि च
नाग्नीषोमदेवताकहविष्टं, तथात्वे यागे उत्तरकालताया अङ्गताऽना-
पत्तेः । नापि तदेवताकयागत्वं तदेवताकप्रकृतयागत्वं वा त-
देवताकत्वस्य विशेषणत्वे तद्विकृतौ देवतान्तरयुक्तायां सोमो-
त्तरत्वस्यातिदेशानापत्तेः । उपलक्षणत्वे च विष्णुप्रजापतिदेव-
त्वस्याप्युपांशुयाजस्य सोमोत्तरत्वापत्तेः । किन्त्वग्नीषोमदेवता-
निष्ठकारणतानिरूपितकार्यतावच्छेदकीभूतो यस्तदपूर्वसाधनताव-
च्छेदकव्याप्योधर्मस्तद्वत्त्वम् । अस्ति हि ब्रीहियवादिवैकल्पिक-
साधनस्थले व्यभिचारपरिहारायाग्नेयत्वोपांशुयाजत्वादिव्याप्यो
धर्म इत्युक्तं तेषामर्थाधिकरणे कौस्तुभे । तस्य यद्यपि नान्य-
त्रावघातादिसंस्कारविधायुद्देश्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टत्वं गौरवा-
त्, तथाऽप्यत्रार्थवादवशात् तस्योद्देश्यत्वाविघातः । अतश्च वि-
ष्णुप्रजापतिजन्यतावच्छेदकव्याप्यधर्मयोर्व्यापकधर्मोपांशुयाजत्व-
स्य च स्वव्याप्यस्याप्यग्नीषोमजन्यतावच्छेदकत्वाभावात् नोद्दे-
श्यतावच्छेदकत्वम् । अग्नीषोमीयपुरोडाशे तु अपूर्वसाधनताव-
च्छेदकीभूतस्याग्नीषोमीययागत्वस्यैवाग्नीषोमजन्यतावच्छेदकत्वा-
त्स्वव्याप्यत्वाच्च नोद्देश्यतावच्छेदकत्वव्याघातः । तत्तद्विकृतौ

देवतान्तरयुक्तायां तु तत्तद्विकृतित्वस्यैव तत्तद्वताजन्यताव-
च्छेदकस्य तत्तद्व्याप्यधर्मस्थानापन्नतयोक्तविधव्याप्यत्वसत्त्वाज्ञो-
द्देश्यतावच्छेदकत्वव्याघात इति ध्येयम् । अत्र चानुपादेयगुणयो-
गेऽपि न कर्मान्तरत्वाशङ्का, दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितत्वात् ॥ ४ ॥

(५)—स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥ १५ ॥

अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात् ॥ १६

पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमाद्वाह्यणस्य वचनात् ॥

१७ ॥ एकं शब्दसामर्थ्यात् प्राक् कृत्स्न-

विधानात् ॥ १८ ॥

एवं 'यस्सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्निमादधति नर्तुं पृच्छेन्न न-
क्षत्रम्' इत्यनेन विधीयमानः कालानादरोपि प्रकरणादाधानोद्देशो-
नैव विधीयते न तु सोमोद्देशेन अङ्गगुणविरोधन्यायेनोपकार-
के आधान एव कालबाधस्य न्याय्यत्वाच्च । तेन स्वकाले
सोमं कुर्वता अव्यवहितपूर्वमाधाने क्रियमाणे नाधानकालप्रती-
क्षा कार्या इति प्राप्ते—

अस्यामेव शाखायां 'यदहरेवैनं श्रद्धोपनमेदथादधीत' इति
वचनान्तरेणाधानमात्रे कालानादरस्य विहितत्वात्तत्त एव सो-
मव्यवहितपूर्वमाधानेऽपि कालानादरप्राप्तेरनेन वाक्येन स्ववा-
क्योपस्थितस्य सोमस्यैवोद्देश्यवाचकपदकल्पनयोद्देश्यत्वमिति
तस्यैव कालानादरः । यत्तु शतपथे 'अपहतपाप्मानो वा' इ-
त्यादिष्वचनेनोभयोरपि कालानादरविधानं तच्छाखान्तस्त्वादा-
धानकालबाध इव न दोषः ।

वस्तुतस्तु तत्र अथ यजते' इति वचनेनाश्रानानन्तर्य-
मेव सोमस्य विधीयते 'अथादधीत' इति पूर्ववचनेन त्वाधान
एव कालबाध इत्युक्तमेव । अत्र च 'अर्धमन्तर्वेदि' इतिवत्
लक्षणया विहितकालमात्रस्यानादरविधानात् पौर्णमास्यादिपूर्व-
णोऽप्यनादर इति केचित् । नन्वयाम्नानवैयर्थ्यात्तु वाक्यभेद-
मप्यङ्गीकृत्य ऋतुनक्षत्रमात्रानादर एव । अन्यथा पञ्चाहत्वादे-
रपि बाधापत्तेरिति तत्त्वम् ॥ ५ ॥

(६)—पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ॥

१९ ॥ आज्यमपीति चेत् ॥ २० ॥ न

मिश्रदेवतत्वादैनद्राग्रवत् ॥ २१ ॥*

(७)—विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा

विकृतिः तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥ २२ ॥

द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ॥ २३ ॥ वच-

नाद्वैककाल्यं स्यात् ॥ २४ ॥

'य इष्ट्या' इति वचनेन न तावत्प्रकृतीष्टौ पौर्णमास्यादिकाल-
विधिः 'पक्षान्ता उपवस्तव्याः पक्षादयोऽभियष्टव्याः' इत्यादिव-

* अत्र—'पुरोडाशस्त्वनिर्देशे' इत्यादि सूत्रान्तराश्रयणेन भाष्यकारा-
दिभिः सर्वस्याप्युपांशुयाजस्योत्कर्षादङ्गानिरासपरत्वेनाधिकरणान्तररचनया योऽर्थः
प्रतिपादितः सोऽत्र 'अतश्च विष्णुप्रजापती' (210 पु. 14 प.) इत्यनेन ग्र-
न्थेन प्रसङ्गादुक्त इति न पृथक्पूज्यपादैस्सूत्रलिखनेन प्रदर्शितः—इति शम्भु-
महोदयम् ॥

चनैस्तस्याः प्रतिपत्कालत्वविधानात् । अत एव 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत' इत्यादिवचनेषु पौर्णमास्यादिशब्दावपि आरम्भद्वारकौ पर्वप्रतिपत्समुदायलक्षकौ वा । अत एव प्रकृतौ द्वयहकालत्वं प्राकरणिकम् । अतश्चेदमनारभ्याधीतं वचनं विकृतीष्टिविशेषपरम् । विकृतिपशुपरं च । अग्नीषोमीयस्यौपवसथ्येऽहनि विहितत्वात् । अतिदेशप्राप्तोऽपि च विकृतौ पौर्णमास्यादिकालो यथा पौर्णमासीविकाराणां पौर्णमास्यां करणं अमावास्याविकाराणां चामावास्यायां करणमित्येवं व्यवस्थया प्राप्तानामव्यवस्थार्थं तथा साङ्गानां तासां पौर्णमास्यादिकालविधानादातिदेशिकद्वयहकालत्वबाधनार्थमपि । न च तत्तद्विकृतीनां तद्विधावेव प्रयोगस्य प्राप्तत्वाद्वा प्रयोगविध्यभावेन प्रधानमात्र एव पौर्णमास्यादिकालविधानोपपत्तेः प्रतिपत्कालत्वादिबाधेऽपि चतुर्दश्यामन्वाधानकरणेन प्राकृतद्वयहकालत्वबाधे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । कालस्य प्रयोगान्वयितया प्राप्तप्रयोगसम्बन्धित्वेन विधानादन्वाधानेऽपि पौर्णमास्यादिकालकत्वस्यौपदेशिकत्वात् । अतस्साङ्गमपि विकृतिप्रधानं पौर्णमास्यादिकाले कर्तव्यम् । तत्र पूर्णपर्वणि अपराहसन्धौ वा विकृतिं कृत्वा प्रकृतेरन्वाधानं निर्विवादमेव । अन्वाधाने प्रातःकालस्तूपदिष्टोऽपि अङ्गुणत्वादातिदेशिकेनापि विकृतिप्रधानाङ्गप्रातःकालेन बाध्यते । पूर्वाह्नसन्धावपि औदयिकपर्वणः प्रकृत्यवरुद्धत्वात् पूर्वपर्वण्येवोपदिष्टपर्वकालत्वानुरोधेनातिदेशप्राप्तप्रातःकालं द्वयहकालत्वं च बाधित्वा विकृत्यनुष्ठानं ततः प्रकृत्यन्वाधानमिति बोध्यम् । एवं सोमेऽपि पूर्वशुरेवाधिककालव्याप्तिलाभात् ।

यत्तु धूर्तस्वाम्यादिभिर्याज्ञिकैरावर्तनतत्पूर्वसन्ध्योः प्रकृत्य-

नुष्ठानानन्तरं सन्धिदिन एव विकृत्यनुष्ठानं पौर्णमास्यादिशब्दानां पर्वान्त्यक्षणवचनत्वात् । “यः परमो विप्रकर्षस्सूर्याच्चन्द्रमसोस्सा पौर्णमासी । यः परमस्सन्निकर्षस्सा अमावास्या” इति गोभिलसूत्रात् । अतश्च सन्निकर्षविप्रकर्षक्षणावच्छिन्नाहोरात्रस्यैव पौर्णमास्यमावास्यापदवाच्यत्वात्तस्य च पूर्वाह्नसन्धौ द्वितीयदिन एव सत्त्वात् तत्रैव विकृत्यनुष्ठानं, तदपि न प्रकृतेः पूर्वं तस्याः द्वयहकालत्वेन विकृतौ सप्रज्ञसिद्धयापत्तेः । अतोऽगत्या प्रातःकालबाध एवेत्युक्तम् । तत्र “सोमस्य वै राज्ञोऽर्धमासस्य रात्रयः पत्नय आसन्तासाममावास्यां च पौर्णमासी च नोपैत्” इत्याद्यर्थवादादापामरप्रसिद्धेः ज्योतिःशास्त्रादिवशाच्च पौर्णमास्यादिशब्दानां तिथिवचनत्वात् न हि सूर्याच्चन्द्रमसोः परमसन्निकर्षविप्रकर्षक्षणावच्छिन्नाहोरात्रवाचित्वे पौर्णमास्यादिशब्दानां “पर्वणो यश्चतुर्थौशः आद्याः प्रतिपदस्त्रयः” इत्यादेर्व्यवहारस्य द्वैधे पूर्वविद्धापरविद्धाग्राह्यत्वत्याज्यत्वादिव्यवहारस्य च कथमप्युपपत्तिस्सम्भवति, द्वैधस्यैवाप्रसक्तेः । अतस्तिथिपरा एवैते शब्दाः । तिथिर्नाम अमासंज्ञकचन्द्रकलाव्यतिरिक्तचन्द्रकलानां मध्ये एकैकस्याः कलायास्सूर्यमण्डले नाद्यावयवविप्रकर्षादारभ्य अन्त्यावयवविप्रकर्षः आद्यावयवसन्निकर्षादारभ्यान्त्यावयवसन्निकर्षो वा यावता कालेन जायते तावान्कालो यथाक्रमं शुक्लकृष्णपक्षगतः प्रतिपद्वितीयादिशब्दप्रतिपाद्यः ॥

अमा षोडशभागेन देवि प्रोक्ता महाकला ।

संस्थिता परमा माया देहिनां देहधारिणी ॥

अमादिपौर्णमास्यन्ता या एव ज्ञानिनः कलाः ।

तिथयस्तास्समाख्याताः षोडशैव वरानने ॥

तत्र पक्षावुभौ मासश्शुक्लकृष्णौ क्रमेण हि ।

चन्द्रवृद्धिकरश्शुक्लः कृष्णश्चन्द्रक्षयात्मकः ॥

पक्षत्याद्यास्तु तिथयः क्रमात्पञ्चदशैव ताः ।

दर्शान्ताः कृष्णपक्षे तु पूर्णिमान्ताश्च शुक्लकाः ॥

इत्यादिवचनात् । अत एव तिथिशब्दः प्रतिपदादिशब्दाश्च कलास्वेव शक्ताः । काले तन्निरुद्धलक्षणयेति ध्येयम् । एवं च पौर्णमास्यमावास्याशब्दावपि न योगेनान्तिमक्षणवचनौ तदव-
च्छिन्नाहोरात्रविषयौ वा । गोभिलसूत्रमप्युक्तविधिसन्निकर्षवि-
प्रकर्षकालोपलक्षणमेव व्याख्येयम् । तत्सिद्धं न विकृतीनां
द्वयहकालत्वमिति ॥ ७ ॥

(८)—सान्नाय्याग्नीषोमीयविकारा ऊर्ध्वं सोमात् प्रकृतिवत् ॥ २५ ॥

‘नासोमयाजी सन्नयेत्’ इत्यसोमयाजिनस्सान्नाय्यपर्युदासः
तेन तस्याप्यग्नीषोमीयवत् सोमोत्तरत्वमेव । अतस्तदुभयवि-
कारेष्वपि तदेवत्येष्वन्यदेवत्येषु वा सोमोत्तरत्वमेव न ह्यत्रा-
सोमयाजिनोऽधिकारपर्युदासो येन विकृतौ नातिदिश्येत । कर्तृ-
सामानाधिकरण्यात्तु यागकर्तृत्वपर्युदास एव । अतश्च युक्तोऽ-
तिदेशः । अत्र च दैक्षस्य नोदाहरणत्वं औपदेशिकसोम-
प्राकालत्वविधानात् । तद्विकाराणां च प्रकृतावनङ्गत्वान्न सो-
मोत्तरत्वनियमः । न चान्वाहार्यस्वैव प्रकृतावभावेऽपि प्रकृति-
प्रकृतितो ग्रहणमिति वाच्यम् । अपेक्षितविषय एव तथाग्रहणेन
सोमोत्तरत्वस्यानपेक्षितत्वात् । वस्तुतस्तु अपेक्षाया उपायान्त-

रेणापि निवृत्तमुपपत्तेः नान्वाहार्योऽपि ग्रहणम् । अन्यथा पितृमेधविकारे होतृवरणस्याप्यतिदेशापत्तेः । न चैवं दैक्षविकाराणामनिर्दिष्टकालविशेषाणामौपसथ्यकालकत्वापत्तिः । तस्याङ्गत्वनिबन्धनतया तदभावेऽप्राप्तेः । अतस्तद्विघ्नविकाराणां सोमोत्तरत्वमेव ।

यत्तु याज्ञिकानां प्रागप्यनुष्ठानं तच्छाखान्तरे साम्ना-
य्याग्नीषोमीययोः प्रागपि विधानादवगन्तव्यम् । एवमैन्द्रा-
ग्नविकाराणामपि सोमप्राक्कालत्वमेवेति सूत्रं तस्याप्युपलक्षणमिति
केचित् । वस्तुतस्तु 'असन्नयतः' इत्यस्य पष्ठ्यन्तस्य कर्तृसामा-
नाधिकरण्याभावादधिकारिविशेषणत्वस्यैव प्राधान्यावगतेस्तस्य
चानतिदेशात् युक्तं तद्विकाराणामनियतकालत्वम् ॥ ८ ॥

(९)—तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् ॥

सोमे इष्टिपूर्वत्वमाधानाव्यवहितोत्तरत्वं च वैकल्पिकमङ्गम् ।
अतस्तद्विकारेषु तथैवातिदेशप्राप्तावपि इष्टिपूर्वत्वमेव । 'एष वाव
प्रथमः' इति वाक्यविहितज्योतिष्ठोमोत्तरत्वबलेनाधानाव्यवहितो-
त्तरत्वस्य तेषु कर्तुमशक्यत्वात् । अतश्चाधानानन्तर्यस्य प्रकृ-
त्यवरुद्धत्वेनानतिदेशादिष्टिपूर्वकत्वमेवातिदेशिकं तेष्विति सिद्धं
क्रमस्य षट्प्रमाणकत्वम् ॥ ९ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः.

अध्यायश्च समाप्तः.

अथ षष्ठे अध्याये प्रथमः पादः.

(१)—द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः ॥ १ ॥ असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥ २ ॥
प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसम्बन्धः तस्मात्कर्मोपदेशस्स्यात् ॥ ३ ॥

एवं सक्रमे प्रयोज्यवर्गे निरूपिते अधुना तत्राधिकारी निरूप्यते—तत्राधिकारो नाम फलभोक्तृत्वसमानाधिकरणं कर्तृत्वम् । श्राद्धादौ पित्रादेः ऋत्विजां चाधिकारव्यावृत्त्यर्थं विशेषणद्वयम् । न चैवं जातेष्टौ पितुः फलभोगाभावादधिकारानापत्तिः, सत्यप्यकरणे प्रत्यवाये करणस्य पूतत्वादिफलकत्वेन पापक्षयफलकत्वाभावादिति वाच्यम् । प्रवृत्तिप्रयोजकफलेच्छासमानाधिकरणकर्तृत्वस्यैव विवक्षितत्वात् जातेष्टिश्राद्धादावपि फलस्यान्यनिष्ठत्वेऽपि तदिच्छाया यजमाननिष्ठत्वादधिकाराविघातः । ऋत्विजामपि यजमानस्य फलं भूयादितीच्छायास्त्वनिष्ठकर्तृत्वसमानाधिकरणत्वादधिकारापत्तिरतः प्रवृत्तीत्युक्तं दक्षिणाप्राप्तिर्मे भूयात् इतीच्छाया एव ऋत्विक्प्रवृत्तिजनकत्वेनोक्तविधेच्छायाः प्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावात् । अयं चाधिकारो विध्याक्षिप्तस्वेष्टसाधनत्वसमानाधिकरणस्वकृतिसाध्यत्वबललभ्यत्वाद्विधिप्र-

माणकः । अयमैवाधिकारविधिरित्युच्यते । तत्र चाधिकारस्य इष्ट-
 रूपप्रवृत्तिफलघटितत्वात् तदेवेष्टरूपं फलं भावनायामस्ति न
 वेति प्रथमं विचार्यते । तत्र भावनाया भाव्यापेक्षायां पदश्रु-
 त्या धात्वर्थस्यैव सर्वत्र भाव्यत्वं न स्वर्गादेः, अपितु तस्य साध-
 नत्वमेव योग्यत्वात् पश्वादेरिव स्वर्गशब्दस्यापि 'चन्दनं स्वर्गः'
 इत्यादिप्रयोगात् द्रव्यवाचित्वमेव सुखविशेषभोगयोग्यदेशविशे-
 षवाचित्वग्राहकस्यान्यपरत्वाच्च । कामशब्दस्त्वार्जनकामनानुवा-
 दः । अथ वा स्वर्गकामशब्दः कर्तृविशेषमेव यागाङ्गत्वेन वि-
 दधत् विशेषणीभूतां कामनामपि तदङ्गत्वेन विधत्ते इति न
 कश्चिद्विरोधः । न च विधिश्रुत्यनुरोधादिष्टभाव्यकत्वावगमः ।
 विधेः प्रवृत्तिजननस्वरूपयोग्यत्वस्वैव वाच्यत्वेन फलोपधाननै-
 यत्याभावात् प्रवृत्तिविरहेऽप्यरण्यस्थदण्डवत् विधेः प्रवृत्तिजन-
 कत्वोपपत्तेः । न हि फलोपहितप्रवृत्तिजनकत्वं विध्यर्थः, विधिशत-
 श्रवणेऽपि केषां चित्प्रवृत्त्यदर्शनात् । अत एव प्रवृत्तिविषयस्ये-
 ष्टसाधनत्वाक्षेपकत्वमपि विधेर्न ग्रामाणिकम् । यदि तु प्रवृ-
 त्तिस्वरूपयोग्यत्वमात्रोक्तौ वाक्यस्य वैयर्थ्यापत्तिश्शङ्क्येत, ततो
 यागस्य समानपदश्रुत्या भाव्यत्वावगमेऽपि यागे भ्रमप्रमासाधा-
 रणप्रवृत्तिकारणेष्टसाधनत्वज्ञानस्यैवाक्षेपात् भ्रमात्मक्रेष्टसाधनता-
 ज्ञानादेव प्रवृत्तिसिद्धेर्नेष्टसाधनत्वाक्षेपकत्वम् । अथवाऽस्तु 'स्त्री-
 कामः प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इतिवत् स्वर्गकामनाया अपि निमित्त-
 त्वम् । ततश्च निमित्ते नैमित्तिकाकरणे प्रत्यवायमात्रं न तु क-
 रणे किञ्चिदिष्टम् । अकरणे प्रत्यवायमिथैव च पुरुषप्रवृत्ति-
 सिद्धेर्न विधिवैयर्थ्यमपि । सर्वथा यागस्यैव भाव्यत्वेनेष्टसाध-
 नत्वाभावात् न प्रवृत्तिप्रयोजकप्रवृत्तिविषयजन्यफलेच्छासमाना-
 धिकरणकर्तृत्वरूपाधिकारसिद्धिरिति प्राप्ते—

न प्रवृत्तिस्वरूपयोग्यत्वमात्रं विध्यर्थः वैयर्थ्यापत्तेः । नापीष्टसाधनत्वानुमितेर्भ्रमत्वं ज्ञानानां स्वतः प्रमाणत्वेन बाधकं विना भ्रमत्वानुपपत्तेः, अतश्चोत्सर्गसिद्धप्रमात्वनिर्वाहार्थं यागे इष्टसाधनत्वं विषयोऽपि वक्तव्य एवेति भावनायामिष्टभाव्यकत्वं यागकरणकत्वं चापन्नमेव । यदपि कामनाया निमित्तत्वमङ्गीकृत्य विधेरकरणजन्यप्रत्यवायाक्षेपकत्वेन प्रवर्तकत्वमित्युक्तं, तन्न—कामनायाः प्रवृत्तिजनकत्वेऽपि निमित्तत्वे प्रमाणाभावात् । 'स्त्रीकामः' इत्यादावपि न तस्याः निमित्तत्वं प्रायश्चित्ताकरणे प्रत्यवायान्तरप्रसङ्गात् । अपि तु प्रमाणान्तरसिद्धकामनाजनितप्रत्यवायनाशार्थत्वं मेवेति तत्रापीष्टसाधनत्वाक्षेपकत्वमेव विधेः । अत एव सर्वत्र नैमित्तिकस्थले अकरणे प्रत्यवायाक्षेपकत्वापेक्षया लाघवादिष्टसाधनत्वमेव विधिनाऽऽक्षिप्यते इति तद्वशाद्भावनाया इष्टभाव्यकत्वसिद्धिः । यथा चैवं सति नैमित्तिकस्थले पापक्षयभाव्यकत्वं तथा यावज्जीवाधिकरणे निरूपितम् । तच्चेष्टं स्वर्गपुत्रादि स्वर्गकामादिपदैस्समर्प्यते योग्यत्वात् कामशब्दयोगाच्च । कामनाऽपि स्वरसतः फले, द्रव्ये त्वौपचारिकी । अत एव स्वर्गशब्दोऽपि श्रुतिस्मृतिपुराणादिवशात् दुःखासम्भिन्नसुखभोगयोग्यदेशविशेषवाची आकृत्यधिकरणन्यायेन तादृशसुखमात्रवाची वा, न तु चन्दनादिवाची तत्र ह्याधुनिकप्रयोगस्यौपचारिकत्वात् । अत एव स्वर्गकामादिपदमपि लक्षणया स्वर्गपरं प्रथमा च कर्मत्वपरेति भावनान्वयोपपत्तेः नान्योपसर्जनत्वेन स्वर्गस्य तदनन्वयाशङ्का । स्वर्गकामो वा अधिकारित्वेनान्वीयत इति स्वर्गादिवाचकद्वितीयान्तपदाध्याहारेण तदन्वय इति केचित् । तन्न—फलापेक्षायाः प्राथमिकत्वात् लक्षणाया अध्याहारापेक्षया लघुत्वाच्च । एवं च बलवत्तरविधिश्च्युत्याद्य-

नुरोधेन स्वर्गादेरेव भाव्यत्वावगतेस्सामान्यप्रवृत्ता पदश्रुतिरपि यागादेः करणत्वमेव लक्षणया प्रतिपादयतीति सिद्धः उक्ताधिकारः । अत्र चोक्तविधेच्छाफलान्यतरसमानाधिकरणं कर्तृत्वमधिकार इति बोध्यम् । तेन नित्यस्थले पापक्षयेच्छायाः प्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावेऽपि नाधिकारविघातः ॥ १ ॥

(२)—फलार्थत्वात् कर्मणश्शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥ ४ ॥ कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् विधिः कात्स्न्येन गम्यते ॥ ५ ॥

सिद्धे अधिकारे स केषामिति चिन्त्यने । तत्र स्वर्गका-
मत्वाविशेषाच्चेतनमात्रस्याधिकारः । न च तिरश्चां स्वर्गादिका-
मनासम्भवः, परकीयेच्छाया अप्रत्यक्षत्वेन तदभावनिश्चयानुप-
पत्तेः । इयेनादीनामष्टम्युपवासादिदर्शनेन तदनुमानाच्च । न च
साङ्गकरणासामर्थ्यादनधिकारः, शक्यमात्रस्यैव करणोपपत्तेरिति
प्राप्त—

भावनाया अंशत्रयान्वयोत्तरं पश्चाद्विधिवलेनाधिकारिक-
ल्पनात् पूर्वावगतसाङ्गप्रधानानुष्ठानसमर्थ एवाधिकारा अतश्चा-
समर्थत्वादविद्यत्वादद्रव्यत्वान्न तिरश्चामधिकारः । विष्णुकर्म-
णाद्यसमर्थत्वाच्च न पङ्कन्धबधिरमूकादीनाम् । देवादीनां तु वि-
ग्रहाद्यभावादेव नाधिकारः । ऋष्यादीनां तु अनादित्वात्संसार-
स्य प्रवरवरणादौ ऋष्यन्तरस्यापि सम्भवादधिकारोऽस्त्येवेति
भाष्योक्तमनधिकारप्रतिपादनमनादरणीयम् ॥ २ ॥

(३)—लिङ्गविशेषनिर्देशात् पुंयुक्तमैतिशायनः॥

तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥ ७ ॥
जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात्
स्त्रयपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् ॥
८ ॥ चोदितत्वाद्यथाश्रुति ॥ ९ ॥ द्रव्य-
वत्त्वात् पुंसां स्याद्द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रया-
भ्यां, अद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैस्समानयोगि-
त्वात् ॥ १० ॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥
११ ॥ तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ॥ १२ ॥
फलोत्साहाविशेषात् ॥ १३ ॥ अर्थेन च
समवेतत्वात् ॥ १४ ॥ क्रयस्य धर्ममात्र-
त्वम् ॥ १५ ॥ स्ववत्तामपि दर्शयति ॥

ऋतुषु पुंस एवाधिकारः? उत स्त्रिया अपीति चिन्तायां 'स्व-
र्गकामः' इति पुल्लिङ्गश्रवणात् पुंस एव । न हीदमधिकारिविशे-
षणं कर्तृसमानाधिकरणत्वेन तद्विशेषणस्यास्याश्रुताधिकारिवि-
शेषणत्वानुपपत्तेः । अतश्चाख्यातोपात्तैकत्ववदेव पुंस्त्वस्या-
प्यस्य विवक्षा नानुपपन्ना । किञ्चाद्रव्यत्वादपि स्त्रिया नाधिकारः

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनास्मृताः ।

यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥

इति वचनान् । 'शतमतिरथं दुहितृमते दद्यादार्षेयविवाहे
गोमिथुनम्' इत्यादिना पित्रा भर्त्रे मौल्येन दासवत् विकी-

तत्वाच्च । अत एव 'गर्भेणाविज्ञातेन हतेन भ्रूणहा' इति यज्ञसाधनपुंगर्भहननशङ्कया भ्रूणपदवाच्ययज्ञहन्तृत्वलिङ्गमवकल्पते । अन्यथा स्त्रीत्वेन विज्ञातेऽपि यज्ञहन्तृत्वाविशेषात् अविज्ञातपदमनर्थकं स्यात् । तथा आत्रेयीं हत्वा भ्रूणहेति लिङ्गम् । आत्रेयीं सगर्भा । अतः पुमान्वाधिक्रियते इति प्राप्ते—

यद्यपि कर्तृविशेषणं पुंस्त्वं तथाऽपि प्रमाणान्तरेण स्त्रियाः अधिकारावगतेर्विधिलाघवानुरोधेन साधुत्वार्थमवयुत्यानुवाद एव पुंस्त्वं, यथा 'वसन्ते ब्राह्मणः' इत्यादौ । प्रकृते त्वनपेक्षितत्वाभास्य कर्तृविशेषणत्वं अपितु योग्यत्वादधिकारिविशेषणत्वमेव ततश्च तस्य फलं प्रत्यपि प्राधान्यादुद्देश्यत्वेन तद्विशेषणाविवक्षा ।

वस्तुतस्तु प्रथमापेक्षितत्वात् स्वर्गकामादिपदस्य फलपरत्वमेवेति क्व पुंस्त्वस्य विवक्षाप्रसक्तिः । न चाद्रव्यत्वं, कर्तृनादिभिरर्जनसम्भवात् पित्रादिदत्तस्य दायस्य वा स्मृतिषूक्तत्वाच्च । 'धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या' इति स्मृत्या पत्यार्जितस्याप्युभयसाधारणत्वाच्च । 'भग्नदा वा एताः परगृह्णाणामैश्वर्यमवरुन्धते' इति स्मरणाच्च । 'सं पत्नी पत्या सुकृतेन गच्छताम्' इत्यादिमन्त्रवर्णात् 'पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु' इति स्मरणाच्च पत्न्या अप्यधिकारः । 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति स्मृतेः पत्नीशब्दस्य स्वामित्वाभावेऽनुपपत्तेश्च । यत्तु 'भार्या पुत्रश्च' इति वचनं क्रीतत्वादिवचनं च तत् 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इति वचनान्तरानुसारादस्वातन्त्र्यचपरम् । मौल्यदानं त्वदृष्टार्थं कन्यायां कन्यात्वातिरिक्तस्वत्वाभावस्य वक्ष्यमाणत्वेन तद्दानस्याप्यौपचारिकत्वाच्च । आत्रेयी च अग्निगो-

त्रोत्पन्ना न त्वासन्नगर्भा । सत्यपि च स्त्रियाः कचित्कर्माधि-
कारेऽसति गमकान्तरे जपादिसकलवैदिककर्मानधिकारादविज्ञा-
तलिङ्गदर्शनं पुंवधे प्रायश्चित्तविशेषविधानार्थम् । तस्मात्सिद्ध-
स्त्रियया अप्यधिकारः ॥ ३ ॥

(४)—स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥ १७ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १८ ॥ क्रीतत्वात्तु भक्त्या
स्वामित्वमुच्यते ॥ १९ ॥ फलार्थित्वात्तु
स्वाभित्वेनाभिसम्बन्धः ॥ २० ॥ फलव-
त्तां च दर्शयति ॥ २१ ॥

सिद्धे द्वयोरप्याधिकारे किं दम्पती पृथक्पृथक् यजेयातां
उत सहेति चिन्तायां स्वर्गकामपदोपात्तस्यैकत्वस्य पुंस्त्ववद-
विवक्षितत्वेऽप्याख्यातोपात्तस्य तस्य गुणभूतोपादेयकर्तृगामित्वेन
विवक्षितत्वादेकैकशः प्रयोग इति प्राप्ते—

प्रत्येकप्रयोगे अन्यतरकर्तृकाज्यावेक्षणान्वारम्भणादिपदार्थ-
लोपेन वैगुण्यापत्तेरन्यतरेणान्यतरस्य परिक्रियादिनोपादाने च
फलभोक्तृत्वाभावात् स्वामित्ववाचिपत्नीयजमानशब्दप्रयोगानुप-
पत्तेरङ्गसाकल्यार्थं सहैव प्रयोगः । न ह्याज्यावेक्षणादीनां क-
र्तृसंस्कारकत्वं येन तत्तत्प्रयोगे व्यवस्था लभ्येत क्रतुधर्मत्वात्तु-
भयकर्तृकमेवेक्षणद्वयमदृष्टविधया क्रतोरङ्गम् । यत्र त्वन्यतररो-
गनिवृत्त्यर्थमेव दर्शादिप्रयोगः तत्रेतरस्य पत्नीत्वाद्यभावेऽपि
गुणलोपे चेति न्यायेन परिक्रियाद्युपात्तेतरकर्तृकाज्यावेक्षणेऽपि
न सर्वत्र तथा कल्पनायां प्रमाणमस्ति साहित्यस्य पुण्यफले-

ष्वपि स्मृत्यादिप्रमितत्वात् 'धर्मे च' इत्यादिवाक्यपर्यालोचनया च तयोस्संसृष्टद्रव्यत्वात् विभागप्रतिषेधाच्च सहैव प्रयोगः । अत एवोभयस्वत्वस्य संसृष्टत्वाद्द्रव्यत्यागे दक्षिणादानादौ चोभयोरेव कर्तृत्वम् । यत्तु भाष्ये द्वादशशते षट्पञ्चाशदेकेनापरेणापि तावदेवेत्येवं त्रिभागः कथितः स द्वादशशतस्यैव विहितत्वात्त्राप्युभयोः संसृष्टस्वत्वोपपत्तेरुपेक्षितः । द्वादशशतद्वयनिवृत्तौ वा भाष्यतात्पर्यम् । यदपि तत्स्वारस्यात्पुंस एव त्यागे कर्तृत्वं तस्या अप्यनुमतिद्वारा तदिति कैवाचिन्मतं तत् अनुमतेः फलसम्बन्धाश्रवणात् तद्वारकत्वे प्रमाणाभावेन पूर्वाधिकरणव्युत्पादिताधिकारभङ्गापत्तेरुपेक्षितम् । यत्त्वाख्यातोपात्तमेकत्वं सहाधिकारे नावकल्पत इति तन्न—एकवचनश्रवणादेव दम्पत्योर्व्यासज्यवृत्त्यैकस्यैव कर्तृत्वस्य कल्पनात् । इतरथा कर्तृभेदात् सन्नवद्विवचनाद्यापत्तेः अत एव क्रियाक्षिप्तयोः कर्तृत्वतदाश्रययोर्मध्ये आवश्यकत्वात् कर्तृत्वांश एव शाब्दत्वसिद्धयर्थं लक्षणाभङ्गीकृत्य तत्रैवपार्ष्टिकैकत्वाद्यन्वयः 'क्षौमे वसानौ' इत्यादौ त्वगत्या कचित्तदाश्रयेऽपि अत्र च कर्तृत्वं कृत्याश्रयत्वसमानेयतमखण्डोपाधिरूपं द्रष्टव्यम् । न तु कृत्याश्रयत्वमेव तस्य प्रत्यात्मं कृतिभेदेन भेदात् व्यासज्यवृत्तित्वानुपपत्तेः । तस्मात्सहप्रयोगः ॥ ४ ॥

(५)—द्वयाधानं च द्वियज्ञवत् ॥ २२ ॥ गुण-
स्य तु विधानत्वात् पक्षया द्वितीयशब्द-
स्यात् ॥ २३ ॥

आधानप्रकरणे 'क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्' इति श्रुतम् ।

तेन चाधाने कर्तृद्वित्वविधानात् द्वौ पुमांसौ सखीकौ आधानेऽधिकारिणौ 'एतेन राजपुरोहितौ साम्राज्यकामौ यजेयाताम्' इति वत् । न चात्र 'कुक्कुटावानय मिथुनं करिष्यामि' इति वत् 'पुमान् स्त्रिया' इत्याद्यनुशासनानुरोधेन स्त्रीसद्वितीयतया विरूपैकशेषस्याप्युपपत्तेः वाक्यस्य क्षौमविधिमात्रपरत्वेनाप्युपपत्तावुत्पत्तिशिष्टकर्त्रेकत्वबाधानुपपत्तिरिति वाच्यं, सरूपैकशेषसम्भवे लक्षणापादकविरूपैकशेषस्यान्याय्यत्वात् । तथा हि—औकारस्तावत् द्वित्वं पुंस्त्वं चाभिधत्ते इत्यरूपैकहायनीवत् द्वित्वावच्छिन्ने पुंस्त्वं पुंस्त्वावच्छिन्ने द्वित्वमिति परस्परनियमात् पुंद्वयप्रतीतिस्सुलभा । विरूपैकशेषे तु पितरावित्यादौ मातृत्वादेः कुक्कुटावित्यादौ स्त्रीत्वस्य च प्रत्यायकाभावाल्लक्षणाऽऽवश्यकीति तस्य ततो दौर्बल्यम् । न च भवन्मतेऽप्युपक्रमस्थक्षौमपदे मलिनत्वसादृश्याद्गौणी 'दुक्षुशब्दे' इत्यनुशासनाद्वाऽवयवयोग इति जघन्यवृत्तयाश्रयणमनुवादवैयर्थ्यं उत्पत्तिवाक्यस्थैकवचनस्य साधुत्वमात्रार्थत्वमित्यनेकदोषतादवस्थमिति वाच्यं, क्षौमवाक्य एवोभयविशिष्टाधानविधानाङ्गीकारात् । वसन्तादिवाक्ये तु ब्राह्मणादिकर्तृकत्वे निमित्ते वसन्तादिकालविधानम् । अत एव ब्राह्मणः इत्येकत्वं पुंस्त्वं चाविवक्षितम् । आदधीत इत्यपि च । ब्राह्मणो यदि शूद्रसहित आदधीत तदा वसन्त इत्येवं कादाचित्कब्राह्मणैकत्वानुवादः । तस्मात् द्वौ पुमांसौ सखीकावधिकारिणौ ॥

यत्तु भाष्यादौ सरूपैकशेषसाधकं प्रमाणान्तरमुपन्यन्तं द्वन्द्वापवादत्वादेकशेषस्य द्वन्द्वार्थ एवार्थ इत्यवगम्यते, द्वन्द्वश्च 'युगपदधिकरणे द्वन्द्वो भवति' इति कात्यायनस्मरणात् युगपदधिकरणतावाची । अधिकरणं शब्दप्रतिपाद्योऽर्थः स यत्रानेको युगपदे-

केन पदेन बोध्यते तत्र द्वन्द्वः । तथा च धवखदिरावित्यत्र धव-
पदं लक्षणया खदिरसहितधवपरं इतरसहितधवपरमेव वा । इत-
रन्तु खदिरपदान्निर्णीयते । एवं खदिरपदमपि । सेयं युगपदधि-
करणता । इतरेतरयोगोऽप्ययमेव । अस्मिन्नेवार्थे द्वन्द्वः । चका-
रस्य हि चत्वारोऽर्थाः समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराः ।
तत्र विभक्त्यर्थान्वये परस्परनिरपेक्षत्वेऽपि क्रियान्वये दण्डच-
क्रादिवत् परस्परसापेक्षत्वे सति समत्वं समुच्चयः । अतश्च ने-
तरेतरयोगे न विकल्पे न वा अन्वाचयेऽतिव्याप्तिः । यथा 'अहर-
हर्जयमानो गामश्वं पुरुषं च' इत्यादौ । अन्वाचये तु एकस्य प्रयोज-
कत्वमपरस्य नेति न सामर्थ्यं, यथा काष्ठान्याहर शाकं चाह-
रेति । इतरेतरयोगे तु व्यासज्यवृत्तिविभक्त्यर्थे परस्परसाहित्येना-
न्वयः । यथा 'अग्निश्च सोमश्च देवता' इत्यादौ । अत्र 'धवं च ख-
दिरं च' इत्यादावितरेतरयोगविवक्षायां युगपदधिकरणवचनताऽऽ-
वश्यकी । अन्यथा प्रत्येकं विभक्त्यर्थान्वयेनेतरेतरयोगस्य स-
मुच्चयान्नेदानापत्तेः । अत एव निरपेक्षयोरेकक्रियान्वयित्वं स-
मुच्चय इति तन्त्ररत्नोक्तमपास्तम् । 'अमावास्यायां पौर्णमास्यां
वा यजेत' इत्येकवाक्योक्तविकल्पे अतिव्याप्तेः । इतरेतरयोगसमा-
हारोस्तु साहित्यस्य पदार्थान् प्रति गुणत्वप्रधानत्वकृतो विशेष
इतरेतरयोगत्वं तुल्यम् । एषु चार्थेषु इतरेतरयोग एव द्वन्द्वः ।
अत एव चार्थानामनेकत्वेऽपीतरेतरयोगरूपचार्थे एव द्वन्द्व इति
'चार्थे द्वन्द्व' इति सामान्यसूत्रं महाभाष्यकारादिभिर्विशेषपरतया
व्याख्यातम् । अतश्च युगपदधिकरणतावाचिद्वन्द्वापवादत्वादेक-
शेषस्यापि तद्वाचित्वप्रतीतेः 'वसानौ' इत्यत्र पुंद्वयप्रतीतिरिति ॥

तत्र विरूपैकशेषाङ्गीकारेऽपि स्त्रीसहितपुंसः पुंसहितस्त्रियाश्च

युगपदभिधानोपपत्तेः । न चैवं पुंद्वयं स्त्रीद्वयं चेति चतुष्टयापत्तिः
 धवखदिरद्वयवत् स्त्रीपुंद्वयोपपत्तेः । वस्तुतस्तु—कात्यायनोक्तं
 युगपदधिकरणतावाचित्वं पतञ्जलिभिरेव दूषितम् । तस्यायमाशयः
 धवपदे खदिरपदे च लक्षणायां प्रमाणाभावादितरेतरयोगस्य
 चशब्देनैव तात्पर्यं सति बोधोपपत्तेः । अत एव धवं च ख-
 दिरं चेत्यादौ तात्पर्यानुरोधेन धवखदिरवृत्तिव्यासक्तकर्मत्वे
 लक्षणेत्यपि ध्येयम् । द्वन्द्वे तु विभक्तेरेकत्वादेवेतरेतरयोगो
 लक्षणां विनैव निरवबाधः । यत्तु प्रामित्रयोर्वैरुणयोरिति वेदे
 काचित्कं विग्रहप्रदर्शनं तच्छान्दसम् । अत एव विभक्तेर्व्यासज्य-
 वृत्तिधर्मपरत्वे द्वन्द्व एव तादृशस्थले तात्पर्यग्राहक इत्यपि
 बोध्यम् । किञ्च द्वन्द्वापवादत्वेऽप्येकशेषस्य न तदुत्तरविभक्तेर्व्या-
 सज्यवृत्तिधर्मपरत्वं वचनान्वयस्य विभक्त्यर्थान्वयोत्तरकालीन-
 त्वेन ततः पूर्वमेकशेषत्वग्राहकप्रमाणाभावात् । वस्तुतस्तु एक-
 शेषानुशासनमपि परिभाषामात्रमेव सरूपद्वन्द्वनिराकरणार्थं
 एकप्रातिपदिकार्थस्यैव द्विवचनादिबलेनानेकत्वप्रतीत्युपपत्तेः ।
 विरूपैकशेषे तु तात्पर्यग्राहकानुरोधेनानुशासनिकी औकारे लक्ष-
 णेति विशेषः । अतस्तद्विधा सरूपैकशेषस्यैवाङ्गीकारात् पुंद्व-
 याधिकार इति प्राप्ते—

वसन्तादिवाक्ये 'आदधीत' इत्येकवचनस्य पाक्षिका-
 नुवादत्वापत्तेः ब्राह्मणद्वयकर्तृकाधाने वसन्तप्राप्त्यनापत्तेश्च वस-
 न्तादिवाक्येष्वेवाधानविधानम् । वसानवाक्ये तु एककर्तृत्ववि-
 शिष्टाधाने कर्तृद्वित्वक्षौमोभयविध्ययोगादानुशासनिकीं लक्षणा-
 मङ्गीकृत्य परं विरूपैकशेषोऽधिष्ठानलक्षणया । तस्मिन् द्वित्वा-
 न्वयोऽपि प्राष्ठिको युक्तस्समाश्रयितुम् । अत एव तत्र क्षौम-

मात्रं वसनक्रियोद्देशेन विधीयते । युक्तश्च कृदुपात्तभावना-
यामपि कारकसम्बन्धः । विधायकस्त्वाद्धातिपर एव प्र-
त्ययः । उपक्रमस्थक्षौमपदे श्रुत्यर्थलाभाय च विप्रकृष्टार्थस्यापि
विधायकः । अन्यत्तु सर्वं प्रकरणप्राप्तत्वादनूद्यते । यद्यपि चो-
त्पत्तौ पुंस्त्वश्रवणात् स्त्रियमादाय द्वित्वं न प्राप्यते । तथाऽपि
विशिष्टविधौ गौरवपरिहाराय वसानवाक्ये वाक्यभेदपरिहाराय
च ब्राह्मणादेरधिकारित्वेनैवान्वयाङ्गीकारात् तस्य चोद्देश्यत्वेन
तद्विशेषेण पुंस्त्वस्याविवक्षोपपत्तेः स्त्रियमादाय द्वित्वप्राप्त्यवि-
धातः । द्विवचनं चात्राधिष्ठानानेकत्वमात्रपरम्, तेन पल्लयनेक-
त्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः । अत एक एव पुमान् स्त्रीसद्वितीय
आधाने अधिकारी ॥ ५ ॥

(६) — तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्य-
त्वात् ॥ २४ ॥

स्थिते स्त्रिया सहाधिकारे यत्र तावत्स्वत्वत्यागः श्रुतस्तत्प्रधानं
दक्षिणादानादि तत् द्वाभ्यां कार्यमित्युक्तमेव । अत एव वरणा-
दिद्वारा आर्त्तिवज्येष्वप्युभयोरपि प्रयोजककर्तृत्वम् । ये च फ-
लिसंस्काराः कर्तृसंस्काराश्च ते फलित्वकर्तृत्वयोरविशेषादुभयो-
रपि । तत्रापि यत्र 'योक्त्रेण पत्नीं संनहति, मेखलया यजमानम्'
इत्यादौ प्रतिनियतनिर्देशः तत्र 'अर्धमन्तर्वेदि' इतिवत् लक्षणया
पुंस्त्वादेरप्युद्देश्यान्तर्भावाङ्गीकारेण सत्यप्युभयोरेकापूर्वसाधनत्वे
व्यवस्थैव । विशेषनिर्देशाभावेऽपि च यत्र 'केशश्मश्रु वपते'
इत्यादौ केशश्मश्रुणोऽशरीरसंस्कारार्थवपनं प्रत्युपादेयत्वेन द्व-
न्द्वावगतसाहित्यविवक्षा, तत्रापि पल्लयाश्मश्रुभावेन केशानां

न वपनं, न हि तत्केशश्मश्रुसंस्कारकम्, तेषामनुपयुक्तत्वात्
अतस्तदपि यजमानस्यैव । अत एव यजमानानेकत्वे पत्न्यनेकत्वे
द्विविधस्यापि प्रत्येकं करणम् । यत्र क्रत्वर्थेष्वाज्यावेक्षणादिषु
प्रतिनियतनिर्देशस्तत्रोपादेयविशेषणस्य विवक्षितत्वात् तेन तेन
प्रतिनियतेनैकेन च कर्त्रा करणम् । अत एव पत्न्यनेकत्वे स-
न्निहितया ज्येष्ठयैव । यत्र तु याजमानमिति विशेषसमाख्यया
कर्तृनियमस्तत्र यजमानप्रातिपदिकस्थोभयपरत्वोपपत्तेः विरूपैक-
शेषाङ्गीकारेण द्विवचनबहुवचनान्तविग्रहेण चोभयोरपि वैकल्पिकं
कर्तृत्वमिति प्राप्ते—

यजमानशब्दस्य पुंस्येव प्रचुरप्रयोगाद्विरूपैकशेषद्विवचना-
न्तादिविग्रहस्यासति तत्तात्पर्यग्राहकप्रमाणेऽनाश्रयणीयत्वात् । प्र-
त्युत तदाश्रयणे तद्विषये ज्ञानाक्षेपशक्तिकल्पनापत्तेः प्रसिद्ध-
ज्ञानवन्तं पुमांसमादायैव समाख्योपपत्तेस्तस्यैव कर्तृत्वम् । यद्य-
पि स्वाध्यायविधौ लिङ्गविशेषानुपादानेन न स्त्रिया व्यावृत्ति-
प्रतीतिस्तथाऽप्युपनयनवाक्ये तदुपादानात्तत्र च तस्योद्देश्यवि-
शेषणत्वेऽपि अष्टवर्षत्वादिवदेव 'तमध्यापयीत' इत्यत्र तच्छब्देन
पुंस्त्वोपादानादध्ययने तद्व्यावृत्तिः । अत्र ह्यध्यापनस्य वृत्तय-
र्थत्वेन रागप्राप्तत्वात् लक्षणया प्रयोज्यव्यापाररूपाध्ययन एव
कर्तृविधिः । अत एवोपनयनवाक्ये तत्संस्कारकत्वेनाचार्यकर्तृ-
कमुपनयनं माणवककर्तृकमुपगमनमेव वा नियम्यते । तेनाचार्य-
त्वसिद्धेरानुषङ्गिकत्वात्तामादायैवात्मनेपदोपपत्तेः । न चाचार्य-
त्वकरणे नयतेर्धातोरात्मनेपदं भवतीत्यनुशासनबलादुपनयनस्या-
चार्यत्वार्थत्वं, तस्य रागप्राप्तत्वेन विधिवैयर्थ्यात् । अत उपनयन-
विधौ लिङ्गस्याविवक्षायामप्यध्ययने तस्य विवक्षितत्वात् न

स्त्रिया अधिकारः । 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न त्रयी श्रुतिगोचरा' इति प्रतिषेधाच्च । अतश्च ज्ञानाक्षेपकल्पनाभिया यजमानस्येदमित्येव विग्रहात् तस्यैव तत्र कर्तृत्वम् ॥ ६ ॥

(७)—चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ॥ २५ ॥ निर्देशा-

द्वा त्रयाणां स्यादग्रयाधेये ह्यसम्यन्धः
 क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ॥ २६ ॥
 निमित्तार्थेन बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारं
 स्यात् ॥ २७ ॥ अपि वाऽन्यार्थदर्शनात्
 यथाश्रुति प्रतीयेत ॥ २८ ॥ निर्देशात्तु पक्षे
 स्यात् ॥ २९ ॥ वैगुण्यान्नेति चेत् ॥ ३० ॥
 न काम्यत्वात् ॥ ३१ ॥ संस्कारे च त-
 त्प्रधानत्वात् ॥ ३२ ॥ अपि वा वेदनि-
 र्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ॥ ३३ ॥ गुणा-
 र्थित्वान्नेतिचेत् ॥ ३४ ॥ संस्कारस्य तद-
 र्थत्वात् विद्यायां पुरुषश्रुतिः ॥ ३५ ॥
 विद्यानिर्देशान्नेति चेत् ॥ ३६ ॥ अवैद्य-
 त्वादभावः कर्मणि स्यात् ॥ ३७ ॥ तथा
 चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि कामश्रुतयोऽविशेषेण प्रवृत्तास्तथाऽपि तासां ला-
घवायाधानाध्ययनविधिसिद्धान्निविद्योपजीवकत्वस्य द्वितीये सा-
धितत्वाच्छूद्रस्य तदाक्षेपकल्पनानुपपत्तेस्तस्य वेदाक्षरश्रवणप्र-
तिषेधाच्च अपशूद्राणां त्रयाणामेवाधिकारो न शूद्रस्याग्निसाध्ये
तदसाध्ये च वैदिककर्मणि । द्वितीयसिद्धस्यैव प्रयोजनार्थम-
धिकरणमिति नातीवात्र पूर्वपक्षादरः । अत एव सर्वत्र वेदे त्रया-
णामेव वर्णानामनुकीर्तनम् । यत्तु 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य' इत्यादि
वर्णत्रयमनुकीर्त्य 'मस्तु शूद्रस्य' इति कीर्तनं तत् मस्तु शूद्रस्या-
नधिकारिणो भक्ष्यमुचितं न तु ब्राह्मणादेरिति तन्निन्दया पय-
आदिस्तुतिः ॥ ७ ॥

(८)—त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसि-
द्धित्वात् ॥ ३९ ॥ अनित्यत्वात् नैवं स्या-
दर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ॥ ४० ॥

अग्निविद्ययोरिव द्रव्यस्यापि प्रतिग्रहादिपुरुषार्थोपायविधि-
बलादेव लब्धतया क्रतुविधिभिरनाक्षेपात् परप्रयुक्तसिद्धद्रव्य-
वत एवाधिकारो न त्वसिद्धद्रव्यस्य तदार्जयित्वेति प्राप्ते—

प्रतिग्रहाद्युपायविधेरप्यनुज्ञाविधिमात्रत्वस्य स्थापितत्वात्
द्रव्यस्य स्वतन्त्रविधिप्रयुक्तत्वाभावेन जीवनादिकार्येणैव क्रतुनाऽपि
तदाक्षेपोपपत्तेः प्रतिग्रहादेरपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन क्रत्वर्थत्व-
स्य स्थापितत्वात् प्रयाजादिवत् क्रतुनाऽपि तदाक्षेपोपपत्तेश्चाद्र-
व्योपि द्रव्यमार्जयित्वाऽधिक्रियत एव ॥ ८ ॥

(९)-अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ॥ ४१ ॥ उत्पत्तौ
नित्यसंयोगात् ॥ ४२ ॥

एवं चक्षुराद्यङ्गहीनोऽपि आज्यावेक्षणादिमति कर्मणि प्रति-
समाधाय चक्षुराद्यङ्गमधिक्रियते । अप्रतिसमाधेयाङ्गवैकल्ये तु
काम्ये नाधिक्रियते । नित्ये तु यथाशक्तिन्यायादधिक्रियत एव ।
यत्तु पार्थसारथिना आहिताग्निश्चेन्नित्ये अधिक्रियत इत्युक्तं त-
दाधानस्यापि नित्यत्वेनोपेक्षितम् ॥ ९ ॥

(१०)-अत्रार्षेयस्य हानं स्यात् ॥ ४३ ॥

दर्शपूर्णमासयोः “आर्षेयं वृणीते एकं वृणीते द्वौ वृणीते
त्रीन् वृणीते न चतुरो वृणीते न पञ्चाति वृणीते” इति श्रुतम् ।
तत्र तावदेकं विधायकं अन्ये अनुवादा इत्यविवादम् । अ-
न्यथा सर्वेषां विधित्वे वाक्यभेदविकल्पयोरापत्तेः । अतः ‘त्रीन्
वृणीते’ इत्येव विधिः ‘एकं वृणीते द्वौ वृणीते’ इत्यवयुल्यानुवादः
त्रित्वस्तुत्यर्थः । ‘न चतुरो वृणीते’ इत्याद्यपि नित्यानुवादस्तदर्थ
एव । अतश्च त्र्यार्षेयवत् पञ्चार्षेयोऽपि त्रीनेव वृणीयात् । एक-
द्व्यार्षेययोस्तु नास्मिन् पक्षे अधिकारः । अपि तु ‘अथ हैके मनु-
वदित्येवैकार्षेयं सार्ववर्णिकं प्रतिदिशन्ति’ इति वचनान्तरावि-
हितमनुवत्पक्षाश्रयेण एव । तदेतद्भगवतो जैमिनेर्मतमृष्यन्तरैर-
भ्युपगतम् । तथा च कात्यायनः अनुवदति ‘परस्तादर्वाश्चि
त्रीणि’ इति । आपस्तम्बोऽपि ‘त्रीन्यथार्षि मन्त्रकृतो वृणीत’ इति
तैस्तु पक्षान्तराण्यप्युक्तानि ‘यावन्तो वा मन्त्रकृतः’ इति कात्याय-
नः । “अपि वैकं द्वौ त्रीन् पञ्च वृणीते न चतुरो वृणीते न पञ्चाति

वृणीते” इत्यापस्तम्बः । ‘यावन्तस्स्युः परं परं प्रथमम्’ इत्याश्व-
 लायनोऽपि । तेषां चायमभिप्रायः ‘आर्षेयं वृणीते’ इत्ययं विधिरि-
 तरेऽनुवादाः तत्स्तुत्यर्थाः । अतश्च ‘त्रीन् वृणीते’ इत्यप्यनुवाद एव
 ईदृशोऽयं वरणसामान्यविधिः यत् तत्तदार्षेयं प्रति तत्तत्सङ्ख्याक
 वरणं प्राप्यते इति स्तुतिः । इतरथा भवन्मते सामान्यवाक्ये
 नैव वरणविधिमभ्युपगम्याप्येकवाक्यत्वलाभाय पञ्चांशस्यैवा-
 धिकारापत्तेस्त्रयाणामप्येषामवयुत्यानुवादत्वापत्तिः । न चैवं
 चतुष्पडादीनामपि वरणप्रसक्तौ तन्निषेधेन वाक्यभेदापत्तिः ए-
 कद्वित्रिपञ्चांशेषाणामेव प्रवराध्याये समाम्नानेन चतुष्पडादेरप्र-
 सक्तेः । अतोऽस्मिन्नपिपक्षे वाक्यभेदाद्यनापत्तेरेकद्व्यांशयोर-
 धिकारः । पञ्चांशस्य च पञ्चानां वरणं न विरुद्धमिति । य-
 त्तु — द्व्यामुष्यायणानामुभयतः कुलद्वयेऽपि वरणविधानादस्ति
 चतुष्पडादीनां प्राप्तिरिति तन्न, आश्वलायनेन द्व्यामुष्यायणान-
 नुक्रम्य “तेषामुभयतः प्रवृणीते एकमितरतो द्वावितरतः
 द्वावेकतरतः त्रीनितरतः” इति आवश्यकश्रुत्यन्तरमूलकेनैव
 तन्निषेधात् । अतो ‘भार्गवच्यावन’ इत्यादिविशेषरूपेण वरण-
 पक्षेऽपि मनुवत्पक्षवदेव एकद्व्यांशयोरप्याधिकार इति ऋष्य-
 न्तरमतं बोध्यम् ॥ १० ॥

(११) — वचनाद्रथकारस्याधानेऽस्य सर्वशेष-
 त्वात् ॥ ४४ ॥ न्याय्यो वा कर्मसंयोगात्
 शूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ॥ ४५ ॥ अकर्मत्वा-
 तु नैवं स्यात् ॥ ४६ ॥ आनर्थक्यं च सं-
 योगात् ॥ ४७ ॥ गुणार्थेनेति चेत् ॥ ४८ ॥

उक्तमनिमित्तत्वम् ॥ ४९ ॥ सौधन्वना-
स्तु हीनत्वात् मन्त्रवर्णात्प्रतीयेरन् ॥५०॥

त्रयाणां वर्णानामाधानं विधाय 'वर्षासु रथकार आदधीत'
इति श्रुतम् । तत्र विद्याक्षेपशक्तिकल्पने गौरवापत्तेः ब्राह्म-
णादीनामेव रथकरणे निमित्तै आध्रानोद्देशेन वर्षाविधिरिति
प्राप्ते—

रथकारशब्दस्य प्रसिद्धिबलेन सौधन्वनापरपर्याये जाति-
विशेषे रूढत्वात् तस्यैवायं कालविशिष्टाधानविधिः । न च
तत्रापि योगेनैवोपपत्तौ रूढिकल्पनायां प्रमाणाभावः रथमकुर्व-
त्यपि सौधन्वने प्रयोगेण तद्वाधात् । न च प्रोक्षणीशब्दवद्यो-
ग्यतामात्रेण तदुपपत्तिः । योग्ये ब्राह्मणादावप्रयोगेण रूढिकल्प-
नाय न आवश्यकत्वात् । रथकरणयोग्यतावच्छेदकमनुष्यत्वस्य
कादाचित्कत्वाभावेन निमित्तत्वानुपपत्तेः रथकारपदवैयर्थ्यप्र-
सङ्गाच्च । अतः प्रसिद्धिबलात् सौधन्वन एव रथकारः ।
सुधन्वा च "ब्राह्म्यास्तु जायते वैश्यात्सुधन्वाऽऽचार्य एव च"
इत्यादिनोक्तः त्रैवर्णिकात्किञ्चिन्नचूनो वेदानधिकृतो जातिविशेषः
न तु शूद्रः । यद्यपि च रथकारपदं "माहिष्येण करण्यां तु
रथकारः प्रजायते । माहिष्योग्रौ प्रजायेते विद्वद्ब्राह्मणयोर्नृपात् ॥
शूद्रायां करणो वैश्यात्" इत्यनेनोक्तेऽपि रूढं, तथाऽपि "ऋ-
भूणां त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधामोति रथकारस्यादध्यात्"
इति वाचनिके मन्त्रे ऋभुशब्दप्रयोगात्तस्य च 'सौधन्वना
ऋभवः' इति मन्त्रान्तरे सामानाधिकरण्यनिर्देशात् सौधन्वन
एवात्र रथकारपदेनाभिधीयते । अतश्च तस्याविद्यत्वाद्विद्याक्षेप

तावन्मात्रविषयमङ्गीकृत्यापि कर्तृकालोभयविशिष्टाधानान्तरमेव विधीयते । सर्वाधानेषु च प्रकरणात्साधारण्येनैव धर्मविधानम् । यद्यपि च विद्याभावादस्योत्तरक्रतुष्वनधिकारस्स्यात्तथाऽप्याधानमात्रमरणमिथितलौकिकाग्निगुणकं कल्प्यस्वर्गफलकं सधर्मकमनुष्ठेयम् । एवं चाहवनीयादेरनुपयोगादभावेन तदुद्देशेन विहितानां 'नक्तं गार्हपत्यमादधाति' इत्यादीनां धर्माणां लोपेऽपि एकस्मिन्नेव कुण्डे स्थण्डिले वा त्रिषु वा तेष्वग्न्याधानं इतराङ्गयुक्तं कार्यमिति तन्त्ररत्नाभिप्रायः ॥

मम तु प्रतिभाति—नास्याधानस्यार्थकर्मत्वं प्रमाणाभावात् । अग्निमित द्वितीयान्तपदे लक्षणादेरावश्यकत्वे रथकारपदे योगाङ्गीकारस्यैव न्याय्यत्वाच्च अपित्वाहवनीयाद्युत्पादकत्वमेव । न च तेषामनुपयोगः अविद्वत्तया कृत्वाधिकाराभावेन तत्रानुपयोगेऽपि "आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च" इति वचनविहिते दाहे उपयोगसम्भवात् न ह्ययं दाहः कर्मोपयुक्ताहिताग्निशरीरप्रतिपत्त्यर्थः । येन कर्माभावेनाभावश्शङ्क्येत । तथात्वे आहिताग्निपदेनाधानस्यैवोपस्थितेस्तदङ्गत्वस्यैवापत्तौ कृत्वङ्गत्वानापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । तथात्वे प्रतिपत्तिं विना आधानफलाहवनीयादेरनिष्पत्तचापत्तेः । अतः फलश्रवणादर्थकर्मैवेदमिति युक्तस्तत्राहवनीयादेरुपयोगः । पवमानेष्टयङ्गभूतपात्रसत्त्वाच्च यज्ञपात्रसमुच्चयेऽपि न क्षतिः । अत एव पवमानेष्ट्युत्तरं प्राक्क्रतुभ्यो मरणे अग्निभिः पात्रैश्च दाहः पवमानेष्टिभ्यः पूर्वं मरणे तु उक्तवचनबलादग्निभिरेव दाहः ॥

(१२)—स्थपतिर्निषादस्स्यात् शब्दसामर्थ्यात् ॥

५१ ॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५२ ॥

‘रौद्रं वास्तुमध्ये चरुं निर्वपेत्’ इति प्रकृत्य ‘एतया निषाद-
स्थपतिं याजयेत्’ इति श्रुतम् । तत्र यद्यपि निषादः स्थपतिर्यस्य
इति बहुव्रीहौ पदद्वयेऽप्यन्यपदार्थलक्षणोक्तिः स नाश्रीयते । तथाऽ-
पि निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीतत्पुरुषे तदभावाद्विद्याक्षेपश-
क्तिकल्पनाभियां कर्मधारयानङ्गीकारेण स एवाश्रीयते । न च
तत्रापि पूर्वपदे निषादसम्बन्धिनि लक्षणा, कारणाभावात् । यद्य-
पि हि क्लृप्तावयवार्थयोगेनैवोपपत्तौ न समासे विशिष्टार्थशक्ति-
कल्पना प्रामाणिकी । तथाऽपि कर्मधारये अभेदस्यैव षष्ठीतत्पु-
रुषादावपि स्वस्वामिभावादिभेदसम्बन्धस्य संसर्गविधयैव भा-
नोपपत्तेर्लक्षणायामनुपपत्तयभावः । न च नैयायिकवदस्माकं
नाभार्थयोरभेदान्वय एवेत्यत्र प्रमाणमस्ति । राजा पुरुषोऽस्ती-
त्यादौ सर्वत्र नामार्थस्य विभक्त्यर्थे तस्य चाख्यातार्थेऽन्वया-
ङ्गीकारेण परस्परान्वयस्य समासातिरिक्ते क्वाप्यप्रसक्तत्वात् ।
अतस्समास एव प्रसक्तस्य तस्य संसर्गविधयैव भानोपपत्तेः
न लक्षणेति प्राप्ते—

समानाधिकरणपदस्थले राजा पुरुषोऽस्तीत्यादौ क्रियान्व-
योत्तरं पार्ष्टिकान्वयस्याभेदसम्बन्धेनैवानुभवात् राज्ञः पुरुषोऽ-
स्तीत्यादौ व्यधिकरणपदस्थले च भेदसम्बन्धेनैवानुभवात्लाघवेन
नामप्रयोज्यतदर्थान्वयबोधस्याभेदविषयकत्वमेवेति नियमकल्पनात्
स्वस्वामिभावादिसम्बन्धस्य षष्ठीतत्पुरुषादौ संसर्गविधया भाना-
नुपपत्तेरवश्यं पूर्वपदे स्वार्थसम्बन्धिलक्षणांङ्गीकृत्य तस्योत्तर-
पदार्थेऽभेदेनान्वय इत्यङ्गीकार्यम् । अत एव नामप्रयोज्यनामा-
र्थविशेष्यकनामार्थप्रकारकाभेदसंसर्गकबोधत्वावच्छिन्नं प्रत्येका-
धिकरणवृत्तिप्रातिपदिकार्थतावच्छेदककनामद्वयसमभिव्याहारस्य
द्वन्द्वभिन्ननामद्वयसमभिव्याहारस्य वा तन्त्रत्वमित्यपि बोध्यम् ।

तेन ध्रुवखदिरौ नीलघटावित्यादौ नाभेदबोध इत्यपि बोध्यम् । न
 नैवं समासे सम्बन्धिनोऽभेदेनान्वयाद्विग्रहे च राज्ञः पुरुष इ-
 त्यत्र षष्ठ्यर्थसम्बन्धस्य भेदेनान्वयात् वृत्तिवाक्ययोर्मिन्नार्थत्वा-
 पत्तेरेकविधानेनेतरनिवृत्त्यनापत्तौ विभाषासूत्रवैयर्थ्यापत्तिरिति
 वाच्यम् । एकतरबोधे इतरबोधस्यावश्यकत्वेनार्थैक्याभिप्रायात् ।
 अतश्च षष्ठीतत्पुरुषे लक्षणापत्तेः निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति
 कर्मधारय एवायम् । तेन तावद्विषये विद्यामाक्षिप्यानाहिताग्नेरपि
 निषादस्यैवाधिकारः । अत एव 'कूटं दक्षिणा स्वं हि सन्निषादा-
 नाम्' इति लिङ्गमपि सङ्गच्छते । तत्र च परप्रयुक्तोपजीवित्वादाह-
 वनीयाद्यनाक्षेपेऽपि 'यत्र कचन होष्यन् स्यात् स पञ्चभूतसंस्का-
 रान् कृत्वा लौकिकाग्निं प्रतिष्ठापयेत्' इति स्मृतिवचनेनाग्न्यन्त-
 राभावे होममात्रोद्देशेन लौकिकाग्निविधानात्तमेव तत्तद्देशे स्था-
 पयेत्वा तस्मिन्निष्टिः कर्तव्येति ध्येयम् ॥ १२ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

षष्ठस्याध्यायस्य प्रथमः पादः.

अथ षष्ठस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः.

(१)-पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्तस्य तस्याधिकार-
 स्यात् ॥ १ ॥ अपिचोत्पत्तिसंयोगो य-
 था स्यात्सत्त्वदर्शनं तथा भावो विभागे
 स्यात् ॥ २ ॥

‘ऋद्धिकामास्सत्रमासीरन्’ इत्यादावनेककर्तृकसत्रप्रयोगा-
देकं फलं सर्वैः कर्तृभिरवयवशो भुज्यते उत कृत्स्नमिति विचारे
यद्यपि सर्वेषां प्रत्येकं कर्तृत्वं यदि वा दम्पत्योरिव व्यासक्त-
मुभयथाऽपि एकसत्रप्रयोगादनेकफलानिष्पत्तौ दर्शादावप्येकस्मा-
देव प्रयोगाद्युपपत्तौ क्रमेण वा अनन्तस्वर्गोत्पत्त्यापत्तेरेकप्रयोगा-
देकफलोत्पत्तिनियमस्यावश्यं वाच्यत्वादेकमेव फलं सर्वैरवय-
वशो भुज्यत इति प्राप्ते—

न तावदेकस्य फलावयविनो मुख्यावयवास्सम्भवन्ति सु-
खादिरूपस्य तस्यावयवासम्भवात् । सत्रजन्यतावच्छेदकबुद्धि-
त्वादेस्तावत्पुरुषनिष्ठबुद्धिषु व्यासज्यवृत्तित्वमात्रं परं वाच्यं, न
च तत्र प्रमाणमस्ति श्रुतऋद्धिकामादिशब्दानां फलमात्रप्रति-
पादनपरत्वात्, ऋद्धिकामकर्तृनिष्ठफलभोगप्रतिपादके कल्प्याधि-
कारविधावपि ऋद्धिकामनाया व्यासज्यवृत्तित्वस्य बाधितत्वेन
व्यासज्यवृत्तिकामनात्वरूपातिरिक्तधर्माङ्गीकारे प्रमाणाभावाच्च प्र-
त्येकमेव ऋद्धिकामत्वावसायात् प्रत्येकमेव फलावगतिः । न हि
तत्र बहुवचनान्तर्द्धिकामपदेन बहुत्वावच्छिन्नानामृद्धिकामत्वं
प्रतिपाद्यते येन व्यासज्यवृत्तित्वावगतिर्भवेत् । अपितु ऋद्धिका-
मत्वावच्छिन्नानां बहुत्वं पशून् इत्यादिवत् । न च कर्तृत्वस्य
व्यासक्तत्वात् फलवत्त्वस्यापूर्ववत्त्वस्य च व्यासक्तत्वम् । फलादौ
कर्तृत्वसामानाधिकरण्यस्य प्रत्येकवृत्तित्वेऽप्युपपन्नत्वेनैतादृशनिय-
मे प्रमाणाभावात्, अतश्च दम्पत्योर्व्यासज्यवृत्तिकर्तृत्वेऽपि अपू-
र्वं फलं च भिन्नमेव जन्यतावच्छेदकधर्मपर्याप्त्यधिकरणं वाच्यं,
प्रकृते तु बहुवचनश्रवणेन कर्तृत्वभेदस्यैवावगतेः । न फल-
वत्त्वादेः व्यासज्यवृत्तित्वकल्पनावसरः । न चैकप्रयोगादनेकफ-

लानुत्पत्तिः । समवायसम्बन्धेनैव फलत्वावच्छिन्नं प्रति फलत्वेन प्रतिबन्धकत्वकल्पनादात्मान्तरे बाधकाभावात् । न चैवमपि प्रत्येकवृत्तित्वापेक्षया फलवत्त्वादेः व्यासज्यवृत्तित्वकल्पने गौरवादेरभावान्नियामकाभावः । जन्यतावच्छेदकक्रद्धित्वादेः व्यासज्यवृत्तित्वकल्पने तत्पर्याप्तचधिकरणतावच्छेदकस्य सत्रे यावत्कर्तृनिष्ठतज्जन्यफलकूटत्वादेः कल्पनीयत्वेन गौरवापत्तेः तद्वरं सत्रजन्यफलत्वादेरेव तत्त्वकल्पनायां लाघवात् प्रत्येकमेव फलम् । प्रयोजनं सङ्कल्पे तादृशानुसन्धानम् ॥ १ ॥

(२)—प्रयोगे पुरुषश्रुतेः यथाकामी प्रयोगे स्यात् ॥ ३ ॥ प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ॥ ४ ॥ तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात् कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥ ५ ॥ अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात्प्रयोगायोपदिश्येत प्रत्यर्थं हि विधिश्रुतिर्विषाणवत् ॥ ६ ॥ अन्यस्य स्यादिति चेत् ॥ ७ ॥ अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ॥ ८ ॥ फलकामो निमित्तमिति चेत् ॥ ९ ॥ न नित्यत्वात् ॥ १० ॥ कर्म तथेति चेत् ॥ ११ ॥ न समवायात् ॥ १२ ॥

‘स्वर्गकामो यजेत’ इत्याद्येकवचनश्रवणे मूले तावदेकत्वम-
विवक्षितं स्वर्गकामपदस्य स्वर्गमात्रपरत्वात् । अधिकारिपरत्वेऽपि
वा तस्योद्देश्यत्वेन तद्विशेषणस्याविवक्षितत्वात् । अतश्च तत्सा-
मानाधिकरण्यादाख्यातेऽपि तदविवक्षितम् । किञ्चाख्यातस्य
प्राप्तिमात्रमर्थः । ततश्च यागेन स्वर्गं पुरुषः प्राप्नुयादित्यर्थः ।
तेन तत्रापि तस्योद्देश्यत्वाद्विशेषणस्याविवक्षा । अस्तु वा करो-
तिना विवरणाह्लिङः प्रवर्तनाभिधायित्वाच्चाख्यातस्य प्रवृत्तिरे-
वार्थः । तथाऽपि फलोद्देश्यकायास्तस्या लोकत एव प्राप्तत्वाच्च
यागमात्रविधानेन तस्या अनुवादत्वात्तद्विशेषणस्य तत्कर्तृविशे-
षणस्यैकत्वस्याविवक्षेति एको द्वौ बहवः कर्तार इति पूर्वः
पक्षः कृतः । तत्फलोद्देश्यकस्य विजातीयस्य पुरुषप्रयत्नस्याप्राप्त-
त्वेन विधेयत्वेन तत्रतत्र स्थापितत्वात् ताद्विशेषणस्य कर्त्रेकत्व-
स्य विवक्षोपपत्तेस्स्वर्गकामपदे तदविवक्षायामपि तत्सामानाधि-
करण्ये बाधकाभावादुपेक्षितम् ॥

अन्यथा पूर्वपक्षः रच्यते—आख्यातोपात्तैकत्वस्य विवक्षा-
यामप्यनेकेषां कर्तृत्वं, तद्वि कर्तृत्वे अन्वेति न तु तदाश्रये ।
अन्यथा दम्पत्योर्व्यासज्यवृत्तिकर्तृत्वानुपपत्तेः । अतश्च तदा-
श्रयाणामनेकत्वस्य पत्नीरादायावश्यकत्वे पुरुषानादाय तत्करणे
बाधकाभावादनकेषामपि कर्तृत्वमिति प्राप्ते—

असति विशेषग्राहकप्रमाणे तदाश्रयस्यापि प्रथमातिक्रमे
कारणाभावादेकस्यैव प्रतीतिरामुभाविकी । अत एव सन्ध्याव-
न्दनश्राद्धादावेकस्यैवाधिकारः । तत्र ‘धर्मे च’ इत्यादिवाक्यस्य
प्रमाणान्तरसिद्धपक्षयधिकारककर्ममात्रविषयत्वे पक्ष्या अपि ग्र-
हणे प्रमाणाभावे पुरुषान्तरस्याप्रसक्तेः । यत्र तु पत्नीग्राहक-

प्रमाणसङ्गावस्तत्र सत्यपि तासां कर्तृत्वाधिष्ठानत्वे पुरुषस्यैकस्यै-
व तत्, प्रथमातिक्रमे कारणाभावात्, 'स्वर्गकामो यजेत, यजमानः
केशश्मश्रु वपते, मेखलया यजमानम्' इत्यादौ विना कारणं सुबु-
पात्तैकत्वस्य पाक्षिकानुवादत्वानुपपत्तेश्च । अतः पुरुष षष्ठ
एवाधिकारी ॥ २ ॥

(३)—प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमि-
त्तत्वात् ॥ १३ ॥ फलार्थित्वाद्वाऽनियमो
यथाऽनुपक्रान्ते ॥ १४ ॥ नियमो वा तन्नि-
मित्तत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात् ॥ १५ ॥

काम्यं कर्म कामनायां प्रक्रान्तं वीतायां फलेच्छायामवा-
प्ते वा फले प्रयोजकाभावात् न समापनीयमिति प्राप्ते—

सत्यं नास्ति फलरूपं प्रयोजकं तस्येच्छाविषयत्वेन प्रयोजक-
त्वात् । तथाऽपि प्रारम्भ एव प्रयोगसमाप्तेर्निमित्तम् । न च तत्र
प्रमाणाभावः । शिष्टविगर्हणस्यैव प्रमाणत्वात् । शिष्टा हि प्रारब्धा-
परिसमापने प्राक्रमिकोऽयमिति विगर्हन्ते । तेन शिष्टाचारमूलभूत-
श्रुतौ प्रारम्भे निमित्ते प्रयोगसमाप्तेर्निमित्तिकत्वेन विधानात्तस्या
आवश्यकत्वम् । न च वस्तुतश्शास्त्रेण कामनाया एव प्रयोजकत्वा-
वगमादाचारस्यास्य भ्रान्तिमूलकत्वमिति वाच्यम् । सर्वेषां शिष्टा-
नां भ्रान्तिकल्पने प्रमाणाभावात्, 'देवताभ्यो वा एष आवृञ्चते
यो यस्य इत्युक्त्वा न यजेत त्रैधातवीयेन यजेत' इति प्रत्यक्षश्रुत्यै-
वाकरणे निन्दाप्रायश्चित्तयोर्विधानात्, प्रारम्भे निमित्ते प्रयोगस-
माप्तेरावश्यकत्वावगमाच्च । अतः प्रयोजकान्तराभावेऽपि निमित्तव-

शात्समापनीयमेव । समापिते च तस्मिन् कारणसत्त्वात्फलमपि भवत्येव । एकफलप्राप्तावपि फलान्तरोपपत्तेः । न च कामनारूपाङ्गाभावाद्द्वैगुण्याशङ्का । तस्याः प्रवृत्तित्वावच्छिन्नं प्रति कारणत्वमात्रत्वेनाङ्गत्वे प्रमाणाभावात्प्रवृत्तिपूर्वक्षणे तस्यास्सत्त्वाच्च । अन्यथा सम्यक्पनोत्तरमिच्छाऽपगमेऽपि फलानुत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ ३ ॥

(४)—लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥

१६ ॥ अपराधेऽपि च तैश्शास्त्रम् ॥ १७ ॥

अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिश्शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं, तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ॥ १८ ॥

लौकिकस्य तु गृहरथकर्मादेरशास्त्रीयत्वादशास्त्रीयासमापने च शिष्टविगर्हणाभावात्प्रयोजकाभावेनासमापनम् । न च तस्यापि शिल्पश्रुतिमूलत्वाच्छास्त्रीयत्वम् । तस्याः अर्थसुखादिषशर्चितया लोकमूलकत्वेन श्रुतिमूलकत्वाभावात् । यत्तु, गृहकरणाद्याश्रितं पुरुषार्थं नैमित्तिकं वास्तुशान्त्यादिकं 'आरे भग्ने इन्द्रबाहुर्वद्भ्यः, पायसं ब्राह्मणो भोजयितव्यः' इत्यादि च, तस्य शास्त्रीयत्वादिष्टमेव समापनम् ॥ ४ ॥

(५)—प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात् प्रतिविद्वानां विभक्तत्वादकर्मणाम् ॥ १९ ॥

शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते तयोरसमवायित्वात्तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः ॥

‘न कलञ्जं भक्षयेत्’ इत्यादिषु किं? स्वर्गकामस्याधिकारः उत प्रवृत्तमात्रस्येति चिन्तायां—नञो निपातत्वेन क्रियान्वयनैयत्याभावत्तिक्रियान्वयाङ्गीकारे च प्रधानभूतयास्तस्या एवान्यथात्वापत्तेः, आनर्थक्यतदङ्गन्यायेन क्रियाविशेषणेष्वन्वयावगमात्, तत्रापि कलञ्जान्वये सुबन्तसम्बन्धेन नञ्समासापत्तेः, कलञ्जातिरिक्त-भक्षणस्य च रागप्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् पारिशेष्येण धातुसम्बन्धावगतेर्भक्षणाभावस्य च कर्तुमशक्यत्वेन प्रजापतिव्रतवदेव लक्षितस्य भक्षणाभावसङ्कल्पस्य विश्वजिज्ञासायेन स्वर्गार्थत्वेन विधानमिति प्राप्ते—

‘तस्य व्रतम्’ इत्युपक्रमानुसारात् प्रजापतिव्रतेषु लक्षणाङ्गीकारेऽपि प्रकृते लक्षणायां प्रमाणाभावात् प्रधानान्वयस्याभ्यर्हितत्वेन न नञोऽभाववाचकस्य प्रतियोगितासंसर्गेण भावनायामेव स्वकारकविशिष्टायामन्वयः । न चान्यथात्वापत्तिः । पुरुषे भावनानुत्पत्तावपि प्रत्ययेन तस्या एव बोधनेनान्यथात्वाभावात् । अत एव निषेधस्थले लिङ्गर्थभूतव्यापारस्य न विधिवाक्य इव प्रयोज्यत्वसम्बन्धेन भावनान्वयः । अपि तु नञस्तात्पर्यग्राहकस्य सत्त्वात् स्वप्रयोज्याभावप्रतियोगित्वेनेति तस्य निवर्तनारूपत्वसिद्धिः । कलञ्जभक्षणभावना निवर्तनाविषय इति तु मूलानुसार्यन्वयः, नञ्सहितस्य लिङादेर्निवर्तनायां लक्षणास्वीकारात् । स्वप्रयोज्यत्व च प्रवृत्त्यभावे प्रवृत्तिविषयस्य निष्ठसाधनत्वज्ञानं विनाऽनुपपन्नमिति तस्य प्रत्यवायजनकत्वं कल्प्यते । तेन पुरुष-

मात्रस्यैव रागतः प्रवृत्त्युन्मुखस्य निषेधेष्वधिकारः । अत एव च प्रत्यवायसाधनीभूतस्यानुष्ठेयस्य भक्षणस्य रागत एव ज्ञातत्वात्तदनुष्ठाने सति प्रत्यवायोत्पत्त्युपपत्तेर्न तदंशे तन्निषेधांशे वाऽध्ययनविधिसिद्धज्ञानापेक्षाऽपि । यत्त्वत्र निवर्तनाप्रकारकथनं प्रकारान्तरेण तन्त्ररत्ने कृतं तदर्थवादाधिकरणे कौस्तुभ एव निरस्तम् । स्वोक्तरीतिश्च विस्तरेणोपपादिता ॥ ५ ॥

(६)—तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् ॥ २१ ॥ अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन् ॥ २२ ॥

श्रौतेषु स्मृत्युक्तेषु च निषेधेषु, तथा स्मार्तैर्भेवानाग्निसाध्येषु अमन्त्रसाध्येषु विधिषूपनयनात्पूर्वमपि शक्तस्याधिकारः । स्मार्तविधायुपनयनादिनियमे प्रमाणाभावात् । उपनयनस्य वेदमात्राध्ययनाङ्गत्वात् । निषेधेषु तु जातमात्रस्याधिकारः 'ब्राह्मणो न सुरां पिबेत्' इतिवत् परंप्रेरणादिजन्याया अपि भक्षणादिभावनाया निषेधात् । तत्र च स्मृत्याद्यध्ययनस्यानुपयोगादिति प्राप्ते-

स्मृत्यध्ययनस्यापि 'ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति स्मृत्या उपनयनाङ्गकत्वविधानात् स्मार्तविधीनामप्युपनीताधिकारकत्वम् । निषेधेषु तु 'प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः' इति स्मृत्यैवाभ्यनुष्ठानादुपनयनोत्तरकालत्वम् । अत एव वर्णपुरस्कारेण आश्नातानां सुरापानादिनिषेधानां जातमात्राधिकारिकत्वमेव स्मृतिसिद्धम् । येषां तु शूद्रादीनामुपनयनाभावस्तेषां विवाहावधि, तस्य तत्स्थानत्वेन विधानात् ॥ ६ ॥

(७)—अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात्पुरुषार्थो विधी-
यते ॥ २३ ॥ तस्मिन्नसम्भवन्नर्थात् ॥ २४
न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ॥ २५ ॥ दर्शना-
त्काललिङ्गानां कालविधानम् ॥ २६ ॥

जीवनादिनिमित्तकाग्निहोत्रादौ निमित्तस्य प्रतिक्षणं भेदात्
प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकावृत्त्या सन्ततानुष्ठानप्रतीतेस्तदनुरोधेन
चाशक्याङ्गत्यागस्य वक्ष्यमाणत्वात्कालस्यापि चाङ्गत्वेन त्यागो-
पपत्तेः काम्यविषयत्वेन तस्य सार्थक्याश्च सान्तत्यानुष्ठानम् । अत
एव सोमे वसन्तस्य निमित्तत्वात् तत्रैकैकस्मिन् सकृत्करण-
प्रतीतेः अमावास्यादिकालानुग्रहेऽपि न क्षतिरिति प्राप्ते—

आहारविहाराद्यनुरोधेन निमित्तश्रुतेरवश्यं सङ्कोचनीयत्वात्
अग्निविद्याभ्यामिव कालेनापि सा सङ्कोच्यते । न हि कालस्या-
ङ्गत्वेऽपि यथाशक्त्युपबन्धविषयत्वं, यस्यैव हि प्रयोगविधिप्रयो-
ज्यत्वेन शक्तावनुष्ठानप्रसक्तिः तस्यैवांशक्तौ निमित्तश्रुत्यनुरोधेन
त्यागः । ततश्च यथैवाग्निविद्ययोर्विध्यन्तरप्रयुक्त्युपजीवकत्वेन
प्रयोगविध्यप्रयोज्यत्वाच्च तत्, तथा कालस्यापि स्वरूपेणानुष्ठे-
यस्य प्रयोगविध्यप्रयोज्यत्वाच्चथाशक्त्युपबन्धविषयत्वानुपपत्तेः ।
कालविधिनाऽपि निमित्तश्रुतिसङ्कोचाच्च सान्तत्येनानुष्ठानम् । अत
एव 'यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाऽति-
पादयेत्' इति काले नैमित्तिकातिक्रम एव प्रायश्चित्तम् ॥ ७ ॥

(८)—तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्तते ॥ २७ ॥

तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥ २८ ॥

कालशास्त्रेण निमित्तशास्त्रस्य सङ्कोचेऽपि यदा कालाव-
च्छिन्नस्य निमित्तस्य पुनस्सन्निपातस्तत्र नैमित्तिकावृत्तिः । इत-
रथा स्वोत्पत्ताववश्यानुष्ठापकत्वरूपनिमित्तत्वानुपपत्तेः । अत-
एव यत्र तस्मिन्नेव निमित्ते कालमात्रस्यावृत्तिस्तत्र न नैमि-
त्तिकावृत्तिः । यथा एकस्मिन्नेव वसन्ते पर्वावृत्तौ । अत्र च
पूर्वपक्षस्यातितुच्छत्वात् सुहृद्भूत्वोपदेश इति मन्तव्यम् ॥ ८ ॥

(९)—तथाऽन्तःक्रतु प्रयुक्तानि ॥ २९ ॥

पुरुषार्थनैमित्तिकवदेव क्रत्वर्थनैमित्तिकस्यापि भेदनहोमा-
देरेकस्मिन् प्रयोगे भेदनानेकत्वे यदि तावत् होमात्पूर्वं तदनेक-
ता तदाऽगृह्यमाणविशेषत्वादश्वप्रतिग्रहेष्टिवच्च तावच्छब्दाभावात्
तन्त्रेणैव होमकरणेऽपि होमोत्तरं तदनेकत्वे नैमित्तिकावृत्तिस्स्या-
देव । न च तत्र क्रतुजन्यापूर्वोत्पत्तेः पूर्वं होमजन्यादृष्टस्य स-
त्त्वात्तेनैव प्रसङ्गसिद्ध्याशङ्का । तथात्वे निमित्ते सति नैमित्ति-
काकरणे निमित्तत्वव्याघातात् । अत एव निमित्ताभावे होमाभा-
वेऽपि क्रतूपकारसिद्धिः, तत्सत्त्वे तदनुष्ठानेन, तदावृत्तावावृत्ते-
नेत्यपि बोध्यम् ॥ ९ ॥

(१०)—आचाराद्गृह्यमाणेषु तथा स्यात्पुरुषार्थ-

त्वात् ॥ ३० ॥

आचारप्रमाणकेषु गुरुगमनादौ शिष्यानुगमनादिषु आवृ-
त्तस्यैवाचारस्य दर्शनात् तन्मूलभूतश्रुतौ गुरुगमनादेर्निमित्तत्व-
कल्पनावगतेः प्रतिनिमित्तमावृत्तिः । न चाचरितृणां आवृत्तेर्दृष्ट-
विधया गुरुप्रीत्यर्थत्वेनाप्युपपत्तेर्निमित्तत्वे प्रमाणाभावः । गुरुप्री-

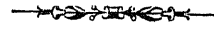
तेरुपायान्तरेणापि सिद्धेरधीतविद्येनाप्यनुष्ठानाभियतानुष्ठानबले-
न नैमित्तिकत्वप्रतीतेः । यत्तु—तन्त्ररत्ने शास्त्रेणैव सप्तमीशत-
प्रत्ययादिना निमित्तत्वावगतिः गुरुगमनादेरित्युक्तं तच्छ्रुतिरूप-
शास्त्रसत्त्वे सूत्रकारोक्तस्याचारप्रमाणकत्वस्यानुपपत्तेरुपेक्षितम् ॥

(११)—ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्ये
न संयोगात् ॥ ३१ ॥

सोमस्य 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इति वचनादेव
नित्यत्वम् । न चायं कालविधिः । 'वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इति
वीप्सारहितवाक्येनैव तद्विधानात् । न च विनियमनाविरहः ।
गुणभूतकालानुरोधेन प्रधानावृत्तेरप्राप्ततया वीप्सार्थस्यापि वि-
धेयत्वे वाक्यभेदापत्तौ प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकावृत्तिन्यायप्राप्तवी-
प्सार्थानुवादबलान् तद्वाक्यस्थाया एव सप्तम्या निमित्तप-
रत्वावसायात् । अग्निहोत्रादीनां तु नित्यत्वं स्थितमेव । एवं
विद्याया अप्यध्ययनसहितायाः 'स्थाणुरयं भारहृरः किलाभूत्'
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्, अनधीयाना ब्राह्म्या भवन्ति
इत्यादिनिन्दोद्गीताकरणप्रत्ययान्यबलेन नित्यत्वम् । एवमुपनय-
नस्यापि षोडशादिवर्षोत्तरमकरणे प्रत्यवायश्रवणादेव नित्य-
त्वम् । यत्तु 'षष्ठे अन्नाद्यकामस्योपनयीत' इत्यादिफलश्रवणं
तदुपनयनाश्रितषष्ठादिकालस्येति ज्ञेयम् । यत्तु तन्त्ररत्ने ऋतू-
नामावश्यकत्वात्तदपेक्षितविद्यादेरप्यावश्यकत्वेन फलतो नित्य-
त्वमुक्तं, तत् ऋतूनां विद्याप्रयोजकत्वस्य निरस्तत्वात्तद्वत् एवा-
वश्यककत्वकरणे प्रत्यवायावगतेः विद्यादेरकरणे ऋतूनामनधि-
कारादेवानावश्यकत्वादुपेक्षितम् । एवं प्रजोत्पादनमपि । 'अनु-

त्पाद्य सुतं मोहान्मोक्षमिच्छन् पतत्यधः' इत्यविरक्तस्य प्रत्यवा-
यश्रवणान्नित्यत्वम् । अत एव 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्
ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृ-
भ्यः' इत्यपि सङ्गच्छते । न चात्र ब्राह्मणपदश्रवणात्तस्यैवैते नित्याः
इतरयोस्त्वनावश्यक इति शङ्क्यम् । अस्यावदानविधिशेषत्वेनार्थ-
वादस्य विधायकत्वाभावेनात्रत्यब्राह्मणपदस्योपलक्षणत्वात् ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां
षष्ठस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः.



अथ षष्ठस्याध्यायस्य तृतीयः पादः.

(१)—सर्वशक्तौ प्रवृत्तिस्स्यात्तथा भूतोपदेशात् ॥
अपि वाऽप्येकदेशे स्यात् प्रधाने ह्यर्थनिर्वृ-
त्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ॥ २ ॥ तद-
कर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषस्स्यात्
प्रधानेनाभिसम्बन्धात् ॥ ३ ॥ कर्माभिदं
तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषामु-
पदेशस्स्यादिति ॥ ४ ॥ अर्थस्य व्यपव-
र्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्यात् यथा कृत्व-

न्तरेषु ॥ ५ ॥ विध्यपराधे च दर्शनात्स-
माप्तेः ॥ ६ ॥ प्रायश्चित्तविधानञ्च ॥ ७ ॥

नित्यनैमित्तिकानां कर्मणां काम्यवत्सर्वाङ्गोपसंहारेणैव प्र-
योगः, एकादशे सर्वेषामङ्गानां साहित्येन ऋतूपकारजनकत्वस्य
स्थापयिष्यमाणत्वात्, तिर्यगधिकरणे यथाविनियोगमधिकारक-
ल्पनस्य स्थितत्वाच्च । न चैवं नित्येऽपि तथा कल्पने सर्वाङ्गो-
पसंहारसामर्थ्यं सत्यनुष्ठानाभावान्निमित्तत्वव्याघातः । अवश्यानु-
ष्ठापकत्वरूपस्य निमित्तत्वस्य कालाग्निविद्यादिभिरवच्छेदवच्छे-
क्त्याऽप्यवच्छेदीपपत्तः । अतश्च यथैव कालाद्यवच्छिन्नजीवना-
देरेव निमित्तत्वादकालादौ निमित्ताभावादेव नैमित्तिकाकरणे
न प्रत्यवायः तथा शक्त्यभावेऽपीति बोध्यम् । न च कदाऽपि
सर्वाङ्गोपसंहारासामर्थ्यं, काम्येऽग्नि तदापत्तेः । न वा सकृदेव
सर्वाङ्गकरणसामर्थ्यमिति नियमे प्रमाणमस्ति । येन वीप्साद्यनु-
वादानुपपत्तिराशङ्क्येत, काम्यस्याप्यावृत्यनुपपत्तेः । किञ्च नि-
मित्तस्यानुष्ठापकतया कालदेशादिवत्प्रयोगान्वयित्वात् यथैव
'अस्ववभृथेन चरन्ति' इत्यादावपां देशत्वादङ्गप्रधानान्वयित्वं
तथा निमित्तस्यापि । अतश्चानेकेषु प्रधानेषु यथा न यथाशक्त्यु-
पबन्धः तदकरणस्य प्रत्यवायजनकत्वबोधनादेवमङ्गानामपीति न
तेषु यथाशक्त्युपबन्धः । अत एव तद्वदेव तृतीयनिर्देशोऽपि
सङ्गच्छते । प्रयोगान्वयितया च निमित्तश्रुतेरङ्गविनियोगोत्तरका-
लीनत्वाच्छक्त्यवच्छेदकल्पनेऽपि न दोषः । एवं सत्यपि यदि
निमित्तस्य प्राधान्यं स्यात्तदा तदनुरोधेनाङ्गेष्वेव शक्त्यवच्छेदः
कल्प्येत, न त्वेददस्तीति प्राप्ते—

न निमित्तस्यानुष्ठापकत्वं, अपि तु विधिबोधितस्यैवानुष्ठानस्यावश्यकताबोधकत्वमात्रं, तद्बोधस्य च फलं नैमित्तिककरणस्य प्रत्यवायजनकत्वबोधः । अन्यथा चेतनप्रवृत्तेरावश्यकत्वानुपपत्तेः । अतश्च यथैव काम्ये प्रवर्तनाक्षिप्तेष्टसाधनत्वं प्रधानांश एव न तु साङ्गे, तथैव निमित्ताक्षिप्तप्रत्यवायजनकाकरणप्रतियोगित्वमपि प्रधान एव न तु साङ्गे । अत एव निमित्तस्यापि विनियोगविधावेवान्वयः । अत एव विनियोगोऽपि प्रवृत्तिजनकीभूतज्ञानविषयीभूतधर्मरूपः उभयसाधारण एव । अत एवाङ्गान्वयोऽपि प्रधानस्य एतदुत्तरकालीन एव, तस्य प्रधानगतफलवत्त्वज्ञानाधीनत्वात् ॥

तत्र त्वयं विशेषः—यत्काम्ये विध्याक्षिप्तेष्टसाधनत्वज्ञानोत्तरमेवाङ्गविनियोगः । नित्ये तु विधिसहकृतनिमित्ताक्षिप्तप्रत्यवायजनकाकरणप्रतियोगित्वज्ञाने जातेऽपि नाङ्गान्वयोऽनपेक्षितत्वात् । अपि तु तदुत्तरं प्रधानकरणकभावनाया भाव्यापेक्षायां पूर्वकृतपापक्षयस्य भाव्यत्वेऽवगते स इति बोध्यम् ।

अत्र हि पापक्षयस्यैव भाव्यत्वं नित्यस्थले 'धर्मेण पापमपनुदति' इत्यादिवाक्येभ्यः प्रतीयते । अत एव न विश्वजिज्ञायेन स्वर्गकल्पनं न वाऽषुषार्थस्यापि यागध्वंसस्यैव भाव्यत्वकल्पनं यागस्यैव वा तत्, तृतीयानिर्देशात् समानपदश्रुतेः करणत्वेनाप्युपपत्तेश्च । न च दर्शपूर्णमासादौ कल्पानामेव स्वर्गादीनां नित्येऽपि भाव्यत्वोपपत्तौ 'धर्मेण' इत्यस्यान्यपरत्वं शङ्क्यम् । तथात्वे मुमुक्षोस्स्वर्गादीनामानिष्टत्वेन तदुत्पत्तौ शास्त्रस्याहितसाधनानुष्ठापकत्वे अग्रामाण्यापत्या यावज्जीवादिवाक्यस्यामुमुक्षुविषयतया सङ्कोचापत्तेः । पापक्षयस्य तु सर्वाभिलषि-

तत्वात् निमित्तस्यैव प्रयोजकतया तस्य नैमित्तिकाप्रयोजकत्वेऽपि निमित्तप्रयुक्तनैमित्तिकानुपङ्गिकत्वे बाधकाभावः । न चोद्देश्यानेकत्वम् । तत्त्वेऽपि द्विकर्मकत्वाभावेन अवाक्यभेदात् । अतश्च पापक्षयभाव्यकत्वावगमोत्तरमेवाङ्गान्वयात् पूर्वावगतनिमित्तान्वयानुरोधेनाङ्गेष्वेव शक्त्यवच्छेदकल्पनम् ।

न चोत्पत्तिवाक्य एवाङ्गान्वयस्य वक्ष्यमाणत्वात् तत्र चेष्टसामान्यस्यैव भाव्यत्वात् तदवगमोत्तरत्वेऽपि न निमित्तसम्बन्धावगमोत्तरत्वमङ्गान्वयस्येति वाच्यम् । सामान्यगतविशेषापेक्षया अन्तरङ्गत्वेन प्रथमं कामयावज्जीववाक्यैकवाक्यतया विशेषावगमोत्तरमेवाङ्गवाक्यैकवाक्यतयाऽङ्गान्वयाङ्गीकारेण तत्रैव शक्त्यवच्छेदोपपत्तेः । अत एव कामे निमित्ते च यस्याधिकारिणो यावन्ति प्रमाणान्तरप्रामतान्यङ्गानि तस्य तावद्भिस्सहितैराग्नेयादेरुपकुर्यादिति महावाक्यार्थकल्पनात् काम्ये सर्वाङ्गसाहित्यं, नित्ये च शक्त्यवच्छिन्नमित्यर्थलाभः । अतश्च यथैव एकस्यैव काम्यवाक्यस्य यावज्जीववाक्यस्य च सोमयाज्यसोमयाजिरूपाधिकारिभेदेन प्रधानसाहित्यभेदेऽपि यस्याधिकारिणो यावन्ति प्रमाणान्तरप्रमितानि प्रधानानि तस्य तावतां कमि निमित्ते च विधायकत्वं तथाऽन्नापीति न कोपि दोषः । अतस्सिद्धं निमित्तश्रुत्यनुरोधेन यथाशक्त्यङ्गहीनेनापि प्रयोग इति । अत एव विध्यपराधे 'तदेव यादृक्तादृग्घोतव्यम्' इति विगुणसमाप्तिविध्यपराधे प्रायश्चित्तं च दर्शयति ॥ १ ॥

(२)—काम्येषु चैवमर्थित्वात् ॥ ८ ॥ असंयोगात् नैवं स्यात् विधेशशब्दप्रमाणत्वात् ॥

अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ॥ १० ॥

काम्ये तु यद्यपि फलसम्बन्धोत्तरमेवाज्ञान्वयः तथाऽपि साङ्गस्य प्रयोगविधिनाऽनुष्ठानावगमोत्तरं प्रवृत्तिकारणत्वेनोपस्थितायाः क्रामानायाः अधिकारिविशेषणत्वकल्पने शक्त्याऽवच्छिन्नाया एव तत्कल्पनात् अकरणे प्रत्यवायाश्रवणाच्च सर्वाङ्गोपसंहारसमर्थस्यैवाधिकार इति प्रत्युदाहरणमात्रम् ॥ २ ॥

(३)—क्रियाणामाश्रितत्वाद्द्रव्यान्तरे विभाग-
स्स्यात् ॥ ११ ॥ अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूप-
शब्दाविभागाच्च गोत्ववदैककर्म्यं स्यान्नाम-
धेयं च सत्त्ववत् ॥ १२ ॥

एवं यथाशक्तमुपबन्धे निरूपिते तच्छेषत्वेन प्रतिनिधि-
विचारे कर्तव्ये उपोद्धाततयेदं विचार्यते—तत्र मूले तावत्
द्रव्यस्य क्रियातोऽत्यन्तभेदाभावात् द्रव्यभेदे कर्मभेदापत्तेः न
नीवाराधुपादाने विहितक्रियासिद्धिरिति पूर्वपक्षिते अत्यन्तभे-
दाभावेऽप्यत्यन्ताभेदस्याप्यभावात् कर्तृदेशकालादिवत् द्रव्यभे-
देऽपि तदेवेदं चलनं यजनमित्यादिप्रत्यभिज्ञाबलात् क्रियैक्य-
प्रतीतेः प्रतिनिधुपादानेऽपि न क्षतिः । तत्र च जगतीतल-
वर्तिन्येकैव कर्मव्यक्तिः अभिव्यक्तिमात्रं तु भिद्यते । अथवा श-
ब्दान्तरादिप्रमाणैरेव व्यक्तिभेदः, द्रव्यदेशकालकर्तृव्यक्त्यादिभि-
स्तु तस्या एव व्यक्तेरभिव्यक्तिभेदमात्रम् । अथवा माऽस्तु तत्रापि
व्यक्तिभेदः शब्दान्तरादिप्रमाणैश्चाग्नेयत्वादिजातय एव भिद्यन्त
इति सिद्धान्तितम् ।

तत् द्रव्याश्रितत्वेऽपि क्रियायास्तद्भेदे वैजात्यस्य शङ्कितु-
मशक्यत्वात् व्यक्त्यैक्यसिद्धान्ते चापूर्वापहवापत्तेः । तस्या-
भिव्यक्तिजन्यत्वे च यजिपदे तल्लक्षणापत्तेरुपेक्षितम् ॥

अत एव विचारो वाच्यः—सत्यपि शब्दान्तरादिप्रमाणै-
राग्नेयत्वादिवैजात्ये विधेयताघरुद्धेदकविजातीययागत्वावच्छिन्नं
प्रति ब्रीहित्वादिनैव कारणत्वावगतेः, तस्यैव तज्जात्यभिव्य-
ञ्जकत्वावसायात् न नीवाराद्युपादाने तज्जात्यवच्छिन्नसिद्धिरिति
प्राप्ते—

सत्यपि तज्जात्यवच्छिन्नं प्रति तत्त्वादिना कारणत्वं न तस्य
प्रत्येकं तज्जात्यभिव्यञ्जकत्वं, ब्रीहित्वादिना कर्मन्तरेऽपि कार-
णत्वेन व्यभिचारात् । अपि तु सामग्रीत्वेनैव । सामग्री च शक्तस्य
ब्रीहिघटिता । अशक्तस्य तु तदघटिता । अतश्च ब्रीह्यभावे
नीवाराद्युपादानेऽपि विजातीययागत्वापूर्वत्वफलत्वावच्छिन्नं जा-
यत एव । फलं परं नित्य एव तारतम्येन जायते । काम्ये
तु आरम्भोत्तरमशक्तस्य शिष्टविगर्हणदोषपरिहारार्थं समापनेऽ-
पि न फलोत्पत्तिः । सर्वाङ्गोपसंहारेणैव तदुत्पत्तेः । प्रयोगस-
माप्त्यकरणे दोषमात्रोत्पत्तेः । करणे फलान्तराभावात् नापूर्वो-
त्पत्तिरिति केचित् । नैमित्तिकत्वाविशेषात् तत्रापि पापक्षय-
कल्पनेऽपि तत्रापि तारतम्यमित्यपि ध्येयम् ॥ ३ ॥

(४)—श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावे नागमोऽन्य-

स्याशिष्टत्वात् ॥ १३ ॥ कचिद्विधानाञ्च ॥

१४ ॥ आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥

१५ ॥ नियमार्थः कचिद्विधिः ॥ १६ ॥

तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥ १७ ॥

काम्ये आरम्भोत्तरं नित्ये ततः पूर्वमपि श्रुतद्रव्याद्यला-
भे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधेयं न वेति चिन्तायां अशक्तावङ्गहानेन
प्रयोगेऽप्यनङ्गग्रहणे प्रमाणाभावः । तथा हि—न तावद्द्रव्यादि-
शास्त्रम् । तस्य ब्रीहित्वाद्यवच्छिन्नविधायकत्वेन नीवाराद्यविधाय-
कत्वात्, न हि तेषु ब्रीहित्वमस्ति । नापि कर्मशास्त्रं तदाक्षे-
पकम् । द्रव्यशास्त्रेण द्रव्यान्तरसाधारणाक्षेपप्रतिबन्धेन ब्रीह्यादिवि-
धानात् द्रव्यान्तराक्षेपानुपपत्तेः । न हि ब्रीहिशास्त्रं शब्दतो नियम-
विधिः अपि त्वाक्षेपप्रतिबन्धद्वारा फलतः । अतश्च यथैवाग्निविद्य-
योः स्वविधिप्रयुक्तयोरेव लाभादाक्षेपप्रतिबन्धेनाशक्तस्य शूद्रा-
देर्वा न तदाक्षेपः, अपितु अग्निविद्ययोरधिकारिविशेषणत्वमङ्गी-
कृत्य तद्वत् एवाधिकारः, एवं द्रव्याद्यंशेऽपि प्रधानविधिनाऽ-
नाक्षेपात् ब्रीह्यादिश्रुतद्रव्यवत् एवाधिकारित्वकल्पनेन न द्रव्या-
न्तरोपादानमिति प्रयोगोत्सर्ग एव युक्त इति प्राप्ते—

द्रव्यशास्त्रेण द्रव्यान्तरसाधारण्येनाक्षेपप्रतिबन्धेऽपि ब्रीह्या-
दीनरग्निविद्ययोरिव स्वतन्त्रप्रयोगविधिविधेयत्वाभावात् प्रया-
जादिवत् प्रधानविधेरेव ब्रीह्यादिप्रयोगविधायकत्वात् प्रयोगवि-
धिविषयीभूतानां तेषामधिकारिविशेषणत्वानुपपत्तौ निमित्तब-
ल्यदशकौ त्यागेनापि प्रधानकर्तव्यतावगतेस्तस्य च द्रव्यान्तर-
मन्तरेणायोगाद्युक्तं तदाक्षेपकत्वम् । अग्निविद्ययोस्तु स्वतन्त्रप्र-
योगविधिसिद्धयोरेतत्प्रयोगविधिविषयत्वाभावेन यथाशक्त्युपब-
न्धविषयत्वाभावात् युक्तमधिकारिविशेषणत्वमिति वैषम्यम् ॥

न चैवमपि द्रव्यस्योत्पत्तिवाक्ये श्रुतस्य निमित्ताद्यन्वयात्पूर्वमेव यागाद्यन्वयात् पश्चादवगम्यमाननिमित्त एव द्रव्यावच्छेदकल्पनात् द्रव्यावच्छिन्नजीवनादेरेव निमित्तत्वावगतेः कथं द्रव्यान्तरेण याग इति वाच्यम् । विशिष्टविधौ निमित्तान्वयात्पूर्वं भावनायामन्वितस्यापि द्रव्यस्य विशेषणविधौ यागाङ्गताबोधदशायां यागगतफलवत्त्वज्ञानार्थं कामयावज्जीववाक्याभ्यामेकवाक्यत्वाङ्गीकारेण निमित्तपापक्षयाद्यन्वयोत्तरमेव द्रव्यस्य यागाङ्गताबोधेन प्रयाजादिवक्तव्यापि यथाशक्त्युपपन्धोपपत्तेः । अतस्तदा कर्मशास्त्रेण सदृशसाधारण्येन द्रव्यान्तराक्षेपाद्युक्तः प्रतिनिधिः । तस्य चाङ्गत्वाभावेऽप्युपकारकत्वमात्रेण ग्रहणं बोध्यम् । एवं च कर्मचोदनया यत्किञ्चिद्द्रव्यप्राप्तौ युक्त्यन्तरेण सदृशस्य वचनेन च पूतीकानां नियम इति वक्ष्यते ॥ ४ ॥

(५)—न देवतामिश्रशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥

१८ ॥ देवतायां च तदर्थत्वात् ॥ १९ ॥

एवं सर्वत्र प्रतिनिधौ प्रसक्ते देवतायां स न भवति । यदि ह्यर्थमात्रस्यैव देवतात्वं त्यागकालीनोच्चारणकर्मभूतशब्दप्रतिपाद्यत्वरूपं भवेत् तदा तस्य शब्दविशेषापेक्षायां प्रतिपादकत्वेन विधिगतस्योपस्थितस्य शब्दस्य नियमेऽपि रोगादिना तत्पदोच्चारणासम्भवे तादृशार्थस्य यागाङ्गत्वानपायात् तद्वोधकश्चैतलाक्षणिकशब्दान्तरप्रसक्त्या भवेदपि प्रतिनिधिः । यदा तु दाशमिकाधिकरणवक्ष्यमाणरीत्या विधिगतशब्दविशिष्टस्यार्थस्य तादृशशब्दमात्रस्य वा देवतात्वं तदा कः प्रसङ्गः शब्दान्तरस्य । न हि हविस्त्यागकालीनोच्चारणकर्मत्वविशिष्टविधिगतशब्दत्वस-

मानियतं अखण्डोपाधिरूपं वृद्धव्यवहारसिद्धं देवतात्वं शब्दान्तरे समस्ति । यदि तु अर्थस्यापि देवतात्वं कथञ्चिदङ्गीक्रियेत ततस्तत्रापि तादृशविधिगतशब्दप्रतिपाद्यत्वसमनियतमेव तदङ्गीकृत्य प्रतिनिध्यभावस्समर्थनीयः । अत एव यागस्य देवतात्वाक्षेपकत्वेऽपि विधेयत्वघटिततद्विषये आक्षेपकत्वासम्भवात् देवताविधिरपूर्वविधिरेव । तदसम्भवे च यागपदार्थस्य लोप एव यदा तु देवताऽपचारे प्रजापतिरिति वचनं तदभावे विधिविधया प्राग्भाणकं तदा तथैवानुष्ठानम् ।

एवमग्रेऽपि होमाधिकरणस्य न प्रतिनिधिः । तत्राहवनीयादेस्तावदाधानावेधिसिद्धत्वादेव क्रतुप्रयोगविधिविषयत्वात्तेषामधिकांशविशेषणत्वप्रतीतिर्यथाशक्तिन्यायाविषयत्वादेव न प्रतिनिध्याशङ्का । यत्र तु लौकिकाग्रेरेव वाचनिकमधिकरणत्वं यत्र वा पदादेस्तत्रापि सत्यपि तस्य प्रयोगविधिविषयत्वेऽदृष्टार्थत्वात् न तत्प्रतिनिधिः । न हि पूर्वदेशविभागानुकूलव्यापाररूपप्रक्षेपमात्ररूपस्य होमस्याधारापेक्षाऽस्ति । अत एव तद्विधिरप्यपूर्वविधिरेव । पदादिना आहवनीयादिबाधस्तु पतनप्रतिबन्धकत्वरूपाधिकरणताया एवादृष्टोत्पादकत्वादेकेन तत्सिद्धेस्समुच्चयायोगादनुसन्धेयः । अतश्च तत्रापि तत्प्रतिनिधेरदृष्टोत्पादकत्वे प्रमाणाभावान्न सः । क्वचित्तु वाचनिको ब्राह्मणपाण्यादिरभावे विधिरेव ।

एवमर्थप्रकाशनार्थेऽपि मन्त्रेषु न प्रतिनिधिः शब्दान्तरस्य मन्त्रान्तरस्य वा । स ह्युपायान्तरेण ध्यानादिनाऽर्थेऽनवगते तत्प्रतिपादकत्वज्ञानाभावादेवानाशङ्क्यः । अवगते तु तस्मिन् स्मारकानपेक्षत्वादेव न तदुपादानम् । न चैवं यत्र स्वत एवार्थस्स्मृतः तत्र विहितमन्त्रपाठानापत्तिः । तत्र नियमादृष्टसिद्धयर्थं मन्त्र-

जन्यस्मृतेरेवाभ्युदयकारित्वकल्पनेन मन्त्रपाठावश्यकत्वात् । प्रतिनिधेस्तु कर्मचोदनाक्षिप्तस्य नियमादष्टजनकत्वे प्रमाणाभावात् न पाठ इति वैषम्यम् ।

एवमन्यस्मात्तददृष्टोत्पत्तौ प्रमाणाभावेनादृष्टार्थप्रयाजादिक्रियाया अपि न प्रतिनिधिः । दृष्टार्थावघातादिक्रियायास्तु स समस्त्येव ।

यत्त्वत्र कैश्चिददृष्टार्थस्य षोडशिग्रहणाभावादेरपि न प्रतिनिधिः । तेन षोडश्यभावयुक्तक्रतुप्रयोगसङ्कल्पे कृते यदि दैवादनङ्गमपि तत्र षोडशी कृतः तदा षोडश्यभावस्याभावे तददृष्टार्थं नाभावान्तरं प्रतिनिधेयमित्युक्तम् । तत्र 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यनेन षोडशिग्रहणाभावेऽपि इतराङ्गमात्रादेव क्रतूपकारसिद्धिरित्यवगमात् षोडशिग्रहणाभावस्यादृष्टोत्पादकत्वे प्रमाणाभावात् । अत एव तत्र षोडशिग्रहणे वृथाचेष्टाकृतप्रायश्चित्तमात्रम् ॥ ५ ॥

(६)—प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः॥२०॥

अनारभ्य श्रुतेन 'अयश्निया वै माषा वरकाः कोद्रवाः' इत्यनेन माषादीनां यज्ञाङ्गत्वप्रतिषेधात् यत्र साक्षात्तेषां विधानं तत्रैव विकल्पार्थः प्रतिषेधः । अथवा यत्र धान्यत्वादिना सामान्यधर्मेण विधानं तत्र स्वेच्छाप्राप्तमाषाद्यङ्गप्रतिषेधो 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इतिवत् । अतश्च कर्मशास्त्रानुरोधेन माषादीनां प्रतिनिधिस्थले साधनत्वेऽप्यङ्गत्वाभावात् तत्र न प्रतिषेधः । वक्ष्यमाणयुक्त्या द्रव्यशास्त्रानुरोधेन माषादिरूपसदृशप्रतिनिधि-

स्थले ग्रीह्यवयवत्वादिनैव तेषां ग्रहणादवर्जनीयतया माषाद्युपादानादङ्गत्वाभावेन न प्रतिषेधः । अतस्तेऽपि प्रतिनिधेया इति प्राप्ते—

अयज्ञिया इत्यनर्हार्थप्रत्ययेन साधनत्वमात्रनिषेधाद्विशेषबिहितातिरिक्तस्थले सर्वत्रैव माषादिप्रतिषेधप्रतातेर्न प्रतिनिधेयाः द्रव्यसामान्याभावे तु ग्राह्या एवेति ध्येयम् । अत्र च लक्षणया यज्ञोद्देशेन माषनिषेधविधानात् नैकप्रसरताभङ्गः ॥ ६ ॥

(७)—तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥ २१ ॥

मृते तावद्यजमाने पत्न्यां वा नान्यतरेणान्यतरस्य प्रतिनिधिः यजमाने मृते पत्न्या अग्न्यभावादेवानधिकारात् पत्न्या मृतायां यजमानस्यापि

जायायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीनन्त्यकर्मणि ।

इति पक्षे तावदग्न्यभावादेव, विवाहात्पूर्वमनधिकारात् । तत्रापि विधुराधानपक्षे अनौत्तरवेदिककर्मणां पत्न्याव्यतिरेकेणैव वाचनिकत्वेन पत्नीप्रतिनिध्यप्रसक्तेः । यदा तु नाग्नीनां पत्न्यै दानं तदाऽपि 'तदाहुरपत्नीकोऽप्यग्निहोत्रमाहरेत्' इति वचनात् पत्नीव्यतिरेकेणैव अग्निहोत्रमात्रानुष्ठानमिति न प्रतिनिधिप्रसक्तिः । यदा तु कस्यचित् कर्मणो मध्येऽन्यतरस्य मृतिस्तदा दाहात्पूर्वमेव तत्समापने वक्ष्यमाणरीत्या प्रोषितादिवदेवानुष्ठानमिति न प्रतिनिधिप्रसक्तिः । रोगादिना अशक्तौ कार्यान्तरव्यापृते वाऽन्यतराधिकारिककर्मसु यद्यपि स्वामिनः कालादिवत्प्रयोग-

विध्यविषयत्वात् तत्तदेकत्वादिवदेव न प्रतिनिधिप्रसक्तिः ।
तथाऽपि

सन्ध्यामिष्टिं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत् ।

इत्यादिवचनबलाच्छिष्टाचाराच्चानुमतिद्वारा कर्त्रन्तरेणाप्यनुष्ठानं
स्वत्वत्यागमात्रं तु सति सम्भवे स्वयं कार्यम् । ना चेत्तदपि तेनैव
अग्नय इदं न मदीययजमानस्येत्येवं कार्यम् । उभयाधिकारिकेषु
दर्शादिषु त्यागघटितं कर्मान्यतरेणैव कार्यं द्वयोरपि संसृष्टस्वत्वव-
त्त्वात् । अत एव त्यागोऽपि तादृशस्थले मम यजमानस्य च नेत्या-
दिरूपः । उभयोरशक्तावध्वर्युणैव, असति बाधे सामान्यसमाख्यया
तत्प्राप्तेः । एवं यजमानप्रवासेऽपि । पत्नीचास्तु प्रवासेऽग्निविच्छेद-
एव । एवमान्यावेक्षणादियजमानपदार्थानामध्वर्युणैव करणम् ।
पत्नीपदार्थानां च सामान्यसमाख्याऽनुरोधेन यजमानस्याप्राप्तेः ।
एवं फलिसंस्कारवपि आनीयमाने फलाभावात् न प्रतिनिध्याश-
ङ्का । अतस्तेषामशक्त्यादौ लोप एव । न तु दम्पतिभ्यां पर-
स्परमपि करणं, तत्तद्वाक्ये यजमानत्वादेरुद्देश्यतावच्छेदककोटि-
प्रविष्टत्वात् । अध्वर्यादीनामशक्त्यादौ तु अध्वर्याद्यन्तरमेवोपा-
देयमिति न तत्र प्रतिनिधिः ॥ ७ ॥

(८)—बहूनां तु प्रवृत्तेऽन्यमागमयेदवैगुण्यात् ॥

एवं तावत्स्मृत्याचारप्रामाण्यात् क्वचित्कर्त्रन्तरसत्त्वेऽपि
न्यायेन तत्प्रतिनिधिरिति स्थितेऽपवादः क्रियते—सत्त्रमध्ये क-
स्यचिद्यजमानस्य मरणे तत्प्रतिनिधिरन्यः कार्य एव । काम्य-
स्यापि प्रारब्धस्यावश्यं समापनीयत्वात् । यद्यपि च मुख्यकर्तुः
प्रयोगविध्यविषयत्वाच्च प्रतिनिधिः न वा मृतेन तदुपादानस-

म्भवः । तथाऽपि 'साङ्गकर्तारि सप्तदशावरास्सत्त्रमासीरन्' इति वाक्येन साप्तदश्यविधानात् साप्तदश्यरूपाङ्गसम्पत्त्यर्थमन्योपादानमवशिष्टैः यार्थम् । न च तस्याख्यातोपात्ताधिकारिसङ्ख्याविशेषत्वादानीयमानस्य च वक्ष्यमाणरीत्या फलभोक्तृत्वाभावाद्धिकारित्वानुपपत्तेः कथं तमादाय साप्तदश्यसम्पत्तिः । फलभोक्तृत्वाभावेऽपि कर्तृनिष्ठत्वमात्रेणैव साप्तदश्योपपत्तेः । अत एवार्त्विज्येऽपि 'ये यजमानास्त ऋत्विजः' इत्यनेन जघन्यऋत्विक्पदे आर्त्विज्यलक्षणामङ्गीकृत्य तदुद्देशेन यजमानानां कर्तृत्वविधानात् यजमानपदस्य च शानजन्ततया आत्मनेपदरूपत्वेन फलभोक्तृत्वविशिष्टकर्तृत्ववाचित्वेऽपि यथाशक्ति प्रयोगेण भोक्तृत्वाभावेऽप्यानीयमानस्य कर्तृत्वसत्त्वात् सङ्ख्यासम्पत्त्यविधातः । ततश्च सङ्ख्यासम्पत्तये न्यायेनैवात्र प्रतिनिध्युपादानम् । एवं च न्यायप्राप्तेः पूर्वमेव प्रवृत्तेन "यदि सत्त्राय दीक्षितानां प्रमीयेत योऽस्य नेदिष्टस्स्यात् तं तस्य स्थाने दीक्षयित्वा तेन सह यजेरन्" इत्यनेन वचनेन नेदिष्टत्वविधानार्थं पुनर्विधिः । अत एवेदमधिकरणं शिष्यव्युत्पत्तिमात्रार्थं, तदभावेऽपि वचनेनैवान्यागमोपपत्तेः । अत्र च पत्नीमरणेऽपि 'तेन सह यजेरन्' इति पुल्लिङ्गनिर्देशात् यजमानसाप्तदश्येनैव च सङ्ख्याया अपि सम्पत्तेः तत्कर्तव्यपदार्थानां च पत्न्यन्तरेण यजमानैरेव वा सिद्धेः नान्यानयनम् । अत एव तादृशस्थले पत्न्या नाग्निभिर्दाहः । किन्त्वग्न्यन्तरेणैव । यजमानस्य तु मृतस्य पृथक्कृतस्वाग्निभिर्दाहेऽप्यनाहिताग्निसाधारण्येन आनीतस्याग्निसंसर्गे प्रमाणाभावात् ऋत्विग्वदेव कर्तृत्वोपपत्तिः ॥ ८ ॥

(९)—स स्वामी स्यात् तत्संयोगात् ॥ २३ ॥

कर्मकरो वा भूतत्वात् ॥ २४ ॥ तस्मिंश्च
फलदर्शनात् ॥ २५ ॥

पूर्वाक्षेपेणेदं आनीयमानस्य न कर्तृत्वमात्रं, अपि तु स्वा-
मित्वमपि तत्स्थानापन्नत्वात् दीक्षारूपफलसंस्कारश्रवणाच्चेति
प्राप्ते—

न तावदत्र सत्त्रफलं तस्य वैगुण्ये सत्यनुपपत्तेः । तद्धि
न तावदानीतस्य साङ्गकर्तृत्वाभावात् । अत एव न मृतस्यापि ।
नाप्यवशिष्टानां सप्तदशस्वामिकसत्त्रकर्तृत्वाभावात् । अवशिष्टैस्तु
शिष्टविगर्हणादोषपरिहारार्थमवश्यं क्रतुसमापने सामाद्युपायैस्स-
ङ्ग्यासम्पत्त्यर्थमन्यस्समानीयते । अत एव प्रारम्भानिमित्तक-
समापनसाध्यपापक्षयोऽप्यवशिष्टानामेव नानीतस्य प्रारम्भरूपनि-
मित्ताभावात् । अतस्तस्य कर्तृत्वमात्रमिति सिद्धम् ॥ ९ ॥

(१०)—स तद्धर्मा स्यात् कर्मसंयोगात् ॥ २६ ॥

फलसंस्काराः ब्रह्मचर्यपयोव्रतादय आनीतस्य फलित्वा-
भावादप्राकृतकार्यकारित्वापत्तेर्न कर्तव्याः । अवशिष्टानां तु सत्त्रफ-
लाभावेऽपि प्रारम्भानिमित्तकपापक्षयस्य सत्त्वात्कर्तव्याः । अत
एव फलिसंस्काराणां प्रकृतौ प्रधानफलाधानयोग्यताजननार्थत्वात्
यदा प्रधानकरणात्पूर्वं मृतिस्तदैव तेषां फलिसंस्काराः । पापक्षयस्य
प्रधानजन्यत्वात् न तदूर्ध्वमिति ध्येयम् । दीक्षाकरणं त्वानी-
तस्य वाचनिकमप्राकृतं कार्यमिति प्राप्ते—

यद्यपि न तस्य फलित्वं तथाऽप्यन्येषां फलिसंस्कारकर्त-
रि साप्तदश्यसम्पत्त्यर्थमानीतस्यापि ते कार्याः । न च ब्रह्मच-

र्यादिषु पुरुषस्य संस्कार्यत्वेन कर्तृत्वस्यार्थिकत्वात्सङ्ख्यायाश्च
 वैध एव कर्तृत्वे निवेशात् फलिसंस्कारकर्तरि साप्तदश्याभावः
 वैधावैधसाधारणावश्यककर्तृत्वद्वारेणैव लाघवात् साप्तदश्यस्य
 सत्त्वाङ्गत्वोपपत्तेः । अतस्तत्सम्पत्त्यर्थं कर्तव्या एव फलिसंस्काराः ।
 ननु 'साप्तदशावराः' इत्यनेन सत्त्वप्रयोगकर्तृपरिच्छेदकत्वेन सा-
 प्तदश्यं विहितं न तु प्रत्येकं, तत्तत्पदार्थैः । प्रत्येकपदार्थानां साप्त-
 दशभिरकरणात् । न चानुमतिद्वारा साप्तदशानां सर्वत्र कर्तृत्वं
 तथात्वे फलिसंस्कारिष्वप्यनुमतिद्वारेणैव साप्तदश्यापपत्तैरानीते
 फलिसंस्कारकरणानापत्तेः । किञ्चैवं मृतस्यैव पूर्वकाले अनुम-
 तिसत्त्वात् सङ्ख्यासम्पत्तिसम्भवेनानयनवैयर्थ्यम् । मृतकर्तव्य-
 पदार्थानुष्ठानार्थमानयनमिति चेत्तेषां कर्मान्तरेष्विव आध्वर्या-
 दिसमाख्यया 'इतरमन्यस्तेषाम्' इति न्यायेन वा कर्त्रन्तरैरेव
 सिद्धेः । अतश्चानयन एव प्रमाणाभावे कुतस्त्यं संस्कारक-
 ल्पनामेति चेत्—तन्न—न्यायेन तदसिद्धावपि वचनेनैव त-
 त्सिद्धेः । अत एवोक्तवचने दीक्षितमरणे निमित्ते दीक्षानेदि-
 ष्टसाहित्याद्यनेकगुणविशिष्टनैमित्तिकव्याप्यतावत्पदार्थप्रयोगस्यैव
 विधानात् न वाक्यभेदः । दीक्षा चाप्राकृतकार्याऽपि वचनादेव
 विधीयते । तस्याश्च यमनियमपीरग्रह रूपत्वात् ब्रह्मचर्यादिसिद्धिः ।
 एवं च येकेचित्त्रिन्नास्संस्कारास्ते न कार्या इति प्रतिभाति ।
 सत्त्वाय दीक्षितानामिति श्रवणाच्च नाहीने तदानयनम् ॥ १० ॥

(११)—सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ॥ २७ ॥

एवं प्रतिनिधौ विचारिते किं सति सम्भवे सहश एव
 प्रतिनिधिरुतानियम इति चिन्तायां—कर्मचोदनया यत्किञ्चिद्-

व्यमात्राक्षेपात् द्रव्यशास्त्रस्य च नीवारेषु ब्रीहित्वाभावेन सद-
शनीवारादिनियामकत्वामावात् न सदशनियमः । न च ब्रीह्य-
वयविनस्स्वावयवैरत्यन्तभेदाभावात्तदवयवानामेव कतिपयानां नी-
वारोपादानतया नीवाराभिन्नतया ब्रीहिशास्त्रेणैव तद्विधानमिति
वाच्यम् । तथात्वे ब्रीहिसत्त्वेऽपि नीवारोपादाने वैगुण्याभावप्रस-
ङ्गादिति प्राप्ते—

ब्रीहिशास्त्रेण ब्रीहित्वजातेस्साधनत्वे प्रमिते अमूर्तायास्त-
स्यास्साधनत्वासम्भवादर्थोत्तत्परिच्छिन्नस्यावयविनस्साधनत्वम-
वगम्यते । तस्यापि चावयवोपादानव्यतिरेकेण साधनत्वासम्भ-
वात् तदवयवानामपि साधनत्वमथादेवावगम्यते । तज्जातीयाव-
यवानामेव च कतिपयानां विजातीयावयवान्तरोपेतानां नीवा-
रारम्भकत्वमिति यथाशक्तिप्रयोगे जातेरवयविनो अवयवान्तरा-
णां च साधनत्वासम्भवेऽपि कतिपयावयवानामेव तत्सम्पत्त्य-
र्थमवर्जनोपतया नीवारविजातीयतदवयवोपादानमिति सदृशप्र-
तिनिधिनयमसिद्धिः । अत एव सादृश्यं समानजातीयावयवार-
व्यत्वेनैव नियामकं न तु समानजातीयधर्मान्तरेण तस्य ब्री-
हिशास्त्राविषयत्वात् । एवं च ब्रीह्याद्यभावे सुसदृशं तदभावे
मन्दसदृशमित्यादिक्रमेण बोध्यम् ॥ ११ ॥

(१२)—निर्दशान्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ॥ २८ ॥

अशब्दमिति चेत् ॥ २९ ॥ नानङ्गत्वात् ॥

वैकल्पिकेषु 'खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति' इत्यादिषु
एकेन प्रकान्ते प्रयोगे यदि तस्यापचारः तदा वैकल्पिकान्त-
रमेवोपादेयं न तु पूर्वोपात्तसदृशं वैकल्पिकान्तरस्याप्युद्देश्य-

तावच्छेदकसामानाधिकरण्येन विहितस्य तस्मिन्नपि प्रयोगे अ-
ङ्गत्वस्वरूपयोग्यतया मुख्यत्वेन जातिव्यक्तिसर्वावयवानामेव सा-
धनत्वसम्भवे पूर्वोपात्तारम्भककतिपयावयवमात्रग्रहणे प्रमाणा-
भावादिति प्राप्ते—

तस्मिन्नपि प्रयोगे इतरस्याङ्गत्वेन तदभावकृतवैगुण्यापत्तेर-
वश्यं वैकल्पिकस्थले तत्तद्वाक्ययोस्तत्तद्वदितप्रयोगमात्रविषयक-
त्वावसायात् तत्प्रयोगे इतरस्याङ्गत्वाभावेन पूर्वोपात्तसदृशमेवो-
पादेयम् । अत एवाग्नेयत्वादिव्याप्यधर्मावच्छिन्नं प्रत्येव व्रीह्या-
देः कारणत्वमित्युक्तं कौस्तुभे । तत्रापि 'वैकल्पिकानामादितोऽ-
वधारणम्' इत्यस्य प्रामाणिकत्वे सङ्कल्पोत्तरमेव तदभावे तु ए-
कोपादानोत्तरमेव तस्यापचार इति द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

(१३)—वचनाच्चान्याय्यमभावे तत्सामान्येन
प्रतिनिधिरभावादितरस्य ॥ ३१ ॥ न प्र-
तिनिधौ समत्वात् ॥ ३२ ॥ स्याच्छ्रुति-
लक्षणे नियतत्वात् ॥ ३३ ॥ न तदीप्सा
हि ॥ ३४ ॥

'यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयात्' इत्यादौ किं-
सोमाभावे पूतीकत्वेन रूपेण पूतीकानां विधानं उत? प्रतिनि-
धिविधया पूतीकगतसोमावयवानां नियम इति चिन्तायां—
प्रतिनिधिनियमे पूतीकपदस्य तद्वत्सोमावयवे लक्षणापत्तेरभावे
विधिरेवायम् । न च नियमविधिलाघवानुरोधेन तदङ्गीकरण-
मप्यदोषः । निषादस्थपत्याधिकरणन्यायेनापूर्वविधिगौरवस्य फ-

लमुखत्वात् । अभावे विधिपक्षऽपि प्रतिनिधिनियमस्यार्थसिद्ध-
त्वाल्लाघवस्यास्मन्मतेऽपि सत्त्वाच्च । न ह्ययं त्वन्मतेऽपि शाब्दः
प्रतिनिधिनियमः । अपितु फलतः । तच्च फलं ममाप्यविशिष्टमेव ।
किञ्च—सोमाभावे सुसदृशस्यान्थस्यैव प्राप्तेः मन्दसदृशानां पूती-
कानां पक्षप्राप्त्यभावादेव नियमविषयत्वानुपपत्तिः । अतः पूती-
कत्वेन रूपेण पूतीकानामपि सोमाभावे विहितत्वात्तदपचाद-
पूतीकसदृशमुपादेयीर्याति प्राप्ते—

नाभावे विधिरयं तथात्वे पूतीकत्वस्य तदवच्छिन्नव्य-
क्तेस्तदवयवान्तराणां च सोमावयवविजातीयानां करणत्वकल्प-
नागौरवापत्तेः प्रतिनिधिनिर्णये तु क्लृप्तसोमावयवनिष्ठकरणता
क्षिप्तोपादानकपूतीकपरिच्छेदकत्वेन यागोद्देशेन पूतीकत्वनियम-
मात्रविधानात् पूतीकव्यक्त्यवयवानां यागकरणत्वाकल्पनाल्लाघ-
वम् । अत एव न लक्षणाऽपि । 'पूतीकानभिषुणुयात्' इत्यत्र तु
तृतीयाया अश्रवणात् द्वितीयया यागप्रयोजकत्वस्यैव निरुक्त-
सम्बन्धेन लक्षणेऽपि न दोषः । यद्यपि च तेन सम्बन्धेन पू-
तीकत्वस्यैतद्विध्यभावे न पक्षे प्राप्तिः । पूतीकानां मन्दसदृशत्वेन
सोमाभावे सुसदृशस्यैव प्राप्तेः । तथाऽपि कर्मचोदनया यत्किञ्चि-
त्प्रतिनिधिप्रसक्तौ सदृशन्यायेन नियमकरणात्पूर्वमेवैतद्वचनप्रवृ-
त्त्या नियमोपपत्तेः । अत एव पूतीकगतसोमावयवनियमफलक-
पूतीकत्वनियमकरणेऽपि न पूतीकानां सुसदृशाभावे उपादानं,
किन्तु सोमाभाव एव, वचनस्यैव शीघ्रप्रवृत्तिकतया नियाम-
कत्वात् 'याद सामम्' इति अनुवादसामर्थ्याच्च । एवं च पूती-
काप्रकारे सोमपूतीकौभयसदृशं ग्राह्यम् । पूतीकत्वस्यापि कारण-
कोटौ प्रवेशात् ॥

यस्तु शास्त्रदीपिकायां मेतादृशविषये सोमसदृशमेव ग्राह्य-
मित्युक्तं. तत् तन्त्ररत्नविरोधादुपेक्षितम् । तदभावे तु सोममाश्र-
सुसदृशं पूतीकत्वावच्छिन्नसंसर्गस्य सोमावयवाङ्गत्वेन 'गुणलोपे
च' इति न्यायेन बहुतरसोमावयवानामेवानुग्राह्यत्वात् । अभावे
विधिपक्षे तु सोमाभावे निमित्ते पूतीकानामेवाङ्गत्वात्तत्सदृश-
मवेति विशेषः । अत एव यत्र ग्रीह्यादौ तदवयवत्वेनैव
नीवारप्रतिनिधिः तत्र नीवारत्वस्यानङ्गत्वात् तदपचारे ग्रीहि-
सदृशमेवोपादेयं न तूभयसदृशमित्यपि सुलभम् । अत एव
मूले उभयविधप्रतिनिध्यपचारे अधिकरणद्वयं कृतं तत्तु मया
स्पष्टत्वादुपेक्षितम् ॥ १३ ॥

(१४)—मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभा-
वात् ॥ ३५ ॥ प्रवृत्तेऽपीति चेत् ॥ ३६ ॥
नानर्थकत्वात् ॥ ३७ ॥

यदा मुख्यमलङ्घ्यं मत्वा प्रतिनिधिमुपादातुं प्रवृत्त उपा-
दाय वा द्वित्राः सर्वे वा संस्काराः कृताः, कार्यं न कृतं
तत्र कार्यकरणात्पूर्वं मुख्यलाभे तमेवोपादाय पुनस्संस्कारान्
आशु कृत्वा तेनैव प्रधानं कार्यं मुख्यसम्भवे विकलोपादा-
नस्य वाचनिकस्याप्यन्याय्यत्वात् । न च प्रतिनिधित्यागे सङ्क-
ल्पबाधः द्रव्यांशे पृथक्सङ्कल्पे प्रमाणाभावात् । सत्त्वेऽपि वा 'य-
थाशक्ति शास्त्रार्थं सम्पादयिष्ये' इत्येव सङ्कल्पात् । प्रधानानुरो-
धेन पुनस्संस्कारकरणस्य न्याय्यत्वाच्च । यदा तु प्रतिनिधिनैव का-
र्यं निष्पन्नं तदा प्रयोजनाभावात् न मुख्यमुपादेयम् । मुख्या-
भावनिमित्तकप्रायाश्चत्तमात्रमेव तु कार्यम् ॥ १४ ॥

(१५)—द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ॥

३८ ॥ अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे त-

दुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात् ॥ ३९ ॥

यदा नियोजनादिकार्यमात्रयोग्यो मुख्यः तक्षणादिसकल-
संस्कारयोग्यस्तु प्रतिनिधिस्तदा मुख्यस्यैवोपादानं 'संस्काराणां
तु गुणलोपे च मुख्यस्य' इति न्यायेन लोपेऽपि न दोषः । न
चान्यत्र तथात्वेऽपि यूपस्य दृष्टादृष्टसंस्कारसमूहरूपत्वाच्च सं-
स्काराणां काष्ठाङ्गत्वमिति वाच्यम् । लाघवेन सकलसंस्कारजन्य-
परमापूर्वविशिष्टकाष्ठस्यैव यूपपदार्थत्वात् । अत एव 'यूपं तक्ष-
ति' इत्यादौ काष्ठस्यैव संस्कार्यत्वाच्च काऽप्यनुपपत्तिः । यत्र तु
प्रधानभूतनियोजनासमर्थमेव मुख्यं तत्र तदनादरेण प्रतिनिधिनैव
कार्यसम्पादनं द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

(१६)—विधिरप्येकदेशे स्यात् ॥ ४० ॥ अ-

पि वाऽर्थस्य शक्यत्वात् एकदेशेन निर्व-

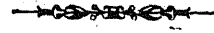
र्तेतार्थानामविभक्तत्वाद्गुणमात्रमितरत्तदर्थ-

त्वात् ॥ ४१ ॥

यत्र त्वश्वशफपरिमाणशेषकार्याद्यपर्योक्ताः पुरोडाशत्वजा-
तिमात्राभिव्यक्तिसमर्था व्रीहयो लभ्यन्ते तत्र तेनैव पुरोडाशं
कृत्वा प्रधानमनुष्ठेयम् । शेषकार्याणां लोपः । न च बहूनां शेष-
कार्याणां पुरोडाशाङ्गभूतानां पुरोडाशाङ्गभूतैकव्रीहानुरोधेन लो-
पासम्भवः । व्रीहीणामपि यागोद्देशेन विहिततया यागाङ्गत्वेन
पुरोडाशाङ्गत्वाभावात् । न चोत्पत्तिशिष्टपुरोडाशावरोधात् व्रीहि-

भिः' इति तृतीया प्रयोजकत्वपरेति वाच्यं, पुरोडाशद्वारकत्व-
रूपव्यापारकत्वेऽपि करणत्वस्य 'काष्ठैः पचति' इत्यादिवदुपपन्न-
तरत्वेन लक्षणायां प्रमाणाभावात् । अतश्चैकप्रधानाङ्गानुरोधेना-
नकेषामप्यङ्गानां लोपो नायुक्तः ॥ १६ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां
षष्ठस्याध्यायस्य तृतीयः पादः.



अथ षष्ठस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः.

(१)-शेषाद्वयवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥
निर्देशाद्वाऽन्यदागमयेत् ॥ २ ॥

दर्शादौ यदा सकलस्य पुरोडाशस्य दधिपयसोरन्यत-
रस्य वा हविषस्सम्पूर्णस्य नाशस्तदा प्रधानानुरोधेन हविरन्तरो-
त्पत्तौ प्रसक्तायां "यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुर्दुष्येयुरपहरेयुर्वा
आज्येनैता देवताः परिसङ्ग्राह्य यजेत" इति श्रुतेन आज्येनैव याग
इत्यविवादम् । अत्र हि नाशादीनां प्रत्येकं निमित्तत्वे वाक्य-
भेदापत्तेरुत्पन्नहविरयोग्यत्वमेव 'अर्धमन्तर्वेदि' इति चत् लक्षणया
निमित्तं, न तु हविरलाभः, नाशाद्युल्लेखवैयर्थ्यापत्तेः । अत एवा-
नुत्पन्नपुरोडाशाद्यसम्भवेनाज्यनियमः, किन्तु यत्किञ्चिदनियतप्र-
तिनिधुपादानमेव । एकदेशनाशादौ तु यदि द्वयवदानग्रहणोत्तरं
पात्रीस्थस्य कुम्भीस्थस्य वा नाशस्तदा भाष्यकारमते ताव-

द्वयवदानस्यैव हविष्ठात् शेषकार्याभावेऽपि तेनैव यागः ।
 वार्तिककारमते तु यावन्निरुप्तव्रीहिपरिमितपुरोडाशस्य याव-
 दुग्धं सान्नाय्यस्य च हविष्ठात् हविर्नाशसत्त्वेन पात्रीस्थना-
 शेऽपि आज्येनैव यागः । एवं तन्मते द्वयवदाननाशेऽपि हवि-
 र्नाशविशेषाद्विरन्तरोत्पत्तिप्रसक्तौ वचनादाज्येन यागः । भा-
 प्यकारमतेऽपि तादृशविषये आज्येनैव यागो न पुनः पात्रीकु-
 म्भीस्थादवदानम् । 'मध्यात् पूर्वार्धाच्चावयति' इत्यनेन कृत्स्नस्य
 यावदुत्पत्तस्य प्रकृतस्य पुरोडाशादेः यो मध्यादिदेशस्तदपा-
 दानतयोपरितनभागस्यैवावदेयत्वात् । तस्य च नष्टत्वेन पुन-
 रवदाने मध्यादेरेवावदेयत्वप्रसङ्गात् । अतस्तत्रापि हविरन्तरो-
 त्पत्तिप्रसक्तौ आज्येन यागः । न च सर्वमते हविष्ठावच्छिन्न-
 नाशादिना हविरयोग्यत्वस्य निमित्तत्वे द्वित्रयवयवनाशेऽपि
 आज्येन यागापत्तिः । निमित्तज्ञानस्यैव नैमित्तिकानुष्ठापकतया
 तादृशनाशस्य नित्यतया वा निमित्तत्वानुपपत्तेः । अङ्गुष्ठपूर्व-
 न्यूनावर्जनीयातिरिक्तावयवनाशे तु भवत्येवाज्येन यागः । तदेव
 मीमांसकमर्यादा । याज्ञिकास्तु तां न मन्यन्ते । तेषामयमा-
 शयः—एकदेशदाहवदेवैकदेशनाशस्य न निमित्तत्वं एकदेशना-
 शेऽपि पुरोडाशाज्यपयोदाधित्वादेः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्तस्यैव हवि-
 ष्ठावच्छेदकत्वेन यावन्निरुप्तव्रीहिपरिमितत्वादेस्तदनवच्छेदकत्वात्
 तन्नाशस्यावर्जनीयत्वाच्च । अतः एकदेशनाशेऽप्यवशिष्टस्यैव
 यागः । होमः परं मध्यापादानकत्वाभावे द्वयवदानासम्भवाल्लु-
 प्यताम् ॥

वस्तुतस्तु—यावदवशिष्टं तस्यापि हविष्ठात्तन्मध्यापादान-
 कत्वं सम्भवत्येवेति होमोऽपि कार्य एव । अत एवाश्वलायनः

‘द्वयवदाननाशे पुनरायतनादवदानम्’ इति । अतश्च यद्यपि मीमांसकमते न्यायसिद्धं भवेत् तथाऽपि स्मृत्यनुमितवचनेन तद्वाधोऽभिष्टुति सुब्रह्मण्योहवत् । ‘आग्नेयी सुब्रह्मण्या कार्या’ इत्यनेन ऐन्द्रयाः बाधः । कृत्स्नहविर्नाशे तु अनेकहविष्कायामिष्टौ कतिपयहविर्नाशे हविरन्तरोत्पत्तिरेव । सर्वहविर्नाश एवाज्येन पुनरुत्पादितेन यागः । अत एवापस्तम्बः “यद्यप्रत्तदेवतं हविः व्यापद्येत् अन्यद्विस्तदैवत्यं निर्वपेत् । यस्य सर्वाणि हवींषि आज्येनैता देवताः परिसङ्ख्याय यजेत” इति । यद्यपि चोत्तरवाक्ये श्रुतौ च सर्वत्वमविवक्षितं, तथाऽपि पूर्ववाक्यवैवर्याद्यापत्तेः हविरुभयत्ववदविरुद्धा सर्वनाशस्य निमित्तता ॥ १ ॥

(२)-अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणत्वात् ॥ ३ ॥

यत्र तु त्यागांशयुक्तानि शषकार्याणि यथा स्विष्टकृदादौ तत्रोत्तरार्धादिनाशे उत्तरार्थान्तराभावादवशिष्टस्य प्रतिपत्त्यन्तरगृहीतत्वाच्च न तावच्छेषेण करणम् । नापि हविरन्तरोत्पत्तिः अप्रयोजकत्वात् । किन्त्वाज्येनैव समापनम् । उक्तवचनस्य श्रुतद्रव्यनाशे द्रव्यापेक्षामात्रेणैव प्रवृत्तेः । याज्ञिकमते तु “यदि प्रत्तदेवतमाज्येन शेषं संस्थापयेत्” इत्यापस्तम्बवचनादवधेयम् । अविशेषप्रवृत्तमपीदमपेक्षानुरोधात्स्विष्टकृत्परमेव । अतस्त्यागांशाभावादिडादेः लाप एव । इदं चोत्तरार्धत्वादिनाऽनेकप्रतिपत्तिविधाने । शेषत्वेनानेकप्रतिपात्तविधाने तु शेषैकदेशविनाशेऽप्यवशिष्टेनैवावयवशस्सर्वप्रतिपत्तिकरणमिति ध्येयम् ॥

(३)-निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ॥ ४ ॥
 सर्वैर्वा समवायात्स्यात् ॥ ५ ॥ निर्देशस्य
 गुणार्थत्वम् ॥ ६ ॥ प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ॥
 अर्थवदिति चेत् ॥ ८ ॥ न चोदनाविरो-
 धात् ॥ ९ ॥

शेषप्रसङ्गादिह दर्शपूर्णमासयोश्शेषभक्षाः श्रुताः । तत्रेडा-
 भक्षे 'यजमानपञ्चमः इडां भक्षयन्ति' इति श्रुताः कर्तारः । तथा
 प्राशिन्नभक्षे 'प्राशिन्नं ब्रह्मणे परिहरात' इति श्रुतः । चतुर्धा
 करणभक्षेऽपि व्यादेशान्नाञ्चत्वार ऋत्विजः यजमानभागब्रह्म-
 भागयोस्तावेव । शंयुवाककालभक्षे तु 'हविदशेषान् भक्षयन्ति'
 इत्याम्नातेन बहुवचनेन आध्वर्यवसमाख्याबाधेऽपि कर्मकरत्वा-
 त्सर्वे ऋत्विजो भवन्ति । न चेडाभक्षे न्यायप्राप्तत्विक्पुनश्श्रवण-
 स्य परिसङ्ख्यार्थत्वात् शंयुवाककालभक्षे तदन्य एव भवेयुरिति
 बाध्यम् । ऋत्विजां प्राप्तत्वेऽपि अप्राप्तयजमानसाहित्यस्यैव तत्र
 विधेयत्वेन तस्य भक्षान्तरे ऋत्विक्परिसङ्ख्यार्थत्वाभावात् ।
 अत्र हि इडोद्देशेन कर्तृविशिष्टभक्षान्तरविधानेऽपि विशेषणवि-
 धिवेलायां प्राप्ताप्रतविवेकेन भक्षो यजमानसाहित्यं च विधी-
 यते । ऋत्विजां तु भक्षस्य प्रयाजशेषाभिघारणन्यायेन कर्तृसं-
 स्कारकत्वस्यापि वक्ष्यमाणत्वेनानत्यर्थत्वात् प्राप्तिसम्भवेन न
 विधानं, स्वत एवानतत्वाच्चाप्राप्तं यजमानसाहित्यं तु विधीयते ।
 यदि तु करिष्यमाणकर्मणि बलाधानार्थत्वमपि भक्षस्येति विभा-
 व्यते तदाऽस्तु यजमानपञ्चमत्वग्रहणं पत्नीपरिसङ्ख्यार्थम् । सर्व-
 था भक्षान्तरे कर्तृपरिसङ्ख्याभावात् शंयुवाककालभक्षे ऋत्विज

एव कर्तारः । अस्मिंश्च पक्षे तस्मिन् पत्नीयजमानयोर्निवृत्ति-
रत्रैव 'ऋत्विजो हविदशेषान् भक्षयन्ति' इति कल्पसूत्रकारव-
चनादवगन्तव्या ॥ ३ ॥

(४)—अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशोऽपि ॥ १०

न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि ॥ ११ ॥ स्या-

द्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगात्

हि तस्य गुणार्थेनानित्यत्वात् ॥ १२ ॥

गुणानां च परार्थत्वाद्वचनाद्व्याप्यश्रयस्स्यात्

१३ ॥ भेदार्थमिति चेत् ॥ १४ ॥ शेष-

भूतत्वात् ॥ १५ ॥ अनर्थकश्च सर्वनाशो

स्यात् ॥ १६ ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रायश्चित्ताधिकारे 'भिन्ने जुहोति स्फञ्जे
जुहोति' इति श्रुतम् । तत्र कृत्स्नभेद एवेदं उतैकदेशभेद
एव उतोभयत्रापोति चिन्तायां-द्वयोस्सङ्घर्षे सति एकदेशभेदस्या-
वर्जनीयत्वेन नित्यत्वाभिनिमित्तत्वानुपपत्तेस्सर्वभेद एवेदं चूर्णता-
दशायां प्रयश्चित्तमिति प्रथमः पक्षः । सङ्घर्षेण कतिपयावयवा-
नां चूर्णीभावेऽपि भिन्नमिति प्रतीत्यभावात् कापालिकादिस्थू-
लावयवविभाग एव भेदनप्रतीतिः तस्यैवानित्यत्वेन सर्वभेदनव-
देकदेशभेदनस्यापि निमित्तत्वोपपत्तेः तत्रैवायं होमः । अयं
हि भेदनस्य निमित्तत्वेऽपि होमस्य प्रयोजनापेक्षायां सन्निप-
त्योपकारकत्वलाभाय भिन्नकपालसंस्कारार्थः । कपाले हि भेदने-

नेक्तपरिमाणबाधात् वैगुण्यप्रसक्तौ तत्परिहाररूपः' होमेन सं-
स्कारो नानुपपन्नः । तस्य चानुपयुक्तस्य संस्कारायोगात् सर्व-
भेदने चोपयोगायोगादेकदेशभेदनमेव निमित्तम् । अस्तु वा
सप्तमीयं संस्कार्यत्वपरैव न तु निमित्तत्वार्थिकाऽपि । न च
भिन्नस्य कादाचित्कत्वान्नित्यानित्यसंयोगविरोधः रथन्तरस्य का-
दाचित्कत्वेऽपि सम्मीलनादिधर्मविधिवदुपपत्तेरिति प्राप्ते—

भाण्युपयोगित्वे भूतोपयोगित्वे वा तस्योपधानावश्यकत्वे—
'भिन्नं कपालमप्सु प्रक्षिपति अन्यदुपदधाति' इतिवाक्यविरोधात्
नायं स्वतन्त्रो होमो भिन्नसंस्कारकः । नापि प्रकरणपठितहोमा-
नां तत्संस्कारकत्वम् । एतेन प्राकरणिकहोमानुवादेन लौकि-
कस्य भिन्नकपालस्यैवाधिकरणत्वेन विधिराहवनीयबाधेनेत्यपा-
स्तम् । होमस्य प्राकरणिकस्य कपालोपधानोत्तरत्वात् 'अन्य-
दुपदधाति' इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः प्रायश्चित्तसमाख्यानुपपत्तेश्च ।
अत एवेदं कर्मान्तरं तच्च नैमित्तिकं आरादुपकारकं क्रतुवैगु-
ण्यपरिहारार्थं क्रत्वङ्गत्वेन विधीयते । अतस्सर्वभेदनमेकदेश-
भेदनमुभयमप्यत्र निमित्तम् ॥ ४ ॥

(५)—क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्यावर्जनी-
यत्वात् ॥ १७ ॥ दर्शनाद्वैकदेशो स्यात् ॥ १८
अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ॥ १९
तद्वविशब्दान्नेति चेत् ॥ २० ॥ स्याद-
न्यायत्वादिज्यागामी हविशब्दस्तल्लिङ्गसं-
योगात् ॥ २१ ॥

तत्रैव' 'यस्य पुरोडाशौ क्षायतस्तं यज्ञं वरुणो गृह्णाति यदा तद्धविस्सन्तिष्ठते अथ तदेव हविर्निर्वपेत्' इति श्रुतप्रायश्चित्ते सर्वपुरोडाशदाहरूपं क्षाणमेव निमित्तम्। अग्निपाक्ये हविषि एकदेशक्षाणस्यावर्जनीयत्वात् । न चावर्जनीयक्षाणातिरिक्तैकदेशक्षाणस्यैव निमित्तत्वं, तस्यैव परिच्छेत्तुमशक्यत्वात्। न च 'तद्धविस्सन्तिष्ठते' इति श्रवणात्-अवशिष्टेन हविषा यागप्रतीतेः एकदेशक्षाणस्यैव निमित्तत्वं, प्रयोगसमाप्तावेवैवजातीयशब्दप्रयोगस्य सर्वत्र दर्शनेन प्रयोगसमाप्तेरेव लक्षणया प्रकृतेऽपि प्रतिपादनीयत्वात् । अतस्सर्वक्षाण एवेदं पुनःप्रयोगरूपं प्रायश्चित्तम् । 'यद्देवत्यं हविर्व्यापयेत्, अन्यत्तद्देवत्यं निर्वपेत्' इत्यापस्तम्बवचनात्सर्वदाहे प्रायश्चित्तम् । यदि वाऽवदानेभ्यो न प्रभवेत्' इत्यापस्तम्बेन सर्वदाहे अवदानापर्याप्तैकदेशदाहे वा पुनःप्रयोगविधानेन तद्भिन्नैकदेशदाहे प्रायश्चित्तानुपपत्तेः । अतएवैकदेशदाहस्य परिच्छेत्तुं शक्यत्वेऽप्येतन्मूलभूतश्रुत्यैव तत्र प्रायश्चित्तासम्भवः । तादृशैकदेशक्षणे तु प्राक्तननाशधिकरणन्यायेनाज्येन दग्धावशिष्टेन वा प्रयोगसमाप्तिमात्रम् । एवं सर्वक्षणेऽपि प्रयोगसमाप्तिः आज्येन पुरोडाशान्तरोत्पत्त्या वा द्रष्टव्या ॥ ५ ॥

(६)-यथाश्रुतीति चेत् ॥ २२ ॥ न तल्लक्ष-

णत्वादुपपातो हि कारणम् ॥ २३ ॥

दधिपयसोरेकैकस्य नाशे प्रायश्चित्तमुक्त्वा 'यस्योभयं हविरार्तिमाह्वेत् । पेन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्' इत्याम्नातम् । तत्र च नार्तिमात्रस्य निमित्तता सर्वदेव कस्यचिदार्तिसत्त्वेन नित्यतया निमित्तत्वानुपपत्तेः । अतो 'अर्धमन्तर्वेदि' इतिवल्लक्ष-

णया हविरार्तिनिमित्तमिति तावदविवादम् । अतश्च तद्वदेवोभयत्वमपि उभयपदवैयर्थ्यापत्तेः लक्षणया निमित्तकोटिप्रविष्टमिति उभयहविरार्तिरेव निमित्तम् । न ह्यत्रैकवचनादिवत् साधुत्वादिकं प्रयोजनमस्तीति प्राप्ते—

ग्रहैकत्वाधिकरणन्यायेनेप्सितोद्देश्यविशेषणस्येव निमित्तरूपोद्देश्यविशेषणस्यापि विवक्षाऽयोगात् विशिष्टलक्षणायाश्चैकवचनाद्यनुरोधेनेव उभयपदानुरोधेन हविरादिपदेषु करणे प्रमाणाभावादुभयपदस्य चोभयमपीत्येवं पूर्वोक्तैकैकनाशप्रायश्चित्तापेक्षयाऽस्य उत्कर्षेण स्तावकतयाऽप्युपपत्तेरुभयत्वस्य निमित्तकोटिप्रविष्टत्वाभावादेकैकहविर्नाशोऽपीदं प्रायश्चित्तम् ॥

वस्तुतस्तु उभयार्तिरेवात्र निमित्तम् । न च तस्यापि नित्यत्वात्क्षेमिचित्तवानुपपत्तिः प्रकरणादेव हविर्विशेषविषयत्वोपपत्तेः । इतरथा भवन्मतेऽपि दधिपयोविषयत्वानुपपत्तेः । अतो दोहद्वयनाश एवेदं प्रायश्चित्तम् । हविःपदमेव त्वविवक्षितम् । अधिकरणं तु हविः प्राप्त्यभावं कृत्वाचिन्तया । वस्तुतस्तु पक्षद्वयेऽपि न हविरादिपदे लक्षणा सर्वेषां पदार्थानामाख्यातार्थान्वयोत्तरं पश्चात्परस्परान्वयोपपत्तेः । एवं च विशिष्टस्य निमित्तत्वानादरो निमित्ततावच्छेदकगौरवभियाऽन्यतरविवक्षयाऽपि निमित्तश्रुत्युपपत्तेरन्यतरपदस्य चाधानवाक्यगतपुंस्त्वस्येवानुदादत्वेनाप्युपपत्तेश्चेति द्रष्टव्यः ॥ ६ ॥

(७)—होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् ॥ २४ ॥

उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम् ॥ २५ ॥

सोमे 'हविर्धाने प्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति' इत्यत्र हविर्धानाधिकरणकप्रावकरणकाभिषवस्याहवनीयाधिकरणकहोमस्य प्रत्यग्गमनस्य सद्दोऽधिकरणत्वस्य च प्राप्तत्वाद्धोमाभिषवसमानकर्तृकं भक्षान्तरमेवेदं गुणाद्विधीयते इत्युक्तम् । तत्र च होमाभिषवयोः क्लृप्तप्रयोजनयोरेव कर्तृपलक्षणत्वान्निमित्तत्वमिति तद्विशेषणस्यैकवाक्योपादानलभ्यसाहित्यस्याविवक्षितत्वम् । यदि त्वत्रार्थिकं निमित्तत्वं होमाभिषवकर्तुरेव तूपादेयत्वात्तद्विशेषणं साहित्यं विवक्षितमित्याशङ्क्येत तथाऽपि प्रयाजशेषाभिधारणन्यायेन भक्षस्य तद्गतकर्तृनियमस्य वा कर्तृसंस्कारकत्वात् हविर्विशेषणस्यैव तद्विशेषणस्याप्यविवक्षा । अभिषवमात्रकर्त्रा नेष्टुश्रेत्रादिना होममात्रकर्तृभिश्चमसाध्वर्वादिभिरपि स भक्षः कर्तव्य इति प्राप्ते—

नियमं प्रति कर्तृसंस्कार्यत्ववादिनः पार्थसारथैर्मते तदापत्तावप्यार्थिकेन विधिना भक्षं प्रति संस्कार्यत्वे उच्यमाने श्रूयमाणेऽपि विधौ कर्तृणामुपादेयत्वाद्विशेषणविवक्षोपपत्तौ आर्थिकेन विधिना विशेषणविशिष्टस्यैव कर्तुरुद्देश्यत्वाङ्गीकारेण साहित्याविवक्षाऽनापत्तिः । अतौऽत्र मिळितयोरेव होमाभिषवयोरार्थिकं निमित्तत्वम् । यदि तु क्त्वाप्रत्ययस्य द्वितीयक्त्वाप्रत्ययान्तपदोपात्तक्रियायामप्यन्वयो नाव्युत्पन्न इत्यभिषवसमानकर्तृकत्वं होम एव विशेषणं विशिष्टहोमसमानकर्तृकत्वस्य च भक्षणभावनायामन्वय इत्युच्यते तदा सुतरां विशेषणविवक्षा । इतरथाऽभिषवस्याप्यविवक्षापत्तेः ॥ ७ ॥

(८)—पुनराधेयमोदनवत् ॥ २६ ॥ द्रव्योत्प-
त्तेर्वोभयोस्स्यात् ॥ २७ ॥

‘यस्योभावग्नौ अनुगतौ आदित्योऽभ्युदियादस्तमियाद्वा पु-
नराधेयमेव तस्य प्रायश्चित्तिः’ इति श्रुतप्रायश्चित्तं किमेकैकाग्रच-
नुगमेऽपि भवेत्? उत सर्वाग्रचनुगतावेवेति चिन्तायां—उभयत्व-
स्य निमित्तविशेषणत्वेन त्वन्मतेऽप्यविवक्षितत्वादेकैकाग्रचनुग-
मेऽपीदं प्रायश्चित्तम् । न च हविरुभयत्ववदेकैकाग्रचनुगमे घ्रातप-
त्यादिप्रायश्चित्तान्तरास्नानादस्योभयविषयत्वम् । तस्यादित्योदया-
द्यभावविषयत्वात् । न चैवमपि प्रकरणादेवकारश्रवणात्पुनः-
पदयोगाच्च कर्मान्तरत्वानुपपत्तेराधानस्य चोत्पत्तिवाक्ये सर्वा-
ग्निजनकत्वस्यैव क्लृप्तत्वेन विधेयसामर्थ्यानुरोधेनोद्देशनिर्णय
इति वाच्यं, उत्पत्तिवाक्येऽप्यग्नीनामुद्देश्यत्वेनाविवक्षितविशेषण-
त्वात् । अत एव योगसिद्धयधिकरणन्यायेनाधानस्य प्रत्याग्नि भिन्न
एव योग इति प्राप्ते—

‘आयतनेषु सम्भारान् निवपति’ इत्यत्रायतनबहुत्वस्य वि-
वक्षितत्वादाधानस्यैकेनैव प्रयोगेण सर्वाग्न्युत्पादकत्वावगतेः वि-
धेयसामर्थ्यानुरोधेन सर्वानुगम एवेदं प्रायश्चित्तम् । अत एव
दक्षिणाग्नेर्भिन्नयोनित्वपक्षाभिप्रायेणात्रोभाविति श्रवणम् । समान-
योनित्वे तु—त्रितयाग्निनाशे बोध्यम् ॥ ८ ॥

(९)—पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधि-
स्स्यात् ॥ २८ ॥ चोदना वा द्रव्यदेवता-
विधिरवाच्ये हि ॥ २९ ॥

‘ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्’ इत्यत्र हविर्नाशे आज्या-
दिना समापने प्रसक्ते प्रतिनिधित्वेन लाघवात्सान्नाय्यानुवादेन
पञ्चशरावपरिमितौदनमात्रविधानम् । न च वाक्यभेदः पञ्च-
शरावौदनपदयोस्समानाधिकरणत्वेन ‘अग्नये दात्रे’ इतिवद्विशि-
ष्टविधानोपपत्तेः ओदनपदस्य तात्पर्यग्राहकत्वेन पञ्चशरावमिति
बहुव्रीहिणैवौदनस्योक्तत्वाच्च ऐन्द्रमिति सान्नाय्यस्येन्द्रदेवताक-
त्वस्यापि सत्त्वात् ‘तावब्रूतां’ इतिवत्पाक्षिकानुवादः ॥

अथ वा तत्तदुत्पत्तिवाक्ये इन्द्रमहेन्द्रभेदेन सान्नाय्यस्य
भेदादैन्द्रयागानुवादेनैव प्रतिनिधिविधानमिति प्राप्ते—

सुबन्तपदद्वयस्य परस्परान्वयाव्युत्पत्तेः बहुव्रीहिणा सामा-
न्यतो द्रव्योपादानेऽपि ओदनत्वादिरूपेणोपादाने प्रमाणाभावात्
तात्पर्यग्राहकत्वमङ्गीकृत्य एकत्रैव पदे विशिष्टलक्षणाङ्गीकारे च
कापि प्राप्तकर्मानुवादेनानेकविधाने वाक्यभेदानापत्तेर्वाक्यभेदा-
पादकगुणादेव कर्मान्तरमिदं प्रायश्चित्तत्वेन विधीयते । समा-
प्तिस्त्वाज्यादिनैव । ‘अग्नये दात्रे’ इत्यापि तु न देवतामात्रवि-
धिपक्षाश्रयणं वाक्यभेदप्रसङ्गात् अपि तु भावनान्तरविधिपक्ष
एव । न चैवमत्रापि भावनान्तरत्वापत्तेर्यागान्तरत्वानापत्तिः, उ-
त्पत्त्यन्वयिनो गुणस्य वाजिनवद्यागभेदकत्वावश्यंभावात् । अभ्यु-
दितेष्टौ तु पूर्वदेवतापनयविधानात् यच्छब्दश्रवणाच्च विशिष्य
पूर्वयागीयत्वप्रतीतेर्भावनामात्रभेद इति विशेषः ॥ ९ ॥

(१०)—स प्रत्यामनेत् स्थानात् ॥ ३० ॥

अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ॥ ३१ ॥

तदिदं कर्मान्तरं द्रव्यनाशप्रयुक्तवैगुण्यपरिहारार्थत्वेन सा-

आय्याङ्गतया विधीयते न तु तत्फलार्थं तत्स्थाने तत्फलस्य
पापक्षयादेशिशष्टविगर्हणनिमित्तकस्य वा साम्नाय्ययागेनैव सि-
द्धेस्साधनान्तरानपेक्षत्वात् । न हि द्रव्यनाशे यागलोपः, द्रव्या-
न्तरात्पत्त्या आज्येन वा तत्समापनोपपत्तेः । न च स्व-
र्गादिरूपस्य फलस्य वैगुण्ये सत्यनुत्पत्तेः तस्य साधनापेक्षायां
यागस्य विधानमिति वाच्यं, तथात्वे तत्कामनाभावे तदनुष्ठाने नि-
मित्तश्रुतेस्सङ्कोचापत्तेः अतः अपेक्षितवैगुण्यसमाधानार्थत्वेनैवास्य
विधानम् । अपेक्षा च साम्नाय्ययागस्यैवेति तस्यैव विशिष्यो-
पस्थितत्वात् तद्वाचकपदकल्पनया वाक्यात्तदङ्गत्वमेव । न तु
प्रकरणात्सर्वाङ्गत्वम् । अनुष्ठानसादेत्याद्दर्शमात्राङ्गत्वं वा । अत एव
नाशे निमित्ते प्रयोगान्तःपात्येवेदमङ्गं न तु क्षाणनिमित्तकपुनः-
प्रयोगवत्प्रयोगबहिर्भूतम् ॥ १० ॥

(११)—विश्वजित्त्वप्रवृत्ते भावः कर्मणि
स्यात् ॥ ३२ ॥ निष्क्रयवादाच्च ॥ ३३ ॥

सत्रप्रकरणे 'यस्सत्रायागुरते स विश्वजिता यजेत' इति श्रुतो
विश्वजित् । सत्रसङ्कलपरूपमागूरणं कृत्वा यस्सत्रं न करोति
तस्येदं सत्रफलार्थत्वेन विधानं न तु सत्राङ्गतया । तथात्वे
आगूरणस्य निमित्तत्वश्रवणवैयर्थ्यात् । न चैवं सत्राकरणस्यापि
निमित्तान्तःप्रवेशादौरवापत्तिः । अतस्सङ्कलपमात्रे निमित्ते नैमित्ति-
कमिदं फलान्तरार्थं विधीयत इति वाच्यं, फलान्तरकल्पनापेक्षया
सत्रफलस्यैव साधनसाकाङ्क्षस्य फलत्वकल्पने लाघवात् । तच्च
फलं यद्यपि न मुख्यमेव स्वर्गादि फलत्वेन कल्पयितुं शक्यं,
तथात्वे वीतायां फलेच्छायां सङ्कलपरूपस्य निमित्तस्य सत्त्वेन

नैमित्तिकाननुष्ठाने निमित्तसङ्कोचापत्तेः । तथाऽपि प्रारब्धाकरणानि-
मित्तदोषपरिहारार्थं त्रैश्रातवीयास्थाने विधीयते । अत एव तादृ-
शफलवाचकपदकल्पनयैवाकरणविषयत्वसिद्धेर्न तस्यापि निमि-
त्तान्तःप्रवेशः । अत एवैकस्याप्यकरणे अन्यैः कर्त्रन्तरं सम्पाद्य,
असम्पाद्यैव वा सत्रप्रयोगेऽप्यनेनैव विश्वजित्कार्यं इत्येकवचन-
स्याप्युपपत्तिः ॥ ११ ॥

(१२)--वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥ ३४ ॥

कालो वा उत्पन्नसंयोगात् यथोक्तस्य ॥ ३५ ॥

अर्थापरिमाणाच्च ॥ ३६ ॥ वत्सस्तु श्रुतिसं-

योगात्तदङ्गं स्यात् ॥ ३७ ॥ कालस्तु स्याद-

चोदना ॥ ३८ ॥ अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ॥ ३९ ॥

अवचनाच्च स्वशब्दस्य ॥ ४० ॥

सत्रेऽप्रवृत्तस्य विश्वजिदित्युक्ते सांन्नाय्येऽप्रवृत्तस्यैव व्रत-
मित्युक्त्यर्थमुत्तराधिकरणं, तदुपोद्धातत्वेनेदं विचार्यते । 'दर्शपूर्ण-
मासयोर्बर्हिषा पूर्णमासे व्रतमुपैति वत्सैरमावास्यायाम्' इति श्रु-
तम् । तत्र तृतीयया वत्सकरणकभक्षणापरपर्यायव्रतविधिः राग-
प्राप्तभक्षानुवादेन 'अमाषममांसमसर्पिष्कं व्रतं व्रतयति' इति वच-
नान्तरप्राप्तभक्षानुवादेन वा वत्समात्रविधिरिति प्राप्ते—

न तावद्वत्सस्य व्रते हस्तादिवत्करणत्वं नापि भक्ष्यत्वे-
नाशक्यत्वात् नापि मांसप्रकृतित्वेन विना वचनं विशसने प्रमा-
णाभावात् । अतः 'पुरा वत्सानपाकर्तोर्दम्पती अश्नीयाताम्' इति

वचनान्तरैकवाक्यतालाभाय 'बार्हिषा पूर्णमासे' इत्येतत्प्रायपाठाच्च वत्सप्रातिपदिकेन वत्सापाकरणं लक्षयित्वा तृतीयां चेत्यभूतलक्षणे व्याख्यायामावास्यादेशेन वत्सापाकरणपूर्वकालो व्रताश्रितत्वेन विधीयते । व्रतं च प्रकरणप्राप्तमिति न कश्चिद्विरोधः ॥

कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात् ॥ ४१ ॥

कालार्थत्वादोभयोः प्रतीयेत ॥ ४२ ॥

यद्यपि वत्सापाकरणं कालोपलक्षणं न तु स्वयमङ्गं परार्थत्वात् । तथाऽपि तदभावे कालस्यैव ज्ञातुमशक्यत्वात् सान्नाय्याजिन एव वत्सापाकरणसत्त्वाद्भवत् । अत एवैकपुरोडाशायामग्नीषोमीयाभावेऽप्याग्नेयसत्त्वात्कालोपलक्षणसत्त्वेन उपांशुयाजेऽपि न क्षतरिति प्राप्ते—

'शङ्खवेलायामागन्तव्यम्' इत्यादौ उपलक्षणापायेऽप्युपलक्ष्यानपायाद्वत्सापाकरणाभावेऽप्यन्वाधानपश्चाद्भावरूपतत्कालानपायात्सान्नाय्याभावेऽपि कर्तव्यमेव व्रतम् ॥ ४२ ॥

(१३)—प्रस्तरे शाखाश्रयणवत् ॥ ४३ ॥ काल-

विधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् ॥ ४४ ॥ अत-

त्संस्कारार्थत्वाच्च ॥ ४५ ॥ तस्माच्च विप्र-

योगे स्यात् ॥ ४६ ॥ उपवेषश्च पक्षे स्यात् ॥

'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' इत्यत्र प्रहरणएव शाखासाहित्यं प्रस्तरस्य न तु होम इत्युक्तं चतुर्थे । तत् न समप्रधानत्वेन प्रस्तरप्रहरणस्येव शाखाप्रहरणस्यापि शाखाप्रतिप-

त्तितया, किन्तु प्रस्तरप्रहरणे शाखासाहित्यं गुणत्वेन मैत्रावरुणग्रह इव पयस्साहित्यं 'सह युक्तेऽप्रधाने' इत्यनुशासनेन गुणत्वावगमादिति प्राप्ते—

शाब्दबोधे गुणत्वश्रवणेऽपि प्रयाजशेषाभिधारणन्यायेनार्थिकप्रतिपत्त्यन्तरविधिकल्पनेन प्रस्तरवच्छाखाया अपि कृतार्थत्वाविशेषेण प्रतिपाद्यत्वं, अत एव शाब्दबोधे गुणत्वश्रवणमापि प्रस्तरप्रहरणकाले प्रतिपत्त्यर्थमित्युक्तं न तु स्वयं तन्त्रम् । अतश्चासन्नयतश्शाखां विनैव प्रस्तरप्रहरणम् । पौर्णमास्यां च यथाशक्तिप्रयोगे प्रस्तराभावेऽपि 'गुणलोपे च' इति न्यायेन शाखाप्रहरणम् ॥ १३ ॥

इति खण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां
षष्ठस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

अथ षष्ठाध्यायस्य पञ्चमः पादः

(१)—अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्यात्
यथा पञ्चशरावे ॥ १ ॥ अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥ तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥ ३ ॥ आतश्चनाभ्यासस्य दर्शनात् ॥ ४ ॥ अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् ॥ ५ ॥ पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदृष्टं हीतरत् ॥ ६ ॥ सान्नाय्येऽपि तथेति

चेत् ॥७॥ न तस्यादृष्टत्वादविशिष्टं हि का-
रणम् ॥८॥ लक्षणार्था गृतश्रुतिः ॥९॥

दर्शपूर्णमासयोः “यस्य हविर्निरुतं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्यु-
दियात् स त्रेधा तण्डुलान्विभजेत् ये मध्यमास्स्युस्तानग्नये
दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्र-
दात्रे दधंश्चरुं येऽणिष्ठास्तान्विष्णवे शिपिविष्टाय शूते चरुम्”
इति श्रुतम् । तत्र निमित्तं तावत् चन्द्राभ्युदयावच्छिन्नदिने
प्रारम्भ इति वक्ष्यते । स च निमित्तस्वाभाव्येनैव दर्शस्येत्यपि
सिद्धमेव । नैमित्तिकं पुनरत्र किं कर्मान्तरं उत गुणान्तरयुक्तं
तदेवेति चिन्तायां—वाक्यभेदापादकगुणात्कर्मान्तराण्येवात्र त्रीणि
तत्तद्वाक्यैर्विधीयन्ते न ह्यग्नयादयो देवताः दातृत्वादयस्तद्गुणाः
मध्यमादीनि द्रव्याणि अष्टाकपालत्वादयः तद्धर्माः दधिश्रुत-
योरधिकरणत्वं चरुत्वं चेत्यनेकार्थविधानं प्राप्ते कर्मणि सम्भ-
वति । न चाष्टाकपालकत्वस्याग्नेये प्राप्तत्वेनाविधानं तत्र प्राप्तत्वेऽ-
ग्न्यैन्द्राग्नेऽप्राप्ततया विधेयत्वावश्यकत्वात् । न च दात्रादिपदा-
नां यौगिकत्वात्सामानाधिकरण्यादेवाग्न्यादिपदार्थेष्वन्वयोपपत्तेः
दातृत्वादिगुणविशिष्टाग्न्यादिविधानं, आग्नेयोऽष्टाकपालः, पञ्च-
दशान्याज्यानि इत्यादिवदिहासमस्तपदानां क्रियाव्यतिरेकेण पर-
स्परान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् । अत एव प्रकृतमध्यमादिद्रव्योद्देशेन
देवतान्तरमात्रविधिरित्यपास्तं, देवतातद्गुणरूपानेकविधौ वा-
क्यभेदादवस्थयात् । किञ्चैवं स्थविष्ठादिवाक्ययोर्द्रव्यद्वयोद्दे-
शात् वाक्यभेदः न चासौ स्वीक्रियत इति तन्त्ररत्नोक्तं युक्तं,
प्रमाणाभावात् सवत्रैव तदापत्तेश्च । किञ्च—मध्यमादिषु यच्छ-
ब्दप्रयोगेण प्रकृतग्रहणेऽपि दधिश्रुतयोस्तदभावात् प्रकृतग्रहणे

प्रमाणाभावेनोद्देश्यत्वानुपपत्तिः । न च तथाऽपि प्रयोगान्तर-
मात्रस्यैव स्वीकारेण कर्मान्तरत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यं, नि-
मित्तस्य विनियोगान्वयित्वस्यैव यावज्जीवाधिकरणे स्थापितत्वे-
नात्र प्रयोगान्वयिगुणाभावेन वाजिनवदेव तद्भेदानुपपत्तेः ।
अत एवोत्पत्त्यन्वयिनो गुणस्य कर्मभेदकत्वादेव न वाजिनवदेव
भावनामात्रभेदकत्वं, अतः पञ्चशराववदेव कर्मान्तराण्येव तत्त-
द्व्यदेवताविशिष्टानि, तत्तद्वाक्यैर्विधीयन्ते । तत्प्रकृतिभूततण्डुलानां
च 'त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्' इत्यनेन मध्यमादिभावेन त्रिधा
विभागः प्रयोगान्तःपातितया विधीयते । न तु देवतापनयादि ।
तथात्वे लक्षणापत्तेः देवतान्तरविधिबलेनैव तत्सिद्धावपनयविधि-
वैयर्थ्याच्च । अत एव संस्कारविधिबलादेव प्रसिद्धत्वात् 'ये
मध्यमाः' इति यच्छब्दोऽप्यनुवादः । दधिशृतयोश्च न मन्मतेऽप्य-
धिकरणत्वेन विधिः । तथात्वे प्रणीताकार्यापन्नत्वेन सह श्रपण-
स्यार्थसिद्धत्वादभ्युदितेष्टिप्रकरणस्य सहश्रपयतीत्येतद्वाक्यवैयर्थ्या-
पत्तेः । अनेन हि न सर्वेषां भिन्नदेवताकानामपि हविषा-
मेककालावच्छेदेन सहश्रपणं विधीयते । एकप्रयोगविधिवशेनैव
तत्प्राप्तेः । अतस्तेन सम्प्रतिपन्नदेवताकानां सहश्रपणं विधीयते ।
अत एवैतद्वैयर्थ्यमित्यैवोत्पत्तिवाक्ये दधिशृतयोर्नाधिकरणत्वेन
विधिः किन्तु करणत्वेनैव । लक्षणाऽपि सिद्धान्तवन्न दोषः ।
अतश्चरुत्वाधिकरणत्वयोरर्थप्राप्तत्वादेवाविधानम् । एतेषां च
नैमित्तिकानां कर्मणां स्वकाले क्रियमाणदर्शाङ्गत्वं प्रकरणात्
तच्चाकालोपक्रमनिमित्तदोषनिर्घातार्थत्वाच्च द्वादशाधिकरणन्या-
येन विकल्प्येत ॥

यदि तु अकालेऽनुष्ठितस्याविहितत्वेन वृथा चेष्टारूपत्वात्

विहिताननुष्ठाननिषिद्धानुष्ठानप्रयुक्तदोषाभावेन तन्निर्घातार्थत्वा-
नुपपत्तेरदृष्टार्थत्वमेवैतेषां नैमित्तिकानामिति विभाव्यते तदाऽस्तु
समुच्चयः । यस्त्वग्नेरायतनाद्वह्निर्नयनप्रयुक्तः प्रणयनपक्षे दाषो
नासौ दर्शवैगुण्यापादकः इति न तमादायाप्यस्य दोषनिर्घा-
तार्थत्वमिति प्राप्ते—

भेदकप्रमाणाभावात् न कर्मान्तरम् । न च वाक्यभेदा-
पादको गुणः, द्रव्योद्देशेन देवतामात्रविधानेन तस्य वाक्यभे-
दानापादकत्वात् । देवतायाश्चोपपादेकीभूतयागापेक्षायामैन्द्रवा-
यवादिवत्प्रकृतानामेवोपपादकत्वोपपत्तेः भवदुक्तरीत्यैव चरु-
त्वाधिकरणत्वयोरर्थप्राप्तत्वादनुवादः । यच्छब्दप्रयोगादुद्देश्य-
त्वाच्च मध्यमादेर्दध्यादेश्च प्रकृतस्यैव ग्रहणम् । देवताकारक-
स्यैकत्वाच्च परस्परविशेष्यविशेषणभावेनाग्निपदस्य तात्पर्यग्रा-
हकत्वमङ्गीकृत्यैकपदोपादानेन वा विशिष्टस्य व्युत्पन्नत्वान्न वि-
धेयानेकता । यथाचाष्टाकपालत्वस्य प्राप्तिस्तथाऽसन्नयतोऽधिकार-
प्रस्तावे वक्ष्यते । अन्ययोरुद्देश्यानेकत्वनिमित्तौ वाक्यभेदः
परमगत्या स्वीक्रियते इति मूलानुयायिनः ॥

वस्तुतस्तु स्वीकारे प्रमाणाभावात् प्रश्नशराववाक्येऽपि
चैन्द्रदेवतोद्देशेन त्वत्पक्षे नैमित्तिकपञ्चशरावौदनरूपैककारकवि-
धानापत्तेः प्रकृते उद्देश्यानेकत्वाङ्गीकारे च तत्र विधेयानेकत्वस्वी-
कारस्य वारयितुमशक्यत्वात् द्रव्योद्देशेन देवतामात्रविधिपक्षानु-
पपत्तेर्द्रव्यदेवताविशिष्टभावनान्तरविधिपक्षेणैव सिद्धान्तोपपत्तिः ।
न चास्मिन्नपि पक्षे उत्पत्त्यन्वयिनो गुणस्य वाजिनवद्यागभेदकत्वा-
पत्तिः भावनामात्रभेदकत्वेऽपि वा पञ्चशराववाक्येऽपि तदापत्तिरि-
ति वाच्यं, यच्छब्देन पूर्वपरामर्शकेन पूर्वयागीयत्वोपस्थित्या यागा-

न्तरप्रमापकत्वानुपपत्तेः । अत एव वाक्यभेदपरिहारार्थं परं भावनाभेदमात्रमभ्युपगम्यते । वाजिनपञ्चशरावादौ तु तदभावाद्यागान्तरत्वमिति विशेषः । अत एव धर्मिग्राहकप्रमाणेन यागैकत्वेऽवधारिते पूर्वद्रव्यावरुद्धे तस्मिन् द्रव्यान्तरयोर्दधिपयसोर्विकल्पेन समुच्चयेन वा निवेशायोगात्तयोरपि तत्तद्यागीययोरेव विधेयभावनाविशेषणत्वम् । अतश्च द्रव्यदेवताविशिष्टभावनान्तरविधानेऽपि पूर्वयागीयद्रव्याणां मध्यमादीनामेतद्भावनाप्रत्युपादेयत्वाच्च लौकिकमध्यमादिग्रहणप्रसक्तिः न वा लौकिकदध्यादिग्रहणम् । भवदुक्तरित्यैव चरुत्वाधिकरणत्वयोरनुवादत्वेन ममाप्यविधेयत्वात् ॥

वस्तुतस्तु स्थविष्ठादिप्रकृतिकपुरोडाशेन दध्यादेस्सहश्रपणापत्तेर्न चरुत्वप्राप्तिरिति तद्विधिरावश्यक एव दध्यादिना च सहश्रपणविधानात्तदधिकरणत्वं परमनुवादः । सर्वथा न लौकिकग्रहणम् । किञ्च 'त्रेधा तण्डुलान्विभजेत्' इत्यस्यापनयविधित्वादप्ययमर्थो निर्णीयते तथाहि—न तावदत्र तण्डुलानां मध्यमादिभावेन त्रेधाविभागो विधीयते तस्य मध्यमादिवाक्यैरेव प्राप्तत्वात् । न चास्मन्मते चित्रेष्टितण्डुलवत्पुरोडाशादिप्रकृतित्वेनापि लोकसिद्धानामेव मध्यमादीनां तण्डुलानां ग्राह्यत्वापत्तेः प्रयोगान्तःपातिविभागसिद्ध्यर्थं विधिरर्थवानिति वाच्यं, लोकसिद्धमध्यमादिग्रहणे तण्डुलप्रकृतिभूतव्रीहिसंस्कारकनिर्वापप्राप्त्यभावन महारात्र एव हवींषि निर्वपेदित्यनुवादानुपपत्तेः व्रीहीणामेवावश्योपादेयतया विभागस्याप्यर्थप्राप्तत्वाच्छ्रपणसत्त्वेन चित्रेष्टिन्यायाभावाच्च । अतस्त्रेधा तण्डुलानितिपदद्वयमानर्थक्यमभिया प्रकृतहाविःपरमङ्गीकृत्य तस्या-

परित्यक्तयागान्वयस्यैव प्रकृतदेवताभ्यो अपनयो विधीयते ।
 आनर्थक्यमिया च लक्षणाऽप्यदोषः । तदपनये च प्रकृतदेव-
 तानां यागसम्बन्धोऽप्यपनीतो भवति । न चायमपनयोऽपि नै-
 मिक्तिकदेवतान्तरविधिवलादेव सिद्ध इति विधिवैयर्थ्यं, एतद्वि-
 ध्यभावे पूर्वयागस्य पूर्वदेवताऽवरुद्धतया देवतान्तरानपेक्षत्वेन
 तत्र नैमित्तिकदेवतान्तरस्य तद्विशिष्टभावनान्तरस्य वा विधाना-
 नुपपत्तेः । नैमित्तिकस्य हि निरवकाशतया नित्यबाधकत्वं वक्ष्यते ।
 यागान्तरविधानेनैव सावकाशत्वोपपत्तेर्न निरवकाशता । अतः
 एव यत्र यागान्तरविध्यसम्भवः प्रमाणान्तरप्रमितः तत्र फल-
 चमसादौ निरवकाशेन नैमित्तिकेन नित्यापनयाभावेऽपि नित्यस्य
 बाधः । अत एवापनयविध्यभावादेव पञ्चशराववाक्ये कर्मा-
 न्तरं “यः पशुकामस्स्यात् सोऽमावास्यामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यात् ये
 मध्यमास्तान्विष्णवे शिपेविष्टाय, शृते चरं ये स्थविष्ठास्ता-
 नग्नये सनिमते अष्टाकपालं येऽणिष्ठास्तानिन्द्राय प्रदत्त्रे
 दधंश्चरुम्” इति वचनविहितायां पशुकामेष्टावपि चापन-
 यनविध्यभावादेव कर्मान्तरं, यच्छब्दस्तु लोकप्रसिद्धचनुवादक-
 तयैव कथञ्चित्तत्र व्याख्येयः ॥

अतश्चापनयविधिरेव पूर्वदेवतासम्बन्धं पूर्वयागानामपन-
 यंस्तेषां देवतान्तराकाङ्क्षोद्भावनद्वारा तत्र देवतान्तरसम्ब-
 न्धमुपपादयन् क्रियान्तरत्वं प्रतिबध्नाति । प्रकृतानामेव च
 मध्यमादीनां दधिपयसोश्च भावनान्तरे उपादेयत्वमापादयति
 “यद्यगृहीतं हविरभ्युदियादेषैव व्रतचर्या यदि गृहीतं हवि-
 रभ्युदियात् अथो तर्हीतानेव तण्डुलान् सुफलीकृतान् दधि
 पयश्च” इत्यादिलिङ्गाच्चायमर्थो विज्ञायते । तेन मध्यमादि-

भेदेनाग्नेयस्य वारत्रयमावृत्तिः दधिपयोयागयोस्तु स्थविष्ठा-
णिष्ठसाध्याग्नेयाभ्यासेन सह तन्त्रेण करणं 'सह श्रपयति'
इति वाक्याच्च श्रपणमपि तेषां सम्प्रतिपन्नदेवताकानां सहैव ।
अत एव दधिशृतयोः श्रपणाप्राप्तावपि साहित्यविध्यन्यथाऽनुप-
पत्त्यैव श्रपणं शाखासाहित्यवशेन तत्प्रहरणवत् । साहित्यं हि
केनचिदावश्यकं तत्र सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वात्प्रदानवेलायां तेन
तदावश्यकत्वे श्रपणवेलायामपि तस्यैव साहित्यप्रतियोगित्व-
कल्पनात् अतश्च अभ्युदितेष्टिर्न कर्मान्तरं अपि तु निमित्ते
नैमित्तिकं तद्यागानामेव भावनान्तरं स्वकाले क्रियमाणदर्शप्र-
योगाङ्गम् । तस्यैव अकाले प्रारम्भनिमित्तदोषपरिहारार्थं प्रायश्चित्तं
अकाले प्रारम्भस्य दोषजनकत्वं सामान्यमुखेनात्रैव वा
'एनं प्रजया पशुभिरर्धयति वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्नि-
रुप्तम्' इत्यादिवाक्यशेषादवगन्तव्यम् ॥

एवमातञ्जनाभ्यासदर्शनं "यदि बिभीयादभिमोदेष्यतीति'
महारात्र एव हवींषि निर्वपेत् फलीकृतैस्तण्डुलैरुपासीत अर्धं दधि
हविरातञ्जनार्थं निदध्यात् अर्धं न यद्यभ्युदियात्तेनातञ्जथ प्रचरेत्
यदि न प्रातरेतेन ब्राह्मणान् भोजयेत्" इत्यकर्मान्तरत्वे उपपद्यते ।
बिभीयात् शङ्केयत । महारात्रे चन्द्रोदयात्पूर्वम् । उपासीत प्रतीक्षेत ।
आतञ्जनार्थं स्वकाले क्रियमाणदर्शार्थदध्यातञ्जनार्थम् । अर्धं न कि-
न्तु तदभ्युदितेष्टावेव विनियुञ्जीत, न च तत्सान्नाय्ययाग एव ।
तेन आतञ्जनार्थं निहितेन । एतेन आतञ्जनार्थं स्थापितेनैवेति हि
तस्यार्थः । तद्यदि कर्मान्तरं स्यात् तदा तेनाकालप्रारम्भनिमि-
त्तदोषपरिहाराय दर्शार्थमुत्पादितेन दध्ना कर्मान्तरकरणानुपप-
त्तेस्स्वकालक्रियमाणदर्शस्यैव तेन करणापरोस्तत्र हविरन्तरो-

त्पादाप्रसक्तौ तत्रातञ्चनाप्रसक्तेरर्धविध्यनुपपत्तिः । कर्मान्तरे च दध्यन्तरस्यैव संस्कारविशिष्टस्योत्पादनापत्तेर्दर्शार्थोत्पादितस्य दध्नः प्रसक्त्यभावादर्थविधानानुपपत्तिः ॥

यत्तु मूले क्रियान्तरत्वपक्षे अधिकरणत्वेन दधिपयसोर्विधानात् लौकिकस्यैवासंस्कृतस्य दध्नो ग्रहणापत्तेर्दर्शार्थोत्पादितस्य प्रसक्त्यभाव इत्युक्तं, तत् 'सह श्रपयति' इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेस्तुल्यत्वेन हविषेणैव विधानस्यावश्यकत्वादुपेक्षितम् । सिद्धान्ते तु प्रायश्चित्तस्य दर्शत्वानपायादत्रैव सर्वस्य दध्नः प्रसक्तौ स्वकाले-क्रियमाणदर्शे च दध्यन्तरोत्पादनार्थमातञ्चनप्रसक्तावभ्युदयशङ्कायां निमित्ते आतञ्चनसाधनत्वेनार्धमात्रावेधिरुपपद्यते । अर्धान्तरस्यार्थादेवाभ्युदितेष्टौ प्राप्तत्वादनुवादो विधिर्वैत्यन्यदेतत् ॥ १ ॥

(२)—उपांशुयाजेऽवचनाद्यथा प्रकृति ॥ १० ॥

अपनयो वा प्रवृत्त्या यथेतरेषाम् ॥ ११ ॥

तत्रैवोपांशुयाजद्रव्यस्याज्यस्यापनयोऽस्ति न वेति चिन्तायां—तण्डुलग्रहणस्योपलक्षणत्वे प्रमाणाभावात् देवतान्तरसंयोगाभावाच्च नापनय इति प्राप्ते—

तण्डुलग्रहणस्य विवक्षितत्वे दधिशृतयोर्हविषानुपपत्त्या अधिकरणत्वापत्तेः सहश्रपयतीति वाक्यवैयर्थ्यापत्तेरेव तण्डुलग्रहणस्य हविःपरत्वावसायादाज्यस्याप्यपनयः । देवतान्तरसंयोगाभावात्तूपांशुयाजो लुप्यते । प्रजापतिविधिरपचारविषयत्वाच्चेह प्रवर्तते ॥

यत्त्वत्र भाष्यकारेण पक्षान्तरमुक्तं विभजेत् इत्यनेन नापनयविधिः किन्तु पूर्वयागीयं हविः वैकृतीभ्यो देवताभ्यो

दद्यादिति सामान्यतो विभागरूपं दानं उपांशुयाजीयाज्य-
साधारण्येन विधीयते । अपनयस्तु पूर्वदेवतानामर्थात् ।
तत्र विशेषवचनात् द्रव्यान्तराणां व्यवस्थायामप्याज्यस्य सामान्य-
वाक्यादेव त्रिभ्योपि दानमिति तदपनयविध्यभावे प्रकृतहवि-
र्ग्रहणे प्रमाणाभावात्सामान्यवाक्यस्यापि कर्मान्तरविषयकसा-
मान्यविधित्वापत्तेरुपेक्षितम् ॥

अस्तु वा कर्मान्तरे सामान्यविधिवैयर्थ्यापत्तेरेव तथा ।
सर्वथाऽऽज्यस्यपि पूर्वदेवतापनयः । न चैवं प्रयाजादिद्रव्य-
स्यापि तदापत्तिः । चन्द्राभ्युदयकालीन कर्मप्रारम्भस्यैव
निमित्तत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तादृशकर्मसम्बन्धिहविष एव
देवतापनयात्प्रयाजादीनां च दीक्षणीयादिवत्पृथगारम्भाभावा-
त्तदीयद्रव्यस्यापनयानुपपत्तेः । इदं चोपांशुयाजद्रव्यस्याप-
नयाभिधाने शाङ्खायनानां 'अथ यत्सन्नयत्सान्नाय्यस्यान्त-
रेणोपांश्व्राज्यस्य यजति तस्योक्तं ब्राह्मणम्' इति वच-
नेनामावास्यायामप्युपांशु याजविधानादवगन्तव्यम् । दाशमिकं
तु पौर्णमास्यामेवोपांशुयाज इत्यधिकरणं कृत्वाचिन्तया ।
त्रयोदशमावास्यायामिति चावयुत्यानुवादः । एतद्वलादेव चा-
मावास्यायां विकल्प इत्यपि गुरवः ॥२॥

(३)—निरुप्ते स्यात्तत्संयोगात् ॥१२॥ प्रवृत्ते वा
प्रापणान्निमित्तस्य ॥१३॥ लक्षणमात्रमि-
तरत् ॥१४॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

यस्य हविर्निरुतमिति श्रवणात् निर्वापोत्तरकालीनचन्द्रा-
भ्युदयस्यैव निमित्तत्वादमावास्यायां च सूर्योदयात्प्रागेवेष्टया-

रम्भाविधानाभिर्वापात्प्राक्चन्द्राभ्युदयज्ञाने नेदं प्रायश्चित्तमिति प्राप्ते—

‘हविरभ्युदियात्’ इत्येतावतैव निमित्तत्वपर्यवसानेन निर्वा-
पग्रहणस्याविवक्षितत्वादभ्युदयावच्छिन्नदिनप्रारम्भस्यैव निमि-
त्तत्वं लाघवात् । पौर्णमास्यां च तस्य नित्यत्वादेव निमि-
त्तत्वानुपपत्तेः परिशेषादेव दर्शविषयत्वम् । अतश्च निर्वापात्प्रागपि
‘यक्रममात्रेण प्रायश्चित्तम् । अत एव ‘यद्यगृहीतं हविरभ्युदि-
यात्’ इति लिङ्गमप्युपपद्यते ॥ ३ ॥

(४)—अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदि-
त्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥१६॥
व्यूर्ध्वभागभ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद्देवता-
पनयस्य ॥१७॥

कर्मप्रवृत्तिमात्रस्य निमित्तत्वेऽपि नैमित्तिको देवतापनय-
स्तण्डुलग्रहणात्तण्डुलावस्थायामेव च कर्तव्यः । पूर्वं तु प्राकृतीभ्य
एव निर्वापादि कार्यमिति प्राप्ते—

तण्डुलग्रहणस्य विवक्षितत्वे दधिपयसोरपनयाभावेन देव-
तान्तरसम्बन्धानापत्तौ सहश्रपयतीति वाक्यवैयर्थ्यापत्तेस्तस्य
हविर्मात्रोपलक्षणत्वात् पूर्वमप्यभ्युदयवैकृतीभ्य एव निर्वापादि ॥४॥

(५)—विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्रुणत्वात् ॥
अप्राकृतेन हि संयोगः तत्स्थानीयत्वात् ॥
अभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥ २० ॥

अर्धनिरुक्ते चन्द्राभ्युदये ज्ञाते अवशिष्टमुष्टयो न तावत्प्रा-
कृतीभ्यो निर्वसव्याः निमित्तसत्त्वेन नैमित्तिकस्यापनयस्य प्रवृत्तौ
बाधकाभावात् । नापि वैकृतीभ्यः, पदार्थैकदेशस्याविहितत्वेन
तत्र देवतान्तरसंयोगाप्रवृत्तेः । यथैवं हि फलं न भक्षयेदित्यादि
निषेधाः अवयवावयविसाधारण्येन प्रवर्तन्ते एवमपनयात्मको
निषेधोऽपि । यथैव च फलं दद्यादित्यादिविधयो अवयवि-
न्येव प्रवर्तन्ते एवं देवतान्तरसंयोगोपि । अतश्च तूष्णीमेवाव-
शिष्टो निर्वापः । याज्ञिकास्तु पदार्थैकदेशस्याप्यार्थिकविधि-
विहितत्वमङ्गीकृत्य वैकृतीभ्य एवानुतिष्ठन्ति ॥ ५ ॥

(६)—सान्नाय्यसंयोगान्नासन्नयतस्स्यात् ॥ २१ ॥

औषधसंयोगाद्बोभयोः ॥ २२ ॥ वैगुण्यान्नेति

चेत् ॥ २३ ॥ नातत्संस्कारत्वात् ॥ २४ ॥

किमियमभ्युदितेष्टिस्सन्नयत एव उतासन्नयतोऽपीति चि-
न्तायां—द्रव्योद्देशेन देवतामात्रविधिपक्षे यद्यपि द्रव्यस्य सा-
हित्यमविवक्षितं, तथाऽप्युद्देश्यानेकत्वादेवैतत्पक्षापरितोषाद्भावना-
न्तरविधिपक्षे च तद्विशेषणयोर्दधिस्थविष्टयोः श्रुताणिष्ठयोश्च
साहित्यस्य विदक्षितत्वाद्विधेयसामर्थ्यानुरोधेन सन्नयन्मात्र-
विषयत्वमिति प्राप्ते—

न चेदन्येन शिष्टा इति न्यायेनप्राप्तविशेषणस्यैव कल्प्य-
विशेषणविधिविधेयत्वेन द्रव्यसाहित्यस्य तत्तद्यागसाहित्यवशे-
नैव च प्राप्ततया विशेषणविध्यकल्पनादविवक्षितत्वेनासन्नयतोऽ-
प्यभ्युदितेष्टावधिकारः । अतश्चैन्द्राग्नस्याप्यौषधद्रव्यकत्वान्मध्य-

मादिभेदेनाग्नेयवदावृत्तिः । तत्रापि सहश्रपयतोति वचनेनाग्नेयैन्द्राग्रहन्निषोस्सहश्रपणे विहिते अष्टाकपालत्वद्वादशकपालत्वयोर्विरोधे मुख्यत्वादष्टाकपालत्वस्यैवानुग्रहेण त्रयोऽप्यष्टाकपाला एव कार्याः । अथ वा आद्य एवाष्टाकपालः । इतरौ तु जले एव चरु ॥ ६ ॥

(७)-साम्युत्थाने विश्वजित्कृते विभागसंयोगात् ॥ २५ ॥ प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥ २६ ॥
आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥ २७ ॥

‘यदि सत्राय दीक्षितानां साम्युत्तिष्ठेरन् सोममपभज्य विश्वजिताऽतिरात्रेण सर्वस्तोमेन सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदाक्षिणेन यजेरन्’ इति श्रुतम् । तत्र विश्वजिदयं सोमक्रयोत्तरं उत ततः पूर्वमप्युत्थाने भवेदिति चिन्तायां, यद्यपि त्यागापरपर्यायं व्युत्थानमात्रं निमित्तं न तु सामिपद्वाच्यार्थत्वमपि विशेषणं, नापि सोमक्रयः । तथाऽपि सोमविभागस्यापि विश्वजिदङ्गत्वेन विधेयत्वात्पुनराधानवदेव नैमित्तिकत्वरूपपर्यालोचनया सोमक्रयोत्तरमेव विधीयते । न हि पूर्वं सोमोऽस्ति येन सोमविभागरूपमङ्गमनुष्ठीयेत । न च बोधायनादिकल्पपर्यालोचनया पूर्वमपि सोमसत्त्वाद्विभागोपपत्तिः विक्रेतृसोमस्यैव क्रयात्पूर्वमुपकल्पनेन तस्मिन् यजमानस्वत्वाभावात् । अतस्सोमक्रयोत्तरमेव व्युत्थाने विश्वजिदिति प्राप्ते—

नात्र विभागविधिः संसृष्टद्रव्याणां व्युत्थाने द्रव्यविभागस्यार्थप्राप्तत्वात् । अत एव सोमपदं संसृष्टवस्तुमात्रपरं, अतश्च

सोममपभज्य इत्यस्यानुवादत्वाद्बिभ्वजिन्मात्रं नैमित्तिकं सोम-
क्रयात्पूर्वमपि व्युत्थानस्य निमित्तस्य सत्त्वात्कर्तव्यमेव । किञ्च-
यद्यपि विभागो विधीयते तथाऽपि तस्यादृष्टविधया बिभ्वजि-
त्यारादुपकारकाङ्गत्वाभावाच्च क्रीतस्यैव स्वस्यैव वा सोमस्य
विभागः, किन्तु लौकिकस्यैव सत्रासम्बन्धिनो यस्य कस्यचि-
त्सोमस्य प्रत्येकं विभागः, अतश्च तादृशनैमित्तिकस्य पूर्वमपि
सम्भवादविशेषः । अयं बिभ्वजित् गुणात्कर्मान्तरं स्वर्गार्थवि-
भ्वजिदपेक्षया, आगूरणविभ्वजिदपेक्षयाऽपि । तयोस्त्वेतदपेक्षया
यागान्तरत्वे अभ्यासः प्रकरणान्तरं च प्रमाणं बोध्यम् । एत-
त्फलमागूरणं बिभ्वजिद्वदेव द्रष्टव्यम् ॥

वस्तुतस्तु निमित्तभेदस्य निर्वक्तुमशक्यत्वाच्छाखान्तरन्या-
येन एक एव बिभ्वजिद्व्याक्यद्वयेन विधीयत इति नागूरणविभ्व-
जितोऽस्य भेदः । प्रवृत्तस्य बिभ्वजित् उताप्रवृत्तस्येति विचा-
रस्तु एतद्वचनाभावं कृत्वा चिन्तयेति ध्येयम् ॥ ७ ॥

(८)—दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ॥२८

सोमे एका दीक्षा तिस्रो दीक्षाः इत्येवं बहवो दीक्षा-
पक्षाश्श्रुताः । तत्र सोमे द्वादशदीक्षापक्ष एव 'द्वादशरात्रीर्दी-
क्षितो भृतिं वन्वीत' इति विहितस्य भृतिपदवाच्यदक्षिणा-
द्रव्यार्जनानुकूलयाच्चारूपस्य भृतिवननस्य पक्षान्तरेष्वसम्भ-
वात् अतो अन्ये पक्षा विकृतिविषयाः 'एकं दृणीते' इत्यादि-
वदवयुत्यानुवादा वा इति भाष्यकाराभिप्रायः ॥

वार्तिककाराशयस्तु भिन्नप्रदेशस्थत्वेन एकं दृणीते इतिवदर्थ-
वाद्वाद्योगात् सर्व एव विधय इति तावदविवादम् । प्रकरणानुरो-

धाञ्च नानेकेषामुत्कर्षकल्पनात्तद्वरमेकस्यैव भृतिवननवाक्यस्य पाक्षिकत्वकल्पना । द्वादशरात्रिशब्दो वा दीक्षापरिमाणमात्रपरः यावत्तीषु रात्रिषु दीक्षा भवति तत्परः ॥

वस्तुतस्तु लक्षणाऽपीयं न विधौ दीक्षितकर्तृकभृतिवननस्यैव पक्षप्राप्तस्य प्रयोगमध्ये अत्यन्ताप्राप्तस्यैव वा विधेयत्वात् द्वादशरात्रिशब्दस्यानुवादत्वोपपत्तेः । अतो नैतस्य पाक्षिकत्वकल्पनाऽपि । दीक्षापक्षणामेव परं ब्रीहियववद्विकल्पः । अस्तु वा तस्य विधेयत्वेऽपि लक्षणा तथाऽपि न दोष इति ॥८॥

(१)—द्वादशाहस्तु लिङ्गात्स्यात् ॥२९॥

द्वादशाहेषु 'द्वादशरात्रीर्दीक्षितस्स्यात्' इति वाक्येन यवमयश्चरितिवत् द्वादशदीक्षाकत्वस्यैव नियमनात्र विकल्प इति प्रत्युदाहरणमात्रम् । अत एव 'षड्विंशदहो वा एष द्वादशाहः' इति लिङ्गं उपसत्सुत्यानां द्वादशत्वस्य प्रमाणान्तरसिद्धत्वात् दीक्षा अपि द्वादशेति गमयति । तथा 'अभीन्धत एव दीक्षाभिः' इति दीक्षाबहुत्वं विधाय 'द्वाभ्यां लोमावद्यन्ति, द्वाभ्यां त्वचं, द्वाभ्यामसृक्, द्वाभ्यां मांसं, द्वाभ्यामस्थि, द्वाभ्यां मज्जानम्' इति तद्वाक्यशेषे षड्विकानुक्रमणमपि ॥९॥

(१०)—पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात् ॥३१॥ माघी वैकाष्टकाश्रुतेः ॥३२॥ अन्या अपीति चेत् ॥३३॥ न भक्तित्वादेष्टा हि लोके ॥३४॥ दीक्षाऽप-

राधे चानुग्रहात् ॥३५॥ उत्थाने चानुप्ररो-
हात् ॥३६॥ अस्यां च सर्वलिङ्गानि ॥३७॥

गवामवने 'एकाष्टकायां दीक्षेरन् एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टका' इत्युपक्रम्य 'आर्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्ते व्यस्तं वा एते संवत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्ते अपो नाभिनन्दन्तोऽवभृथमभ्यवयन्ति' इत्यनेन तत्र दोषानभिधाय 'चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन् मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासस्तस्य न का चन निर्या भवति' इत्यनेन चैत्रीं स्तुत्वा 'चतुरहे पुरस्तात्पौर्णमास्यै दीक्षेरन् तेषामेकाष्टकायां क्रयस्सम्पद्यते तेनैकाष्टकां न छंबदुर्वन्ति तेषाम्' इति श्रुतम् । आर्तं दुःखयुक्तं शीतात् । व्यस्तं अयनपरावृत्त्या । अपो नाभिनन्दन्ति शीतादेव । निर्या दोषः । छंबद् रिक्तम् । अत्र जर्तिलयवागून्यायेन सर्वमिदमेकवाक्यमिति तावदविवादं अतश्चतुरह इत्येव विधिः पयोहोमन्यायेन तत्र पौर्णमासीवाक्यशेषे चैत्र्यास्तुतत्वाच्चैत्र्येव । न च वाक्यशेष एवोपक्रमोपसंहारयोरेकाष्टकाया माध्युत्तराष्टमीरूपायाः परामर्शात्तस्याः क्रयसम्पत्त्यनुग्राह्यत्वोक्तेश्च माघ्येव ग्राह्येति वाच्यं, अष्टकाशब्दस्य कर्मविशेषनामतया तत्कालत्वेनाष्टम्यामष्टकाशब्दप्रयोगे 'हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः' इति चतसृष्वपि तदष्टमीषु प्रयोगेण माध्युत्तराष्टमीग्रहण एव प्रमाणाभावात् 'द्वादशपौर्णमास्यो द्वादशैवाष्टकाः' इति श्रुत्यन्तरे सर्वत्रैव प्रयोगाच्च । अतश्चैत्र्युत्तराष्टम्या अपि तत्त्वानपायाच्चैत्र्या एव पौर्णमासीपदेन ग्रहणात् तस्याः पुरस्ताच्चतुरहे एकादश्यां दीक्षेति प्राप्ते—

बुद्धव्यवहारेणैकाष्टकाशब्दस्य माध्युत्तराष्टम्यामेव प्रयोगा-
त्तस्याश्च संवत्सरपत्नीत्वेनोपक्रमे स्तुतत्वान्माध्युत्तराष्टमीस्य
कर्माङ्गदेवतायाश्च 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रि धेनुमिवा-
यतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली' इति
तन्मन्त्रे संवत्सरपत्नीत्वेन सङ्कीर्तनात् माध्युत्तराष्टम्यामेव एका-
ष्टकात्वप्रतीतेस्तस्यां क्रयसम्पत्त्यनुरोधेनोपक्रमोपसंहारयोश्श्रुत-
त्वेन माध्या एव यौर्णमासीपदेनाभिधानात्ततः पुरस्तादेकादश्यां
दीक्षेति सिद्धम् । अत एव सर्वोऽयमर्थवादः एवं व्याख्येयः
यद्यपि दोषान्तराभावादेकाष्टकैव दीक्षायां प्रशस्ता, तथाऽप्यार्त-
त्वव्यस्तत्वाभिनन्दकत्वरूपदोषत्रयात्तामतिक्रम्यापि चैऽयैव परं
प्रशस्ता, माध्येकादशी तु तदपेक्षयाऽपि प्रशस्ततरा, एकाष्टका-
याः द्वादशदीक्षोत्तरं त्रयोदशदिनरूपायाः क्रयसम्पत्त्यनुग्रही-
तत्वादिति ॥ १० ॥

(११)—दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे निय-
तानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ॥ ३८ ॥ उत्क-
र्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥ ३९ ॥

सोमे 'दीक्षितो न जुहोति' इत्यादिना पुरुषार्थानामग्निहोत्रा-
दीनां कृत्वङ्गत्वेन पर्युदासः प्रतिषेधो वा दीक्षितस्य श्रुतः ।
अवभृथे च कृते दीक्षामुक्तिः । तद्यदा दैवादिना कारणेन स-
न्ध्यातः पूर्वं क्रियमाणावभृथस्योत्कर्षस्तदा काले अग्निहोत्रं
कर्तव्यमेव यावन्तं कालं शास्त्रवशेन दीक्षाऽनुवृत्तिस्तावत्कालं
न जुहोतीति तत्प्रतिषेधशास्त्रावधारणादिति प्राप्ते—

काललक्षणायां प्रमाणाभावाद्दीक्षैव निषेधावधिः तस्या-
श्रानिवृत्तत्वाच्च कर्तव्यमेवाग्निहोत्रादि ॥ ११ ॥

(१२)—तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वे-
षाम् ॥ ४० ॥ कालप्राधान्याच्च ॥ ४१ ॥

दीक्षायां सत्यां सोमाङ्गत्वेनाग्निहोत्रप्रतिषेधेऽपि अग्निहोत्र-
वाक्ये दीक्षितभिन्नस्य कर्तृत्वाश्रुतेः काले तदकरणानिमित्तप्रत्य-
वायस्यावश्यकत्वात्तत्परिहारार्थं गौणकाले प्रायश्चित्तपूर्वकं कार्यं
एवाग्निहोत्रहोमः । दैवापराधकृतदीक्षोत्कर्षे तु सुतरामिति प्राप्ते-

यावज्जीवादिवाक्ये कालावच्छिन्नस्य जीवनादेर्निमित्तत्व-
मित्यविवादम् । तेषां च न सायंकालत्वशुचित्वादिना तत्त्वेन
तत्त्वेनावरुद्धकत्वं गौरवात् अपि तु शब्दतोऽर्थतो वा यो
निषिद्धः कालः तद्भिन्नकालत्वेन, सायमादिकालविधेर्हि निय-
मविधित्वात्तदितरकालनिवृत्तिरार्थिकी । एवं शुचित्वादिनाऽशु-
चिकालादिनिवृत्तिरपि । निषेधोपि चात्र न विधेयक्रियाङ्गभूत
एव विवक्षितः, अपि त्वन्याङ्गभूतोऽप्यविशेषात्, तस्मिन् सति वि-
धेयक्रियायाः अकरणस्य तवाप्यावश्यकत्वाच्च । अतश्च यथैव
पश्वर्थेनापि गोदोहनेनावरुद्धस्य प्रणयनस्य न चमसप्रयोजकत्वं
तस्मिन् सति तस्य कर्तुमशक्यत्वात् अत एव न तदभावकृतं
वैगुण्यमपि । एव सोमाङ्गभूतेनापि निषेधेनावरुद्धस्य दीक्षाका-
लावच्छिन्नजीवनस्य नैमित्तिकानुष्ठापकत्वानुपपत्तेः न तदकरणे
प्रत्यवायादि । अतः अपशुकामस्यैव चमसे अधिकारवददीक्षि-
तस्यैवाग्निहोत्रादावधिकारो निषेधपक्षेऽपि फलितो भवति । यदा
तु 'दीक्षितो न जुहोति' इत्यस्य अग्निहोत्रादिविधेयकवाक्यतया

पर्युदासत्वमङ्गीक्रियते तदा स्पष्ट एव दीक्षितस्य तत्रानधिकारः ।
अतश्च मुख्यकालेऽनधिकाराद्गौणकाले करणमनाशङ्क्यम् । एवं
दैवादिनाऽवभृथोत्कर्षेऽपि दीक्षावत्त्वस्य कथमप्यविशेषान्मुख्य-
कालेऽनधिकारस्य तुल्यत्वेन गौणकाले न प्रतिहोमकरणम् ॥ १२ ॥

(१३)—प्रतिषेधाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः ॥४२॥

कृतेऽवभृथे यद्युदवसानीयोत्कर्षो दैवादिना भवेत् तदा-
काले प्राप्ते अग्निहोत्रहोम एव कर्तव्यः तदकरणे वा प्रतिहोमः
कार्यः दीक्षाया अवभृथेनोन्मोचितत्वात् । यत्तु 'एतया पुनरा-
धेयसम्मिता इष्ट्या इष्ट्वाऽग्निहोत्रं जुहोति' इति वचनं तत्
प्रकरणान्तरन्यायात्सोमाङ्गतयोदवसानीयेष्ट्यङ्गतयैव वा कर्मान्तर-
विधायकमिति प्राप्ते—

निषेधप्रतियोगित्वेनाग्निहोत्रादेरुपस्थितत्वात् तदपेक्षितावधि
समर्पकत्वेनाप्युपपत्तौ यागान्तरविधायकत्वानुपपत्तेर्दीक्षोन्मोकेऽ-
पि उदवसानीयेष्टिप्रतीक्षाया आवश्यकत्वात्पूर्ववदेवानधिकारान्न
प्रतिहोमादिकरणम् । यदा तु दीक्षा संजाता यरयेति दीक्षित इति
व्युत्पत्त्या वृत्तदीक्षोत्पत्तिकत्वमेव निषेधप्रयोजकं रूपमाश्रीयते तदा
दीक्षाऽभावेऽपि सर्वदा निषेधप्रसक्तौ उदवसानीयाया अवधि-
त्वमव्याहतमेवेति न तदुत्कर्षे प्रतिहोमादि ॥ १३ ॥

(१४)—प्रतिहोमश्चेत् सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ॥४३॥ प्रातस्तु षोडशिनि ॥४४॥

यदाऽवभृथोत्कर्षे प्रतिहोमस्तदा कृत्वाचिन्तया विचार्यते-
अग्निहोमसंस्थाकज्योतिष्टोमे अवभृथस्य सायंकालात्पूर्वमेव क-

तव्यत्वेन तदुत्तरं रात्रौ करणे एकस्यैव सायंहोमस्य दीक्षा-
विमोकोत्तरं गौणकाले करणमाप्रातराहुतेः सायंहोमस्य गौणः
कालो वाचनिकः प्रातर्होमस्य सायंकालावधिवत् गौणकाल-
स्याप्यतिक्रमे स्वकालक्रियमाणप्रातर्होमेन सह समस्यहोमवि-
धया तन्त्रेण करणम् । अवभृथोत्कर्षेणानेकहोमकालातिपत्तौ च
सर्वान् सायंहोमान् प्रातर्होमांश्च पक्षहोमविधिना समस्यहो-
मविधिना च स्वकालक्रियमाणहोमेन सह तन्त्रेण कुर्यात् । न
चातिपत्तिक्रमेण होमानां क्रमेणैव करणं शङ्क्यं, एकदेशकाल-
कर्तृत्वेन समस्यहोमपक्षहोमविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गेन चानेकदर्शपूर्ण-
मासातिपात्तिनिमित्तकपथिकृद्देव पृथक्करणानुपपत्तेः । अत एव
सर्वान् सायंहोमान् सायंकाले प्रातर्होमांश्च प्रातःकाले कुर्यादि-
त्यभास्तम् । स्वकालक्रियमाणहोमात्पूर्वमेवातिपन्नहोमानां कर्तव्य-
त्वात् । एवं च—षोडशिस्तोत्रवति क्रतौ तस्य समयाध्युषित-
कालीनत्वेनावभृथस्य रात्रावेव क्रियमाणत्वात्तस्य द्वितीयदिने
उत्कर्षे प्रातर्होमस्यैव पूर्वोक्तविधयाऽनुष्ठानं, अनेकहोमकालाति-
पत्तावपि तथैव । न च दर्शपूर्णमासयोः पौर्णमासोपक्रमयोरेव
मिलितयोः फलसाधनत्ववत् सायमुपक्रमयोरेव सायंप्रातर्होमा-
भ्यासयोरेकफलसाधनत्वस्य कल्पसूत्रेष्वभिधानात् षोडशिना
सायं होमेऽनधिकारे कथं प्रातर्होमेऽप्यधिकार इति वाच्यं 'प्रा-
तस्तु षोडशिनि' इति जैमिनिसूत्रकृद्बचनादेव सायमुपक्रमक-
त्वस्य नैयत्याभावप्रतीतिः । अत एव कृत्वाचिन्तोद्घाटनेऽपि
यद्युदवसानीयाया रात्रौ करणं तदा प्रातर्होमानुष्ठानं जैमिनि-
मते नानुपपन्नम् ॥ १४ ॥

(१५)—प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामा-

न्यात् ॥४५॥ प्रकरणे वाशब्दहेतुत्वात् ॥४६

अतद्विकारश्च ॥४७॥

‘भिन्ने जुहोति’ इत्यादि प्रायश्चित्तं नैमित्तिकमपि फलापेक्षायां प्रकरणात् क्रत्वङ्गम् । निमित्तमपि भेदनादिकं न लौकिककपालादेः, प्रायश्चित्तसमाख्याबलेन क्रत्वङ्गभूतकपालादिभेद-ननिमित्तवैगुण्यपरिहारार्थत्वस्यैव कल्पनेन स्वतन्त्रादृष्टकल्पने गौरवात् ॥ १५ ॥

(१६)-व्यापन्नस्याप्सुगतौ यदभोज्यमार्याणां
तत्प्रतीयेत ॥४८॥

‘व्यापन्नमप्सु परिहरति’ इति वाक्ये श्रुतस्य व्यापन्नशब्दस्य यदार्याणामभाज्यं केशकीटावपन्नादि तदर्थः । तत्रैव तेषां प्रयोगादिति शिष्यहितार्थमुक्तम् ॥ १६ ॥

(१७)-विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न वि-
द्यते ॥४९॥ स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्काल-
मात्रमेकम् ॥५०॥

ज्योतिष्टोमे दक्षिणादानात्प्राक् बहिष्पवमानार्थं तद्देशं कच्छं धृत्वा प्रसर्पतामुद्गातृप्रतिहर्तृप्रस्तोतृणां मध्ये ‘यद्युद्गाताऽपच्छिन्द्यात् अदक्षिणं तं यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत तत्र तद्दद्यात् यत्पूर्वस्मिन् दास्यं स्यात्, यदि प्रतिहर्ता सर्ववेदसं दद्यात्, यदि प्रस्तोता ब्रह्मणे वरं दद्यात्’ इत्यादिना तत्तत्कर्तृकापच्छेदे निमित्ते प्रायश्चित्तं श्रुतम् । तत्रापच्छेदो नाम विभागरूपं फलमेव । यदि वा तज्जनिका क्रिया । सर्वथा तज्जनकक्रियाकर्तृत्वादेवात्र त-

कर्तृत्वव्यवहारः । तस्यां चान्यतरक्रियाजन्ये उभयक्रियाजन्ये च विभागे एकैकस्यापि प्रत्येकमस्त्यैव कर्तृत्वमिति उद्गातृमात्र-निष्ठक्रियाजन्यविभाग इवोभयनिष्ठक्रियाजन्यविभागेऽप्युद्गातृकर्तृ-कत्वव्यपदेशीपपत्तेर्भवत्येव तत्रापि प्रायश्चित्तमित्युत्तरविवक्षया प्राप्यते ॥ १७ ॥

(१८)—तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पस्स्यात् ॥ ५१ ॥

प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहस्स्यात् ॥ ५२ ॥

न चैकसंयोगात् ॥ ५३ ॥

यौगपद्ये प्रायश्चित्तद्वयमविरोधात्समुच्चयेनैव । प्रतिहर्त्रप-च्छेदनिमित्तं सर्वस्वदानमुद्गात्रपच्छेदनिमित्ते पुनःप्रयोगेऽपि श-क्यत एव कर्तुम् । अथवा दक्षिणोत्कर्षविशिष्टपुनःप्रयोगमात्रं तत्रैमित्तिकं पुनरदाक्षिण्यमपि तस्यार्थप्राप्तत्वेनानुवाद्यत्वात् अतः पूर्वप्रयोगेऽपि सर्वस्वदाने न कश्चिद्विरोध इति प्राप्ते—

न तावत्पूर्वप्रयोग एव सर्वस्वदानं, असत्यप्यदाक्षिण्यस्य नैमित्तिकत्वे दक्षिणोत्कर्षस्यैव पूर्वप्रयोगे सर्वस्वदाने अनुपपत्तेः । नापि पुनःप्रयोगे सर्वस्वदानं प्रतिहर्त्रपच्छेदवति प्रयोग एव तद्विधानात् । अन्यथा एकस्मिन् प्रयोगे प्रतिहर्त्रपच्छेदे क्रतोस्त-द्वत्वाविशेषात्तदुत्तरसर्वप्रयोगेषु सर्वस्वदानापत्तिः । निमित्तवति प्रयोगे नैमित्तिकस्य दैवादकरणे प्रयोगान्तरेऽपि तदापत्तिः । अतो विरोधाददाक्षिण्यसर्वस्वदाक्षिण्ययोर्विकल्प एव । पुनः प्रयोग-मात्रं परमविरोधाद्भवत्येव । तेनापि विकल्पं केचिदिच्छन्ति ॥ १८ ॥

(१९)—पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ॥ ५४ ॥

यदा क्रमेण निमित्तद्वयसन्निपातस्तत्रासंजातविरोधित्वादा-
द्यानिमित्तकमेव नैमित्तिकम् । अथवा नात्र शास्त्रद्वयस्य सा-
मान्यविशेषादिरूपतया बलाबलम् । नापि प्रमाणतदाभासरूप-
तया, उभयोरपि समतयैव प्रमाणत्वात् । अनुष्ठानवेलायां पौ-
र्वापर्यं तु न शास्त्रार्थावधारणायालं, अतो विकल्प एवेति प्राप्ते—

यथैव नित्यं द्वादशशतं नैमित्तिकेन सर्वस्वेन बाध्यते
परत्वात् तद्वलेन च द्वादशशतविधेः निमित्तरहितप्रयोगविष-
यत्वकल्पनं तथैव परेणापि नैमित्तिकेन पूर्वस्य नैमित्तिकस्यापि
परत्वाविशेषादेव बाधः । पूर्वनैमित्तिकविधेश्च परनिमित्तरहितप्रयो-
गविषयत्वकल्पना । तद्वदेव चानुष्ठानकालीनमेव पौर्वापर्यं शास्त्रा-
र्थावधारणवेलायां पूर्वमेवालोच्य व्यवस्थितविषयत्वकल्पनेति न
काश्चिद्विरोधः । न च संजातविरोधित्वेनेह परविज्ञानस्यानुत्पत्तिः
ज्ञापकस्य प्रमाणस्य क्लृप्तत्वेन तदयोगात् । न ह्यत्रोत्तरं प्र-
माणं पूर्वप्रमाणेनैकवाक्यतया स्वार्थबोधजनकं, येन तदुपजीवि-
त्वेन तदानुगुण्येन वर्तेत । अत उत्तरमेव निरपेक्षतयोत्पद्यमानं
पूर्वप्रमाणस्य परनिमित्तवत्प्रयोगविषयत्वांशे मिथ्यात्वं कल्पयति ।
न च पूर्वमेव विज्ञानं परप्रमाणस्य पूर्वनिमित्तवत्प्रयोगविषय-
त्वांशे मिथ्यात्वं किमिति न कल्पयेत् । न ह्यत्र नित्यापेक्षया
नैमित्तिक इव निरवकाशत्वमस्ति उभयोरप्येकैकनिमित्तकप्रयोगे
सावकाशत्वादिति वाच्यम् । पूर्वनिमित्तोपनिपातवेळायां परप्रमा-
णजन्यज्ञानस्य नियमेनोपस्थित्यभावेन धर्मिज्ञानाभावात्तद्वत्तस्य पू-
र्वनिमित्तवत्प्रयोगविषयत्वांशे मिथ्यात्वस्य कल्पयितुमशक्यत्वात्
परनिमित्तोपनिपातवेळायां तु पूर्वविज्ञानस्य चिकीर्षितविषय-
त्वेन पुरस्स्फूर्तिकत्वाद्धर्मिज्ञानसत्त्वेन तद्वत्तमिथ्यात्वकल्पने न

किञ्चिद्वाधकम् । यदि तु परनिमित्तोपनिपातोत्तरमेव पूर्वेण मिथ्याकल्पनमित्याशङ्क्यत तथाऽपि यदा परनिमित्तोपनिपातोत्तरं पूर्वप्रमाणविस्मरणं तदा तेनोत्तरस्य मिथ्यात्वकल्पनानुपपत्तेरवश्यं भवन्मते पूर्वप्रमाणस्मरणं कल्प्यं, मन्मते तु यदा दैववशात् पूर्वप्रमाणस्मरणं तदा तस्य मिथ्यात्वकल्पनेऽपि विस्मरणे परनैमित्तिकस्यैवानुष्ठानाच्च किञ्चित्कल्प्यम् । तथा चायमत्र क्रमः—परनिमित्तोपनिपाते तन्नैमित्तिकवाक्यार्थज्ञानं पूर्वविज्ञानस्मरणं च, ततः परज्ञानस्य तेन सह विरोधज्ञानं, ततस्तेनापेक्षाबुद्ध्यात्मकेन विनश्यदवस्थेन चतुर्थक्षणे पूर्वविज्ञानस्य भ्रान्तित्वकल्पना, विरोधज्ञानदशायां तदुत्तरं वा परनैमित्तिकवाक्यार्थस्मरणात्सेति न विरोधः । अतस्सिद्धं परेण पूर्वस्य बाध इति ॥ १९ ॥

(२०)—यद्युद्गाता जघन्यस्स्यात् पुनर्यज्ञे सर्व-
वेदसं दद्यात् यथेतरस्मिन् ॥ ५५ ॥

क्रमेऽपि यद्युद्गात्रपच्छेदो जघन्यस्तदा तन्निमित्तपुनःप्रयोगे सर्वस्वमेव देयं न तु द्वादशशतं परनिमित्तापातात्पूर्वं तस्यैव पूर्वप्रयोगे देयत्वेन प्रसक्तत्वात् 'तत्र तद्दद्यात्' इत्यनेन यत्पूर्वप्रयोगे परनिमित्तापातात्पूर्वं देयत्वेन प्रसक्तं तस्यैव दक्षिणात्वेन विधानात् द्वादशशतस्य पूर्वनिमित्तेनैव बाधितत्वेन देयतयाऽप्रसक्तेः । अतश्च यद्यपि सर्वस्वमपि अदाक्षिण्येन दक्षिणोत्कर्षेण वा पूर्वप्रयोगे दस्तुतो बाधितमेव । तथाऽपि परनिमित्तापातात्पूर्वं बाधज्ञानाभावाद्देयत्वेन प्रसक्तौ न काचित् क्षतिः । यदा तु प्रतिहर्त्रपच्छेदो जघन्यस्तदा तस्मिन्नेव प्रयोगे सर्वस्वदेयं न तु पूर्वापच्छेदनिमित्तकः पुनः प्रयोगः कार्यः ।

न च सर्वस्वदाने अदाक्षिण्यस्यैव विरोधात्तद्वाधेऽपि पुनःप्रयोगबाध प्रमाणाभावः अदाक्षिण्यपुनःप्रयोगयोस्समुच्चितयोरेव नैमित्तिकत्वेनैकाभावे इतरस्यानुपपत्तेः । अतश्च यथा पक्ष्याः श्मश्रूणामभावात्केशानामपि न वपनं साहित्यस्य विवक्षितत्वात् तथैवादाक्षिण्यस्याभावे पुनःप्रयोगस्याप्यभावः । यद्यपि च दक्षिणोत्कर्षस्य पुनःप्रयोगाङ्गतया विधानस्यावश्यकत्वादेव पूर्वप्रयोगेऽदाक्षिण्यस्यार्थप्राप्तत्वात् 'अदक्षिणं तं' इत्यस्यानुवादत्वमुच्यते । तथाऽपि पाक्षिकानुवादमिथैवादाक्षिण्यलोपे पुनःप्रयोगलोप इति द्रष्टव्यम् ॥

वस्तुतस्तु 'सोममपभज्य' इतिवत्पाक्षिकानुवादत्वेऽपि पुनःप्रयोगलोपे प्रमाणाभावः । न च तस्य संसृष्टद्रव्यमात्रोपलक्षणत्वाच्च पाक्षिकानुवादत्वमिति वाच्यं, संसृष्टद्रव्यनाशेऽपि पूर्वप्रयोगाङ्गभूतकर्त्रानत्यर्थं विश्वजित आवश्यकत्वेन पाक्षिकानुवादत्वानिवारणात् ॥

वस्तुतस्तु नायमनुवादः 'तत्र तद्दद्यात्' इत्यनेन पूर्वप्रयोगे दातव्यदक्षिणायाः पुनःप्रयोगाङ्गतया विधानेऽपि पूर्वप्रयोगाङ्गभूतकर्त्रानत्यर्थं तस्मिन्नपि तस्याआवश्यकत्वेनादाक्षिण्यप्राप्त्यप्रभावात् । न चैवं पुनःप्रयोगस्य ज्योतिष्ठीमत्त्वादेव द्वादशशतादिरूपदक्षिणाप्राप्त्युपपत्तेः 'तत्र तद्दद्यात्' इत्यस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यं, तस्य पूर्वप्रयोगे एकविंशत्यादिपक्षकरणेन पुनःप्रयोगे द्वादशशतादेरपि प्राप्यापत्तौ तन्निवृत्त्यर्थत्वेन सार्थक्यात्, उद्गातुर्जघन्यत्वे सर्ववेदसप्राप्त्यर्थत्वाच्च । न चैवं केशश्मश्रुन्यायेन पुनःप्रयोगबाधः, तत्र द्वन्द्वेन साहित्यस्योपादेयकेशश्मश्रुगतत्वेनोक्तत्वात्साहित्यावच्छिन्नस्यैव क्रियाङ्गत्वेन प्रत्येकं तदङ्गत्वाभावात्, प्रकृते तु अरुणैक-

हायन्योरिवापनयदेवतान्तरसंयोगयोरिव च प्रत्येकमेव क्रियान्व-
यादेकवाक्योपादानादिना पश्चात्साहित्यावगमेऽपि नैकलोपेऽपर-
स्य लोपः । न ह्यारुण्यासम्भवे एकहायनीलोपः, उपांशुयाजे
देवतान्तरसंयोगाभावे वाऽपनयलोप इष्टः । अतः प्रतिहर्तुः
परत्वे पूर्वप्रयोग सर्वस्वं दत्त्वा पुनःप्रयोगेऽपि तद्देयमिति सि-
द्धम् । यदा त्वाद्यप्रयोगे उद्गातृमात्रापच्छेदः तन्निमित्तकक्षि-
तीयप्रयोगे च प्रतिहर्त्रपच्छेदः तदा तत्रैव सर्वस्वमेव देयम् ।
नैमित्तिकत्वेन नित्यदक्षिणाबाधकत्वात् । न च पुनःप्रयोगस्य
प्रायश्चित्ततया पूर्वप्रयोगाङ्गत्वात् 'तत्र तद्द्यात्' इत्यनेन च पूर्व-
प्रयोगाङ्गभूतदक्षिणाया एवोत्तरप्रयोगवृत्तित्वमात्रविधानादङ्गगुण-
विरोधन्ययिनाङ्गभूतपुनःप्रयोगाङ्गसर्वस्वदक्षिणाबाधेन प्रधानभूत-
पूर्वप्रयोगाङ्गदक्षिणाया एव देयत्वमुचितमिति वाच्यं, अपूर्वावि-
धित्वाद्दृष्टार्थत्वादिदोषप्रसङ्गनोत्तरप्रयोगवृत्तिदक्षिणायाः पूर्वप्रयो-
गाङ्गत्वानुपपत्तेः । अतस्तस्यापि पुनःप्रयोगाङ्गत्वात्परेण नैमित्तिकेन
पूर्वस्य बाधात् सर्वस्वमेव देयम् ॥ २० ॥

(२१)—अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्तेत क-
र्मपृथक्त्वात् ॥ ५६ ॥

द्वादशाहाद्यहर्गणे यद्येकस्मिन् कस्मिंश्चिदहनि उद्गातुरप-
च्छेदो भवति तदा कृत्स्नस्याहर्गणस्यावृत्तिः । सुत्याहर्गणस्यैव
द्वादशाहपदवाच्यत्वेन फलसाधनत्वात्तस्यैव प्रायश्चित्तादिरूपा-
ङ्गग्राहित्वात् । अस्तु वोत्पत्तिवाक्ये प्रत्येकं करणत्वावगमात्
द्वादशाहपदेनापि च समुदायिनामेवोक्तेः प्रत्येकमेव फलं प्रति
करणत्वं एकपदोपादानाच्च करणानां समुच्चयः । अतश्चाङ्गग्रा-
हित्वमपि प्रत्येकमेव । तथाऽपि यत्कतुसम्बन्धुद्गाताऽपच्छिन्धा-

त्तेन क्रतुना यजेतेत्यर्थावगमादुद्गातुश्चैकस्यैव सर्वसाधारणत्वेन सर्वावृत्तिरिति प्राप्ते—

नोद्गातुः क्रतुसम्बन्धो विवक्ष्यते, अपि त्वावश्यकत्वाद्यत्क्रतु-
सम्बन्धिवहिष्णवमानार्थं प्रसर्पद्गुद्गाताऽपच्छिन्द्यात्तेन क्रतुना य-
जेतेत्यर्थावगतेस्तस्य च प्रतिसुत्यं भेदेन तत्सुत्याया एवा-
वृत्तिः । तत्सुत्याया अपि च तत्सुत्याव्यवहितोत्तरमेवावृत्तिः
साङ्गपूर्वसुत्याकरणव्यतिरकेणोत्तरसुत्यायामनधिकारात् । अत
एव पूर्वाङ्गानामप्यत्र नावृत्तिरिति ध्येयम् ॥ २१ ॥

इति खण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

षष्ठस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

अथ षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः

(१)—सन्निपातेऽवैगुण्यात् प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा
यजेरन् ॥१॥ वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् ॥२॥
न वाऽनारभ्यवादत्वात् ॥३॥ स्याद्वा यज्ञा-
र्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥४॥ न तत्प्रधानत्वात् ॥५॥
औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ॥६॥ अ-
न्येनापीति चेत् ॥७॥ नैकत्वात्तस्य चान-
धिकारात् शब्दस्य चाविभक्तत्वात् ॥८॥

सन्निपातात्तु निमित्तविधातस्स्याद्बृहद्रथन्तर-
यद्विभक्तशिष्टत्वादसिष्टनिर्वर्त्ये ॥९॥ अपि
वा कृत्स्नसंयोगादविधातः प्रतीयेत स्वामि-
त्वेनाभिसम्बन्धात् ॥१०॥ साम्नोः कर्मवृ-
द्धेयकेदेशेन संयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धस्त-
स्मात्तत्र विधातस्स्यात् ॥११॥

दर्शपूर्णमासादौ कल्पभेदः श्रुतः० 'राजन्यवासिष्ठानां नारा-
शंसो द्वितीयः प्रयाजः तनूनपादन्येषाम्' इत्यादिना । अत्र हि
'तनूनपात यजति' इत्यनेन एकदेशप्रवृत्तिनिमित्तनामधेयमङ्गीकृत्य
विहितस्य द्वितीयप्रयाजस्य क्रमे शाखाभेदेन समास्नातयोर्ना-
राशंसतनूनपान्मन्त्रयोरव्यवस्थया विकल्पेन द्वितीयप्रयाजसम्ब-
न्धित्वेन प्राप्तयोर्वासिष्ठसम्बन्धमात्रं नाराशंसस्य क्रियते । अत
एव नाराशंस इति तद्धितः द्वितीयपदं प्रयाजपदं चानुवादः ।
ततश्च परिशेषादेव तनूनपान्मन्त्रे अन्यसम्बन्धसिद्धेः तनूनपा-
दन्येषां इत्यपि 'षोडश्युत्तरे' इतिवदनुवाद एव । न च नारा-
शंसमन्त्रस्य पशुप्रकरणे पाठेऽपि दर्शपूर्णमासप्रकरणे पाठाभाव
इति केषांचिदुक्तं युक्तं, पशुप्रकरणेऽपि सूक्ते वैकृतनाराशंस-
मन्त्रपाठेऽपि 'नाराशंसोऽग्नय आज्यस्य वेतु' इत्यस्य दर्शपूर्ण-
मासप्रकरणे पाठात् । अत एवाश्वलायनादिभिः तत्रैव स पठितः ॥

यत्तु नाराशंसवाक्ये द्वितीयत्वादिविशिष्टप्रयाजान्तर-
विधिः तस्य च वासिष्ठसम्बन्धित्वेन विधानादन्येषामभाव
इति । तन्न—तथात्वे समिद्यागोत्तरत्वरूपद्वितीयत्वस्य नाराशं-

सयागे विधानेऽपि वासिष्ठानां तनूनपाद्यागबाधे प्रमाणाभावा-
 न्नाराशंसोत्तरं तत्करणाद्यापत्तेः । न हि द्वितीयपदे तत्कार्य-
 कारित्वेन नाराशंसविधिः, येन तेषां तनूनपाद्वाधदशङ्केयत ।
 तथात्वे सिद्धान्ते वासिष्ठानामप्युद्देश्यत्वेन वाक्यभेदापत्तेः । 'न
 च तनूनपादन्येषाम्' इत्यनेन अन्येषामेव तनूनपाद्विधानात् वासि-
 ष्ठानां तद्वाधोपपत्तिः, तस्यैकवाक्यत्वेनोपपत्तौ वाक्यभेदाङ्गीकारे
 प्रमाणाभावात् विशिष्टविध्यपूर्वविधिकर्मान्तरकल्पनागौरवप्रस-
 ङ्गाच्च । अतः पूर्वोक्तप्रकारेण मन्त्रस्यैव वासिष्ठसम्बन्धविधा-
 नेन कल्पभेद उपपादनीयः । स च दीक्षणीयादिद्वाराऽनेकक-
 र्तृकेषु सत्रादिषु प्राप्तः । तत्र सत्रादौ भिन्नकल्पानामप्यधिकारः
 उत समानकल्पानामेवेति चिन्तायां—अविशेषाद्भिन्नकल्पानामपि ।
 न चैककल्पकरणेऽन्येषां वैगुण्यप्रसङ्गः, वासिष्ठानां इत्यत्र मन्त्र-
 स्य शुद्धवासिष्ठार्थत्वविधाने प्रकरणबाधाद्यापत्तेः । क्रतुयुक्त-
 पुरुषधर्मत्वे च परिसङ्ख्यापत्तेः वासिष्ठत्वस्य नाराशंसमन्त्रे
 हौत्रे वैश्वामित्रविधानात् साक्षात्कर्तृपरिच्छेदकत्वेन विध्ययोगेऽपि
 प्रयोजककर्तृभूतयजमानपरिच्छेदकत्वेन वासिष्ठत्वविध्युपपत्तेः स-
 त्रादावौदुम्बरीसम्मानवदेकवासिष्ठकर्तृकत्वेऽप्यन्येषां वैगुण्याना-
 पत्तेः । अतो भिन्नकल्पानामप्यधिकार इति प्राप्ते—

विकल्पेन प्राप्तयोर्मन्त्रयोर्नियमार्थत्वेन वाक्यसार्थक्योप-
 पत्तौ नियतप्राप्तावासिष्ठव्यावृत्तिरूपपरिसङ्ख्याफलकत्वायोगात्
 वासिष्ठोद्देशेनैव प्रमाणान्तरवशाद्वासिष्ठाभिलाषितफलसाधनीभूत-
 दर्शपूर्णमासाङ्गभूतद्वितीयप्रयाजद्वारा नाराशंसमन्त्रविनियोगवि-
 धिः । अतश्च नाराशंसमन्त्रस्य वासिष्ठेषु विनियोगाभावादेव
 निवृत्तिरिति न तत्पारिसङ्ख्याया वाक्यप्रवृत्तिफलत्वं, अतश्च भि-

अकल्पानामप्यधिकारे एकाङ्गभूतमन्त्रपाठे इतरेषां फलानापत्ते-
स्समानकल्पानामेवाधिकारः ॥ १ ॥

(२)—वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणि-
त्वम् ॥ १२ ॥ अर्थाभावात्तु नैवं स्यात् ॥ १३ ॥
अर्थानां च विभक्तत्वात् न तच्छ्रुतेन सम्ब-
न्धः ॥ १४ ॥ पाणेः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः
प्रतीयेत ॥ १५ ॥

एतेन 'राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्' इत्यापि न
मिश्रकल्पयोराधिकारः, द्वन्द्वस्य युगपदधिकरणवचनत्वेन पदद्व-
येऽपि लक्षणावृत्तत्वात् । तदनङ्गीकारेऽपि वा साहित्यबोधार्थं
पदद्वये लक्षणाया आवश्यकत्वाच्च । अन्यथा देवतात्वादेर्व्यासज्य-
वृत्तित्वानुपपत्तेः अतस्तत्पुरुष एवायं तदुत्तरं चैकशेषः अतश्च
समासादुत्पन्नं द्विवचनं तदर्थस्यैव द्वित्वमाह, तस्माद्राजद्वय-
सम्बन्धिनौ द्वौ पुरोहितौ समानकल्पावेव यजेयातामित्याद्यः पक्षः ॥

द्विवचनस्य विशेषान्वयित्वव्युत्पत्तेस्सङ्ख्याधिकरणे व्युत्पा-
दितत्वादेकस्यानेकस्य वा राज्ञो द्वौ पुरोहितावित्यपरः । अथवा
एकशेषं कृत्वैव तत्पुरुषः कार्यः । इतरथा पदद्वयावृत्तिप्रसङ्गात्
राजपदवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । अत एवैकस्यैव राज्ञो द्वौ पुरोहिता-
वित्यन्यः । पूर्वपदे लक्षणायां प्रमाणाभावात् 'पुरोहितं वृणीते'
इत्युपादेयतादशायामेकत्वस्य विधक्षितत्वेन एकस्य राज्ञः पुरोहि-
तद्वयाभावाच्च कर्मधारय एवायमिति प्राप्ते—

ब्राह्मणानामेव पौरोहित्यश्रवणात्कर्मधारयानुपपत्तेर्द्वन्द्व एवा-
यम् । न च तत्र पदद्वये लक्षणा, युगपदधिकरणवचनत्वम्

निराकृतत्वात् । न च साहित्यप्रतीत्यर्थं लक्षणा, तत्प्रतीतेरानु-
मानिकत्वेनाप्युपपत्तौ लक्षणायां प्रमाणाभावात् । समाहारे पर-
मेकत्वान्वयार्थं पदद्वयेऽपि समुदायलक्षणेति विशेषः ॥

वस्तुतस्तु—इतरेतरद्वन्द्वेऽपि व्याप्यभावेन साहित्यप्रतीतेरा-
नुमानिकत्वायोगादवश्यं प्रतीयमानस्य तस्य यद्यपि लाक्षणिकत्व-
मावश्यकमेव । तथाऽपि तल्लक्षणाया एकशेषऽपि समानत्वेन सर्वप-
क्षेष्वावश्यकत्वात्पूर्वोक्तयुक्त्या द्वन्द्वत्वोपपत्तिः । अतश्च राज्ञः पुरो-
हितस्य च भिन्नकल्पयोरप्यधिकारः । पुरोहितोऽपि तस्यैव राज्ञः,
पुरोहितत्वस्य ससम्बन्धिकत्वेन राजप्रतियोगित्वावश्यभावे ऐहिक-
स्यैकराज्यपतित्वरूपसायुज्यफलकत्वस्यान्यत्रानुपपत्तेः । अस्तु
वाऽन्यस्यापि । भिन्नकल्पत्वं च यद्यपि न नराशंसमन्त्रे, राज्ञोऽ-
नुरोधेन पुरोहितस्यापि नराशंससमानकल्पस्यैव सम्भवेन ता-
दृशयोरेव तयोरधिकारोपपत्तेः । तथाऽपि सोमफलचमसरूपभि-
न्नकल्पयोरप्यधिकारः । तत्रापि न विकल्पः, राज्ञः प्राथमिक-
त्वाभिहितत्वाच्च तत्रैमित्तिकेन सोमस्य बाधात् ॥

(३)—सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥१६॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥ ब्राह्मणानां वेतरयो-

रात्विज्याभावात् ॥१८॥ वचनादिति चेत् ॥

न स्वामित्वं हि विधीयते ॥२०॥ गार्हपते

वा स्यातामविप्रतिषेधात् ॥२१॥ न वा क-

ल्पविरोधात् ॥२२॥ स्वामित्वादितरेषामहीने

लिङ्गदर्शनम् ॥२३॥

सत्रेऽपि 'वे यजमानास्त कृत्वाजः' इति श्रुतम् । तत्र न तावद्यजमानानां ऋतुयजनकर्तृत्वरूप ऋत्विक्त्वमादाय द्वयोः प्रथमान्तयोस्सामानाधिकरण्येनान्वयः । 'स्वामिसप्तदशाः' इतिन्यायेन प्राप्ततया वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः । अतात्र ऋत्विक्पदं परिक्रयक्रीतर्त्विक्परं तेनापि च न यजमानपदस्य यागकर्त्रभिन्ना इत्येवं सामानाधिकरण्येनान्वयः स्वात्मनि परिक्रयाऽसम्भवेन बाधात् । न च ऋत्विक्पदे न प्रकृतो वस्तुतो ये परिक्रयक्रीताः तत्कार्यकर्तृनामधाय तेन सह यजमानपदस्याभेदान्वयः, सुबन्तयोः परस्परेनान्वयस्याव्युत्पन्नत्वाद्विशिष्टकर्तृलक्षणापेक्षया तत्कार्यलक्षणाया एव ऋत्विक्पदे न्याय्यत्वाच्च । अतो 'यो होता सोऽध्वर्युः' इतिवज्जघन्ये ऋत्विक्पद एव तत्कार्यं लक्षयित्वा यजमानसंस्कारार्थत्वेन तद्विधीयते यच्छब्दप्राथम्याभ्यां यजमानस्यैवोद्देश्यत्वप्रतीतिः । अत एव फलमुखत्वाद्प्राकृतकार्यकल्पनाऽपि न दोषः । एवमृद्धिकामत्वाविशेषात् त्रयाणामपि वर्णानामातिव्यसंस्कार्यत्वावगतेऽत्रयाणामपि सत्रे अधिकारः । अत एव द्वादशाहे 'बार्हद्विरं ब्राह्मणस्य' इत्यादिलिङ्गमप्युपपद्यते । एवं च यजमानसंस्कारकैरेव ऋत्विक्पदार्थैः प्राकृतकर्तृपकारस्यापि सिद्धेर्न तदर्थं परिक्रयादिभिः ऋत्विगन्तरसम्पादनमित्यापि द्रष्टव्यमिति प्राप्ते—

ज्ञापकसत्त्वे व्यवहितान्वयकल्पनया शाब्दबोधस्य लोके दृष्टत्वादिहापूर्वविधित्वादष्टरूपाप्राकृतकार्यकल्पनादिदोषभिया यच्छब्दस्य व्यवहितान्वयेन स्वरूपप्राप्तिमात्रसूचनेन वा ऋत्विक्कार्यस्यैवोद्देश्यत्वमङ्गीकृत्य यजमानाः कर्तारो विधीयन्ते । न चैतावता अनृत्विक्कर्तृकत्वं शङ्क्यं, यजमानानामपि ऋत्वि-

कत्वस्य साधितत्वात् वरणादिविध्युन्नीतं यजमानभिन्नत्वं पर-
मतिदेशप्राप्तमुपदेशेन बाध्यते । न त्वेतावताऽब्राह्मणकर्तृकत्वम-
पीति तदनुग्रहाय ब्राह्मणानामेवाधिकारः । बार्हद्गिरादिदर्शनं
त्वहीनाभिप्रायेण ॥

(४)—वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् ॥२४॥
सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥२५॥ विश्वामि-
त्रस्य हौत्रनियमात् भृगुशुनकवसिष्ठाना-
मनधिकारः ॥२६॥

प्रकृतौ 'वासिष्ठो ब्रह्मा वैश्वामित्रो होता' इति ब्रह्मत्वा-
नुद्देशेन वासिष्ठादिविधानात् तयोश्च विरुद्धकल्पत्वात्सन्ने वि-
कल्प इति प्राप्ते—

'य एव कश्चित्स्तोमभागानधीते स एव वासिष्ठः' इत्यर्थ-
वादेन इयेनपदस्येव विधिस्त्ववासिष्ठपदस्य लक्षणया स्तोमभागा-
ध्येतृमात्रपरत्वावसायाच्छक्यार्थविध्यभावेन वैश्वामित्रसमानक-
ल्पानामेवाधिकारः । भाष्ये तु 'य एव कश्चित्स्तोमभागानधीते स
एवं ब्रह्मा भवेत्' इति वाक्यमुदाहृत्य तस्य विधित्वाङ्गीकारेण
वासिष्ठो ब्रह्मेत्यस्य तदर्थवादत्वाच्छक्यार्थविध्यभाव इत्युक्तम् ॥

(५)—विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यत् ॥२७॥
सारस्वते च दर्शनात् ॥२८॥ प्रायश्चित्तवि-
धानाच्च ॥२९॥ साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ॥३०॥

स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥३१॥ सन्निवापं च
दर्शयति ॥३२॥

सारस्वतसत्रे 'पररथैर्वा पते स्वर्गं लोकं यन्ति येऽना-
हिताग्नयस्सत्रमासते' इति विधौ सत्रग्रहणस्य प्रकरणेन सङ्कोचे
प्रमाणाभावात् सर्वसत्रेष्वनाहिताग्नीनामप्याहिताग्निसहितानाम-
धिकारः इति मन्यते । अत एव सारस्वतसत्रवदेवेतरसर्वसत्र-
व्यतिरिक्तविषयमेवाधानगतात्मनेपदम् । इष्टिसोमोत्तरकालता तु
ऋत्वङ्गत्वादेकं कश्चित्तादशमिष्टिसोमकर्तारमपेक्ष्योपपन्नैव । न
हि तत्रेष्टिसोमसमानकर्तृकत्वमपि विधीयते वाक्यभेदप्रसङ्गा-
दिति प्राप्ते—

'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत य पतेनानिष्ट्वा उत्त-
रेण यजेत गर्तपत्यमेव तद्भवति' इति वाक्येभ्योऽतिदेशादेक-
कत्वापदोपादानेन वाक्यभेदाभावादिष्टिसोमसमानकर्तृकत्वावगतेः
तत्र च आधानगतात्मनेपदानुरोधेनाहिताग्निमात्रकर्तृकत्वावगतेः
सारस्वतसत्रप्रकरणस्थविधिवाक्येन च ग्रीह्यादिवत्तत्रैवाना-
हिताग्नेरभ्यनुज्ञानादात्मनेपदानुरोधेन इतरसत्रेष्वनाहिताग्नीनामेवा-
धिकारः ॥

(६)—जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्सन्देहे यथाकामी
प्रतीयेत ॥३३॥ अपि वाऽन्यानि पात्राणि
साधारणानि कुर्वीरन् विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृ-
तत्वात् ॥३४॥ प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥३५॥

जुह्वादिपात्रेषु तु आत्मनेपदाश्रवणादौदुखरीसम्माननव-
द्वौणत्वाच्च यस्य कस्य चिद्यजमानस्य पात्रैरपि सत्रे अधि-
कार इति प्राप्ते—

यस्यैव पात्रैरुपक्रान्तः प्रयोगः तस्यैव यजमानस्य सत्र-
प्रयोगमध्ये कदाचिन्मरणे यदि तत्पात्रैस्तस्य दाहस्तदा सत्र-
वैगुण्यं, यदि न दाहस्तदा 'आहिताग्निमग्निभिर्देहन्ति यज्ञपात्रैश्च
दक्षिणे हस्ते जुह्मासादयति' इत्यादिना विहितस्य पात्रप्रति-
पत्तिपूर्वकस्य पात्रगुणकदाहस्य लोपप्रसङ्गः । अतस्साधारणान्य-
न्यानि पात्राण्युत्पाद्य सत्रे अधिकारः ॥

(७)—पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृनियमस्या-
द्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादितरान् प्रत्येक-
स्मिन् अधिकारस्स्यात् ॥३६॥ लिङ्गाच्चेज्या
विशेषवत् ॥३७॥ न वा संयोगपृथक्त्वादु-
णस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ॥३८॥
इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत ॥३९॥

यासु विकृतिषु 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' इति श्रुतं
तासु वैश्यस्यैवाधिकारः प्रकृतौ 'सप्तदश वैश्यस्य' इत्यनेन तत्त-
द्विकृतिषु साप्तदश्यानुवादेन वैश्यस्य कर्तृत्वेन विधानात् । वैश्यो-
द्देशेनापूर्वसाप्तदश्यविधौ पाञ्चदश्यबाधापत्तेः । वासिष्ठानामित्यत्र
तु व्यवसार्थत्वात्तथाऽङ्गीकरणमिति विशेषः । अतश्च वैश्यकर्तृ-
कसाप्तदश्यानुरोधेन तस्यैव तास्वधिकार इति प्राप्ते—

सामिधेनीसाधनीभूतसाप्तदश्योद्देशे विशिष्टोद्देशापत्तेः सा-
प्तदश्यमात्रोद्देशे च विकृत्यपूर्वसाधनीभूतसामिधेनीनामेव वि-

शिष्योपस्थापकाभावेनानुवादायोगात् यूपसाप्तदश्यादावपि विधानापत्तेः प्रकरणानुग्रहाच्च वैश्योद्देशेनैव तदधिकारिकदर्शपूर्णमाससम्बन्धिसामिधेनीवृत्तित्वसम्बन्धेन साप्तदशयं विधीयते, अर्थाच्च वैश्यस्य निमित्तत्वम् । विकृतौ चानैमित्तिकत्वार्थं पुनश्चवणमिति सर्वाधिकारः ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां
षष्ठस्याध्यायस्य षष्ठः पादः

अथ षष्ठस्याध्यायस्य सप्तमः पादः.

(१)-स्वदाने सर्वमविशेषात् ॥१॥ यस्य वा प्रभुस्यादितरस्याशक्यत्वात् ॥२॥

विश्वजिति सर्वस्वं ददातीति श्रुतम् । तत्र पित्रादीनामपि ज्ञातित्वेन स्वशब्दवाच्यत्वाद्धनवदेव दानम् । न च पित्रादिषु यथेष्टविनियोज्यत्वरूपस्वत्वस्य 'स्वामी रिकथक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु' इत्यादिस्वत्वहेत्वभावेनासम्भवात्, पितृत्वाद्यतिरेकेणात्मीयत्वाभावात् स्वत्वत्यागघटितददातिकर्मत्वानुपपत्तिः । कन्यापुत्रदानादेरपि स्मृतिश्रुतत्वेन तत्रापि स्वत्वाङ्गीकारात् । अस्तु वा तदनुरोधेन परस्वत्वापादनमेव दानपदार्थ इति प्राप्ते—

परविधेयोकरणमात्रेण लोके दानशब्दप्रयोगाभावात् स्व-
त्वत्यागपूर्वकपरस्वत्वापादनमेव दानपदार्थः । न च पित्रादौ
स्वत्वे प्रमाणमस्ति स्वत्वहेतूनामभावात् । कन्यादानादौ ददा-
तेद्रौणत्वात् । न चेह तदाश्रयणं युक्तं, स्वशब्दस्य स्वत्वा-
श्रयीभूतधनपरत्वेनाप्युपपत्तेः । किञ्चायं स्वशब्दः प्रत्येकश-
क्त्यैवात्मीयज्ञातिधनेषु प्रवर्तते सर्वानुगतैकशक्यतावच्छेदका-
भावात् । अतश्चैकस्मिन् प्रयोगे एकस्यैवार्थस्य ग्राह्यत्वाद्दा-
त्यनुरोधेन धनस्यैव ग्रहणम् ॥

(२)—न भूमिस्स्यात्सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥३॥

येयं महापृथिवी तस्यास्सार्वभौमधनत्वात् तेन तद्दान-
मिति प्राप्ते—

सार्वभौमस्यापि न तस्यां स्वत्वम् । जयस्यापि च श-
त्रुस्वामिकधनगृहक्षेत्रादिविषय एव स्वत्वोत्पादकत्वात् । महा-
पृथिव्यां तु राज्यमात्राधिकारस्यैव जयेन सम्पादनात् राज्यं
हि स्वविषयपरिपालनकण्टकोद्धारणरूपं, तन्निमित्तकं च तस्य
कर्षकेभ्यः करादानं दण्ड्येभ्यश्च दण्डादानं इत्येतावन्मात्रम् ।
न त्वेतावता तस्यां स्वत्वम् । तथात्वे वनगततृणकाष्ठादीवपि
स्वत्वापत्तौ तत्र स्वत्वोत्पादकपरिक्रयविधिविरोधापत्तेः तद्विष-
यस्थप्रजागृहादिष्वपि स्वत्वापत्तेश्च । तस्मिन्नासौ देया । माण्ड-
लिकनापि न मण्डलम् । परिक्रयादिलब्धं गृहक्षेत्रादिकं तु
देयमेव ॥

(३)—अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषस्स्यात् ॥४॥

अश्वदयः केसरिणोऽपि सर्वस्वे न देयाः 'न केसरिणो ददाति नोभयतोदतः प्रतिगृह्णाति' इति तेषां पर्युदासात् । यद्यपि चानारभ्याधीतेनानेन रागतः प्राप्तस्यैव मित्रादिभ्यः अश्वदानस्थ 'यथाश्रद्धं दक्षिणां ददाति' इत्यादौ अनियमेन विहितस्यापि चाश्वविषये पैच्छिकस्य दानस्य प्रतिषेध एव क्रियते । तथाऽपि विश्वजित्प्रकरणस्थेनानेन पर्युदास एव । सर्वस्वपदेन नियमत एव सर्वस्वदानस्य विहितत्वेनाश्वानांशोऽपि तत्प्रवृत्तेर्वैधतया निषेधपक्षे विकल्पस्यापरिहार्यत्वात् । आवश्यकी चेयं वाक्यद्वय-कल्पना । इतरथा अश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरणादौ लौकिकाश्वदान निषेधकथनानुपपत्तेः । 'नोभयतोदतः प्रतिगृह्णाति' इत्यत्र तु पुरुषार्थः प्रतिषेधो दानलक्षणया वा पर्युदास इत्यपि ध्येयम् ॥

वस्तुतस्तु प्राकृतस्यैव नैमित्तिकस्य सर्वस्वदानस्यानैमित्तिकत्वार्थं विधेयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रकृतौ च दक्षिणार्थभागे इच्छयैवाश्वानां प्रसक्तेरनारभ्याधीतेनैव तन्निषेधोपपत्तौ न विश्वजित्प्रकरणे वाक्यान्तरकल्पनमपि । अत एव ज्योतिष्टोम तद्विकारानङ्गे सर्वस्वदाने अश्वानां दानमिष्टमेव । (इदमत्र चिन्त्यं - ज्योतिष्टोमे सर्वस्वदानपक्षे सर्वस्वं द्वादशशतगवाश्वदि-घटितदक्षिणादिकमित्यस्याग्रे स्थापयिष्यमाणत्वान्नाश्वस्य सर्व-स्वघटितत्वमावश्यकमिति) ॥

(४)—नित्यत्वाच्चा नित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ॥५॥

यत्किञ्चित्पुरुषस्योपभोग्यं स्वं कुप्याकुप्यशयनासनगवादि तत्सर्वं ददाति इति शास्त्रार्थावधारणात् यस्यापि यन्नास्ति सोऽपि तदार्जयित्वा दद्यात् धात्वर्थविधिलाभादिति प्राप्ते—

षष्ठविधिप्रकारापत्तेश्चोदकप्राप्तदानानुवादेन द्वादशशतबा-
धेन सर्वतामात्रविधानात् प्रसिद्धस्वत्वेष्वेव सर्वशब्दस्योपपत्ता-
वप्रसिद्धस्वत्वार्जनाक्षेपकत्वानुपपत्तेश्च नार्जयित्वा देयम् ॥

(५)—शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ॥६॥

धर्मार्थं भृत्यार्थं वा परिचारकत्वेनावस्थितदशूद्रोऽपि न देयः
तत्रास्य स्वत्वाभावात् परवश्यत्वानभ्युपगमसम्भवाच्च । गर्भ-
दासादयस्तु देया एव ॥

(६)—दक्षिणाकाले यत्स्वं तत् प्रतीयेत तद्दान-
संयोगात् ॥७॥

दक्षिणाकाले यत्रास्य स्वत्वं तस्यैव दानं न तु ततः प्रा-
गपि यत्प्राप्तोपभोगं धनं तदनुपभुज्य प्रयत्नेन धारयित्वा
देयम् । धारणप्रयोजकत्वे प्रमाणाभावात् । भाविनस्तु तदानीं
स्वत्वाभावादेवाशक्यं दानम् । न च भाविन्यापि प्रतिश्रवण-
मात्रेण स्वत्वोत्पत्तिः । तथात्वे दत्तस्य पुनर्दानासम्भवेन 'देयं
प्रतिश्रुतं चैव' इति विधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । ददातेस्समर्पणमात्रार्थत्वे
लक्षणाप्रसङ्गाच्च । प्रतिश्रवणेन च स्वोपभोगान्यदानायोग्यता
परं जन्यते उक्तदाननियमात् 'यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्' इत्यन्यस्मै
दाननिषेधाच्च, न तु स्वत्वं निर्वापवत् ॥

(७)—अशेषत्वात्तदन्तस्स्यात् कर्मणो द्रव्यसि-
द्धत्वात् ॥८॥ अपि वा शेषकर्मस्यात्क्रतोः
प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥९॥ तथा चान्यार्थदर्श-

नम् ॥१०॥ अशेषं तु समञ्जसादानेन शेष-
कर्म स्यात् ॥११॥ नादानस्य नित्यत्वात् ॥
दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्त-
स्मादविरोधस्स्यात् ॥१३॥

ज्योतिष्टोमे तद्विकारे तदन्यत्र च यत्र सर्वस्वदानमाप्नातं
तत्र वृत्ता कथा । तत्र तु कर्मारम्भ एव त्रिधा यजमानेना-
त्मीयं धनं वचनाद्व्यवस्थापितं भक्षार्थं क्रत्वर्थं दक्षिणार्थं चेति ।
तत्र सर्वस्य स्वत्वाविशेषात् त्रिविधस्यापि दानं न तु दक्षि-
णार्थभागस्यैव सर्वता । तस्य प्रकृतौ दक्षिणार्थत्वे सर्वस्वदान-
विधिवैयर्थ्यम् । तदभावे भागत्रयस्याप्यविशेषात् दक्षिणार्थोऽयं
भाग इति व्यपदेशानुपपत्तिः । अतश्च प्रत्यक्षवचनोपादिष्टसर्व-
स्वदानवशेनातिदेशप्राप्तकर्मशेषलोपः । पदार्थानां प्रधानत्वादङ्ग-
भूतदक्षिणानुरोधेन बाधस्य प्रमेयबलावलन्यायेनानुपपत्तेर्वा
किञ्चित् क्रतवे शिष्टा सर्वमन्यत्प्रदीयतामिति प्राप्ते —

दक्षिणार्थेन निर्दिष्टस्य तत्सम्बन्धप्राप्तौ सर्वतामात्रविधाने
लाघवमिति तस्यैव सर्वदानम् । न चैवं प्रकृतावपि तस्य
दानापत्तेरत्र विधिवैयर्थ्यं, इतरथा तस्य दक्षिणार्थत्वानुपपत्ति-
रिति वाच्यं, यद्येतावता ऋत्विजो नानमेयुः, अपि तु सर्वस्वे-
नेत्यनेन वचनेन द्वादशशतेनानत्यसम्भवे तस्यापि दक्षिणार्थ-
त्वात् । अत्र च दक्षिणार्थभागस्यैव देयत्वे अवस्थिते पूर्वत-
नानि षडधिकरणानि कृत्वाचिन्तयेति केचित् ॥

वस्तुतस्तु-पित्रादीनामपि दक्षिणाभागान्तःपातित्वेन विचा-
रोपपत्तेर्न कृत्वाचिन्तात्वम् ॥ ७ ॥

(८)—अहर्गणे च तद्धर्मा स्यात् सर्वेषामविशेषात् ॥१४॥ द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥१५॥
अतद्गुणत्वात् नैवं स्यात् ॥१६॥ लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

अस्त्यष्टरात्रोऽहीनः तस्य विश्वजित्प्रथममहः ततोऽभिप्लवष्ण-
डहः ततोऽभिजित् 'पशुकामो ह्येतेन यजेत' इति श्रुतः । तत्र
विश्वजिति प्रकरणान्तराधिकरणोक्तन्यायेन कर्मान्तरे नामातिदे-
शेनैकाहकाण्डपठितविश्वजितो धर्मः सर्वस्वं अन्येषु तु गण-
त्वाद्द्वादशाहतो ज्यौतिष्टोमिकी दक्षिणा । द्वादशाहेऽपि च प्र-
तिसुत्यं भेदेनातिदेशेऽपि प्रयोगैकत्वेन कर्तैकत्वस्य दशमे वक्ष्य-
माणत्वात्तदानत्यर्थाया दक्षिणाया अपि तन्त्रेणादावन्ते वा देय-
त्वप्रसक्तौ 'अन्वहं द्वादशशतं ददाति' इत्यनेनावृत्तिफलकोऽन्व-
हकालो विधीयते । द्वादशशतस्यापि विधाने वाक्यभेदा-
पत्तेः । प्राकृतषष्टिपक्षादि दक्षिणामात्रोपलक्षणं तत् । तेन या दक्षिणा
तन्त्रेण देयत्वेन प्रसक्ता तां प्रत्यहं ददातीति तद्वाक्यार्थः ॥

तदिहाष्टरात्रे नामातिदेशप्राथम्याभ्यां विश्वजिद्धर्मानुग्रह-
प्राप्तावपि भूयोऽनुग्रहस्य न्याय्यत्वात् द्वादशशतस्यैव तन्त्रे-
णोपकारकत्वप्रस्तेस्तस्यैवान्वहमित्यनेनावृत्तिकरणाद्द्वादशशतमेव
प्रत्यहं देयमिति वार्तिककाराशयः । भाष्यकाराशयस्तु अष्टरा-
त्रप्रकरणस्यैव "हीयते वा एष पशुभिर्यो विश्वजिति न सर्वस्वं
ददाति" इत्यनन्यथासिद्धलिङ्गोपष्टब्धप्राथम्यादिना तत्कल्प्यविधि-
नैव वा सर्वस्वविधानादाय एव सर्वेषु वाऽहस्सु सर्वस्वं
देयमिति ॥८॥

(९)—विकारस्सन्नुभयतोऽविशेषात् ॥१८॥ अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥१९॥ अनुग्रहाच्च पादवत् ॥२०॥

प्रकृतिभूते विश्वजिति द्वादशशतादिन्यूनधनस्यापि सर्व-
स्वपदवाच्यत्वोपपत्तेः तद्वतोऽप्यधिकार इति प्राप्ते—

प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे यद्येतावता ऋत्विजो नानमेयुरपि तु
सर्वस्वेनेत्यनेन द्वादशशतासाध्यायामानतौ सर्वस्वविधानात्तत्र
च तदधिकस्यैव योग्यतया प्राप्तेस्तादृशस्यैवात्र पक्षप्राप्तस्य
नियममात्रकरणाद्वादशशताधिकधनवत् एव विश्वजित्यधिकारः ॥

(१०)—अपरिमिते शिष्टस्य सङ्ख्याप्रतिषेधस्त-
च्छ्रुतित्वात् ॥२१॥ कल्पान्तरं वा तुल्यव-
त्प्रसङ्ख्यानात् ॥२२॥ अनियमोऽविशेषात् ॥
अधिकं वा स्याद्वह्वर्थत्वादितरेषां सन्निधा-
नात् ॥२४॥ अर्थवादश्च तद्वत् ॥२५॥

आधाने “एका देया षट् देयाः द्वादश देयाश्चतुर्विंशतिर्दे-
याश्शतं देयं सहस्रं देयं अपरिमितं देयमिति” श्रुतम् । तत्रा-
परिमितशब्दः परिमाणशून्यमवयवव्युत्पत्त्याऽभिधत्ते । न च
परिमाणशून्यस्य दान सम्भवतीत्यतः प्रकृतपरिमाणशून्यत्वमर्थः ।
तेन प्रकृतपरिमाणप्रतिषेध एवायमिति प्राप्ते—

ज्ञातपरिमाणेऽपि बाहुल्यमात्रेण लोके अपरिमितशब्दप्र-
योगात् बाहुल्ये शक्तिः । ततश्चाश्वकर्णादिवद्रूप्या योगवाधा-

ज्ञायं पूर्वपरिमाणप्रातिषेधः । अपरिमितशब्दस्य नञ्समास-
त्वेन तदन्तर्गतस्य नञः क्रियान्वयव्युत्पत्त्यभावेन निषेधायो-
गाच्च । प्रकृतपरिमाणानामनेकत्वबलेनैव विकल्पप्राप्तेर्निषेधवैय-
र्थ्याच्च । प्रकृतपरिमाणातिरिक्तानियतपरिमाणकदानान्तरविध्य-
ङ्गीकारे च लक्षणाद्यापत्तेः वरं बहुत्वावाच्छिन्नद्रव्यकदानान्तर-
विधिरेवायम् । बहुत्वस्य चापेक्षिकत्वेन पूर्वप्रकृतसहस्रावधि-
कत्वनिश्चयात्तदपेक्षयाऽधिकमेवापरिमितम् ॥ १० ॥

(११)—परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मस्स्याद-
र्थाय ह्यनुकीर्तनम् ॥२६॥ तद्युक्ते च प्रति-
षेधात् ॥२७॥ निर्देशाद्वा तद्धर्मस्स्यात्पञ्चा-
वत्तवत् ॥२८॥ विधौ तु वेदसंयोगादुपदेश-
स्स्यात् ॥२९॥ अर्थवादो वा विधिषेष्टत्वा-
त्तस्मान्नित्यानुवादस्स्यात् ॥३०॥

दर्शपूर्णमासयोः “इति ह स्माह बहुवर्षिण्यर्माषान्मे पचत”
इति श्रुतम् । इदं चैककर्तृकोपाख्यानपरत्वात्परकृतिः । अयं चा-
ख्याशानविधेश्शेषः । बहुकर्तृकोपाख्यानपरं च वाक्यं पुरा-
कल्पः सत्रे “उल्मूकैस्सह पूर्वं समाजग्मुः तानसुरा रक्षांसि
निजघ्नुः” इति । अयं च “ग्रहपतेरेवाग्निषु निर्मन्थ्यं निर्वपेरन्”
इति निर्मन्थ्याग्निसंसर्गस्तुत्यर्थः उल्मूकसंसर्गनिन्दकस्सन् तद्वि-
धेश्शेषः । न तु स्वतन्त्रो विधिरित्यौदुम्बराधिकरणे निर्णीत-
मेव । परकृत्युदाहरणे तु यदा विधिस्तदा कृत्वाचिन्तया
विचार्यते । वृष्णिगोत्रोत्पन्नाधिकारिकदर्शपूर्णमासोद्देशेन तत्क-

तृसंस्कारार्थतया वा माषपाकविधिरिति तद्वत् एव माषपाका-
धिकारो वैश्यनिमित्तकसाप्तदश्यवत् । न ह्यत्र प्राच्यत्ववत्
वृष्णिगोत्रत्वं दुर्बचं येन तत्कल्पविधेः सामान्यविषयत्वं
स्यादिति प्राप्ते—

स्तुत्युपायत्वेनोपात्तस्य वृष्णिगोत्रत्वस्य विधेयमाषपाकवि-
शेषणत्वकल्पने प्रमाणाभावान्माषपाकमात्रविधानेन सर्वाधिकारः ॥

(१२)—सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवात्
मनुष्येषु ॥३१॥ अपि वा तदधिकारान्म-
नुष्यधर्मस्स्यात् ॥३२॥ नासामर्थ्यात् ॥३३॥
सम्बन्धादर्शनात् ॥३४॥ स कुलकल्पस्स्या-
दिति काष्णार्जिनिरेकस्मिन्नसम्भवात् ॥३५॥
अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोग-
स्स्यात् ॥३६॥ विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतर-
स्स्यादिति लावुकायनः ॥३७॥ संवत्सरो
विचालित्वात् ॥३८॥ सा प्रकृतिस्स्याद-
धिकारात् ॥३९॥ अहानि वाऽभिसङ्ख्य-
त्वात् ॥४०॥

“पञ्च पञ्चाशतस्त्रिवृतस्संवत्सराः । पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः ।
पञ्चपञ्चाशतस्सप्तदशाः । पञ्चपञ्चाशत एकविंशाः । विश्वसृजाम-
यन्ते सहस्रसंवत्सरमिति” श्रुतम् । तत्र पञ्चाशच्छब्दः सङ्ख्या-

पर एव । त्रिवृत्संवत्सरशब्दौ तु लक्षणया त्रिवृत्स्तोमकसंवत्सरसाध्यक्रतुवृत्तिपरौ । पञ्चाशच्छब्दविशेषणं पञ्चाशदोऽपि । तेन तादृशक्रतुवर्तिनी पञ्चत्वसङ्ख्यावच्छिन्ना पञ्चाशत्सङ्ख्येति पार्ष्टिकान्वयवेलायां फलितोऽर्थः । तदिदं त्रिवृदादिस्तोमकत्वं यद्यपि साक्षात्सम्बन्धेनाहन्येव । तथाऽपि तादृशाहर्घदितत्वात्संवत्सरेऽपि तत्सम्भवतीति न कोपि दोषः ॥

तत्र संवत्सरशब्दो मुख्यया वृत्त्या संवत्सरमेवाभिधत्ते तेन मनुष्याणां सहस्रायुष्ठाभावातिर्यगाधिकरणे निराकृतोपि श्रुतिबलाद्बन्धवादीनामेवाधिकारः । तेषां त्वग्न्याशुपसहारासामर्थ्यान्मनुष्याणामेव वा रसायनलब्धसहस्रायुषां सः । रसायनादेरेतावदायुस्सम्पादनसामर्थ्ये प्रमाणाभावात् 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेश्चैकेनारब्धस्य पुत्रादिपारम्पर्येण समपनमिति कुलकल्पो वा । 'शास्त्रफलं प्रयोक्तुरि' इति न्यायस्य विनावचनमपवादे प्रमाणाभावात् समस्तकर्मानुष्ठानाभावे विकलानुष्ठायिनां फलानुत्पत्तिप्रसङ्गात्सन्नारम्भादेव सहस्रायुष्यं जायत इति वा कल्प्यम् । एतादृशलपनेऽपि प्रमाणाभावात् पञ्चपञ्चाशत इति यजमानाभिप्रायासङ्ख्या । तेनैकोपि त्रिवृत्स्तोमकयागयुक्तस्संवत्सरः पञ्चपञ्चाशत्सङ्ख्याकैर्यजमानैस्सम्बध्यमानस्तावत्सङ्ख्य इत्युपचर्यते । अतश्चतुस्संवत्सरमिदं सत्रं सार्धशतद्वयैर्यजमानैः कार्यमिति वा पक्षान्तरम् । अस्यापि बुद्धावत्यन्तमनारोहात् 'सप्तदशावराश्चतुर्विंशतिपरमाः' इत्यातिदेशिकपरिमाणबाधापक्षेऽननुपपत्तिः ॥

तस्मात् सङ्ख्याशब्दं संवत्सरशब्दं वा गौणमाभित्यैव मनुष्याधिकारस्समर्थनीयः । तत्रापि सङ्ख्याशब्दयोर्मुख्यत्वादेकार्थनि-

अयसामर्थ्याच्च न स्वार्थत्यागः । संवत्सरपदं तु जघन्यत्वात्
 सौरचान्द्रादिभेदेनानेकार्थत्वाच्चार्थनिश्चयासमर्थं भवतीति गौणम् ।
 तत्र 'यो मासस्ससंवत्सरः' इति दर्शनान्मासेष्वेव संवत्सरशब्द-
 इत्येकः पक्षः । तत्रापि त्वशक्तिस्तदवस्थैव । न ह्याधानादूर्ध्वं
 सहस्रमासपर्यन्तं जीवनं सम्भवति । अतः 'संवत्सरप्रतिमा वै
 द्वादश रात्रयः' इति प्रयोगात् द्वादशरात्रिष्वित्यपरस्सिद्धान्तः ।
 प्रतिमाशब्दविशेषणं त्वत्र संवत्सरशब्दो, न तस्य द्वादशरा-
 त्रिषु प्रयोगः, तेन त्रिवृदादिशब्दसामञ्जस्यादिवसेषु संवत्सर-
 शब्दः । त्रिवृदादिपदैर्हि स्तोत्रमात्रवाचकैरपि तद्विशिष्टं अह-
 रेव लक्षणया प्रकाश्यते । तत्सङ्गस्तु लक्षितलक्षणया । लक्ष्य-
 तावच्छेदकगौरवाङ्गीकारेण वा । अतस्तद्विज्ञा संवत्सरपदं दि-
 वसपरमेवेति सिद्धान्तः । इदं च कृतादियुगान्तरेष्वपि मनुष्याणां
 शतमेव परमायुरिति कृत्वाचिन्तया । यदा तु स्मृतिपुराणेतिहा-
 सादौ श्रुतस्य प्रकृष्टतरपुण्ययोगादिफलस्यानेकसहस्रवत्सरपरि-
 मितस्यायुषोपि प्रकृतश्रुत्युपपृष्ठम्य प्रामाणिकत्वं एतज्ज्ञापकबले-
 नैव च 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतौ शतान्यायूषि यस्येति वि-
 ग्रहः कलियुगाभिप्रायत्वं वाऽऽश्रयणीयं, तदा त्रिवृदादिशब्दै-
 नाहस्सङ्गमेव त्रिवृत्स्तोमकाहर्घटितत्वसम्बन्धेन लक्षयित्वा संव-
 त्सरशब्दो यथाश्रुत एव । सत्रं च गोवधादिवयुगान्तरस्थतावदा-
 युष्यमनुष्यपरमिति ध्येयम् । न हि मीमांसकमते युगादिव्यवस्थाऽ-
 लीका । तत्तद्युगधर्मव्यस्थापकस्मार्तविधीनां निर्विषयत्वापत्तेः ॥ १२

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदोषिकायां

षष्ठ्याध्यायस्य सप्तमः पादः ॥



अथ षष्ठाध्यायस्याष्टमः पादः

(१)—इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमस्संस्कृतेष्वग्नि-
षु स्यादपूर्वोप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ॥१॥
इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतृनसंस्कृतेषु दर्श-
यति ॥२॥ उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ॥३॥ स
सर्वेषामविशेषात् ॥४॥ अपि वा क्रत्वभा-
वादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः ॥५॥ जपो-
याऽनग्निसंयोगात् ॥६॥ इष्टित्वेन तु संस्तुते
होमस्स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवा-
च्यत्वात् ॥७॥ उभयोः पितृयज्ञवत् ॥८॥
निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयो-
गात् ॥९॥ पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वच-
नम् ॥१०॥

सन्ति चतुर्होतृसंज्ञका मन्त्राः “पृथिवी होता । द्यौरध्वर्युः”
इत्यादयः तैर्जपहोमाश्च विहिताः । तत्र ये तावत्क्रत्वार्थाः पुन-
रार्था अपि वा वचनात् क्रतुप्रयोगमध्यवर्तिनः तेषु विवाद
एव नास्ति । येऽपि पृथग्भूताः काम्या जपास्तेष्वप्यविवाद एव
आहिताग्न्यनाहिताग्निसाधारणत्वात् । ये तु तादृशा होमाः

तेषां 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यनेनाहवनीयाधिकरणकत्वस्य विहितत्वादितरहोमवदेवाहिताग्निमात्राधिकारकत्वम् । यत्तु 'एषा वै अनाहिताग्नेरिष्टिः' इति चतुर्होतृसन्निधौ वचनं तद्येयमनाहिताग्नेः क्रिया जपादेरूपा सा इष्टितुल्येत्येवमिष्टिसादृश्यमात्रानुवादेन जपाभिप्रायकतया नानुपपन्ना । यदि तु विध्यन्तरशेषत्वाभावेनार्थवादत्वानुपपत्तेर्जपे इष्टिसादृश्यस्य कथमप्यनुपपत्तेश्चार्थं, येयं त्यागघटितत्वसादृश्याच्चतुर्होतृहोमरूपेष्टिः साऽनाहिताग्नेरित्यर्थाङ्गीकारेण विधिरित्याश्रीयेत तथाऽप्यस्याहिताग्निपरिसङ्ख्यार्थत्वे प्रमाणाभावात् पिण्डपितृयज्ञवदुभयाधिकारिकत्वमिति प्राप्ते—

प्रत्यक्षवचनेनानाहिताग्नेः कर्तृत्वविधौ तत एव स्मार्ताग्रथधिकरणकत्वप्राप्तेराहवनीयाधिकरणकत्वस्यासम्भवादेव बाधात्परिसङ्ख्यात्वानापत्तेरनाहिताग्नेरेवाधिकारः । पिण्डपितृयज्ञे तु एवमनाहिताग्निरिति वचनेऽनाहिताग्नेरप्यभ्यनुज्ञानादुभयाधिकार इति विशेषः ॥ १ ॥

(२)—उपनयन्नादधीत होमसंयोगात् ॥११॥

स्थपतीष्टिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ॥१२॥ आधानं च भार्यासंयुक्तम् ॥१३॥
अकर्म चोर्ध्वमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः ॥१४॥ श्राद्धवदिति चेत् ॥१५॥
न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥१६॥ सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥१७॥ सोमपाना-

तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत् ॥१॥
पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत ॥१॥

उपनयनाङ्गभूता होमा आचार्यकर्तृका माणवककर्तृकाश्चो-
भयेऽप्युपनयनद्वारा माणवकसंस्कारार्था इत्यविवादम् । तत्र
य तावदाचार्यकर्तृकास्तेषां सत्यप्याचार्यस्याहिताग्नित्वे आधा-
नगतात्मनेपदविरोधान्नाचार्याग्निषु कार्याः । अपि तु लौकिक
एवाग्नौ । ये तु माणवककर्तृकास्ते तु सुतराम् । ऋतुविधीना-
मिवोपनयनाङ्गभूतहोमानामप्याधानाप्रयोजकत्वात् । प्रयोजकत्वेऽपि
वाऽऽधानस्येतरकर्मवत् ज्ञानाक्षेपकत्वाभावेनोपनयनात्पूर्वं कर्तुम-
शक्यत्वाच्च । आक्षेपकत्वेऽपि चौभयाधिकारकस्याधानस्य भा-
र्याभावेनानुपपत्तेश्च । भार्यायाश्च 'स्नात्वा भार्यामधिगच्छेत्'
इति समावर्तनोत्तरकालं विवाहविधानेन पूर्वमसम्भवात् ।
न च प्रयोजनानुरोधेन कालबाधः । एतद्वाक्यस्य निर्विषयत्वा-
पत्तेः । न चापत्यार्थं दारान्तरकरणे कालविधिः । 'धर्मे चार्थे
च' इत्यादिपर्यालोचनया धर्मार्थमपत्यार्थं च दारान्तरानुपपत्तेः
दारक्रियायामपि खतन्त्रकालाज्ञानेन ऋतुविधीनामाधानाध्ययन-
वदेव दारक्रियाप्रयोजकत्वाभावाच्च । अत एव न विरक्तस्य
कर्मार्थं दारक्रिया, किन्त्वाश्रमान्तरमेव । किञ्चोपनयनात्पूर्वमा-
धानकरणे जातपुत्रत्वाद्याधानकाललोपोऽष्टवर्षाद्युपनयनकाललो-
पो वा प्रसज्येत । अतस्तेऽपि लौकिकाग्नावेव ॥ २ ॥

(३)—स्थपतीष्टिः प्रयाजवदग्रयाधेयं प्रयोजये-
त्तादर्थ्याञ्चापवृज्येत ॥२०॥ अपि वा लौ-

किकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात् ॥२१

निषादेष्टेः दर्शपूर्णमासविकृतित्वादतिदेशेनाहवनीयादिप्राप्तौ तेषामाधानाधीनत्वादसत्यपि तस्य स्वतन्त्राधानविधौ निषादेष्टिरेवास्याधानं प्रयोजयेदिति प्राप्ते—

सत्यपि तस्याग्निजनकाकाङ्क्षत्वे जनकीभूतस्याधानस्य ब्राह्मणादिकर्तृकत्वेनैवोत्पन्नत्वात् निषादकृतेनाग्निनिष्पत्तौ प्रमाणाभावात् प्रकृतौ परप्रयुक्ताग्न्युपजीवनेनेहाहवनीयादिप्राप्तेरेवाभावाच्च न तेषु सा । विद्यायास्तु तद्व्यतिरेकेण निषादेष्टेरेवासम्भवात्तदुपायस्य लौकिकत्वेनक्षिपोपपत्तिरिति वैषम्यम् । तेनाहवनीयाधनाक्षेपकत्वेऽपि 'यत्र कच न होष्यन् स्यात् पञ्चभू-संस्कारान् कृत्वा लौकिकाग्निं प्रतिष्ठापयेत्' इति स्मृतिवचनेनाग्र्यन्तराभावे होममात्रोद्देशेन लौकिकाग्निविधानात्तमेव तद्देशे स्थापयित्वा तेष्विष्टिः कार्या । यत् 'तस्मिन् गृहाणि' इति गौतमवचनं लौकिकाग्निप्रापकत्वेन तन्प्ररत्ने उदाहृतं तत् गौतमस्मृतौ तच्छब्देन स्मार्ताग्नेरेव परामर्शात् निषादेष्टेश्च गृह्यत्वाभावादुपेक्षितम् । न हि गृहशब्दवाच्यदम्पत्योर्हितमिति उच्यते तस्याऽस्यापि गृह्यपदवाच्यत्वं, अभियुक्तप्रसिद्ध्या गृह्यपदस्य गृह्यसूत्रोक्तकर्मस्वेव रूढत्वेन योगस्याप्रयोजकत्वात् । इतरथा गृह्यत्वापत्तेः ॥ ३ ॥

(४)—अवकीर्णपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ॥२२॥

'यो ब्रह्मचार्यवकिरेत् स नैऋतं गर्दभं पशुमालभेत्' इति श्रुतौ यागोपि लौकिक एवाग्नौ सत्यपि त्रैवर्णिकत्वे विद्वत्त्वे वा

भार्याभावेनाधानासम्भवात् । न चावकीर्णिनोपि स्नात्वा विवाहे
बाधकाभावः 'अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्' इति वचनेन
विप्लुतब्रह्मचर्यस्यावकीर्णिनोऽकृतप्रायश्चित्तस्य विवाहनिषेधात् ।
न ह्यत्राविप्लुतब्रह्मचर्यपदेन कृतब्रह्मचर्याश्रमोत्तराश्रमयोः पौर्वा-
पर्यमात्रस्यानेन विधानादवकीर्णिनोऽपि विवाहे बाधकाभावः ।
'स्नात्वा भार्यामुपेयात्' इत्यनेनैव स्नानपूर्वभाविनो ब्रह्मचर्यस्य
स्नानोत्तरभाविना विवाहेनार्थात् पौर्वापर्यसिद्धेरस्य वचनस्य
साङ्गब्रह्मचर्यवत एव विवाहाधिकार इत्येवमर्थतयाऽवकीर्णिनो
विवाहानुपपत्तेः । अतस्सोपि लौकिकाग्नावेव । आपस्तम्बवचना-
दप्सु वा । अयं चावकीर्णियागो न दैक्षप्रकृतिकः । 'गर्दभं
पशुम्' इति पशुशब्दोपादानवैयर्थ्यात् । किन्तु 'अथ पशुकल्पः'
इत्याश्वलायनोक्तायास्मार्तपञ्चतिकाव्यवहाराया एव तदङ्गत्वमिति
केचित् ॥ ४ ॥

(५)—उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु दैवानि
स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ॥२३॥ अहनि च
कर्मसाकल्यम् ॥२४॥ इतरेषु तु नि-
ऽयाणि ॥२५॥

श्रुतौ स्मृतौ वा यस्मिन् कर्मणि दैवे पित्र्ये वोदगयन-
शुक्लकृष्णपक्षादिः यः कालः प्रत्यक्षवचनेनान्यार्थदर्शनकलत्रवि-
धिना वा विहितस्सोऽविरोधे समुच्चयेन विरोधे विकल्पेन
ग्राह्य इत्येवं सुदृढत्वा सूत्रकारशिष्येभ्य उपदिष्टवान् ॥ ५ ॥

(६)—याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ॥२६॥
नियतं वाऽर्थवत्त्वात्स्यात् ॥२७॥

‘दीक्षितो भृतिं वन्वीत’ इति याज्ञा यस्यापि दक्षिणादानार्थं द्रव्यमस्ति तेनापि कार्या न त्वविद्यमानद्रव्येणैव । नित्यवच्छ्रवणेन सर्वदैव क्रतुनाऽपूर्वेण च प्रयुक्तत्वात् । न चास्याः द्रव्यप्राप्तिद्वारा द्रव्यसंस्कारकत्वात् द्रव्यसत्त्वे च तत्प्रापणोपायवैयर्थ्याद्द्रव्यसत्यपि निमित्तत्वश्रवणे प्रयोजनवशादेवाकाङ्क्षितविधिन्यायेन नियमविधित्वोपपत्तिरिति वाच्यं, अनाकाङ्क्षितविधानस्य फलकल्पकत्वेन दोषत्वात् प्रकृते चाविद्यमानद्रव्यस्थले द्रव्यप्राप्तिरूपफलवत् विद्यमानद्रव्यस्थलेऽपि ताफलत्वाविशेषात् कल्पनाभावेन दोषत्वाभावात् । याज्ञाप्राप्तद्रव्यस्यैव कत्वपूर्वेण ग्रहणात् नित्यत्वोपपत्तेः । एवं विद्यमानेऽपि सोमे क्रयस्यावश्यकत्वम् ॥ ६ ॥

(७)—तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञसक्षोमद्वेषम् ॥

एवं पयोव्रताद्यपि विद्यमाने अविद्यमानेऽपि भक्षान्तरे स्यात् । ‘अग्नीदग्नीन् विहर’ इति च प्रैषोऽन्यतोऽनवबुद्धे अवबुद्धेऽपि स्यात् । बुद्धेऽप्यर्थे एतद्वोधजन्यनियमादृष्टसिद्ध्यर्थं प्रैषावश्यकत्वात् । अत एव प्रैषजन्यबोधानुष्ठितेनैव फलसिद्धिरिति कल्पनमपि प्रामाणिकम् । प्रैषग्रहणं च मन्त्रमात्रोपलक्षणम् । तथा दर्भमयं वासो वाजपेये वासोऽन्तरसत्त्वेऽपि परिधेयमेव । तथा “यत्पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहते अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः” इति मन्त्रेण विहितस्य सक्षसहोमस्यापि पशुयागे नित्यं करणम् । न च संज्ञसहोमस्य मान्त्रवर्णिकशब्दकरणादिजन्यदोषनिर्घातार्थत्वप्रतीतेः तदनुरोधेन मायुपदवाच्यशब्दकरणादावेव होम इति वाच्यं, शब्दादिकरणस्य दोषजनकत्वे प्रमाणाभावेन मान्त्रवर्णिकफलकल्पनानुपप-

त्तेः । एतद्वलेनैव दोषकल्पने गौरवाच्च । किञ्च नात्र शब्दादि-
करणादेव दोषः । अपि तु तदनुकूलप्रयत्नरूपादाख्यतार्थात् तस्य
च प्रतिबन्धकवशाच्छब्दाद्यनुत्पत्तावप्युत्पत्त्यावश्यकत्वेन संज्ञम-
होमस्य नित्यत्वम् । तथा 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः'
इति मन्त्रोऽपि द्वेष्ट्यनिश्चयसत्त्वे असत्त्वे वा सर्वदैव प्रयोक्तव्यः ।
न च मन्त्रलिङ्गवशेन प्रकरणसङ्कोचः । परकर्तृकद्वेषस्यायोग्यत्वेन
तदभावनिश्चयायोगात् । स्वनिष्ठद्वेषविषयस्यान्ततः पापादेरपि
सम्भवेन मन्त्रलिङ्गाविरोधात् ॥ ७ ॥

(८)—अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ॥२९॥

प्रयोव्रतं यदि रोगोत्पत्त्यादिना मरणादिहेतुस्सम्भाव्यते
तदा क्रतुविरोधप्रसङ्गान्न कार्यमिति जातेष्टिन्यायेन गतार्थमपीदं
शिष्यहितार्थमुक्तम् ॥ ८ ॥

(९)—पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

छागो वा मन्त्रवर्णात् ॥३१॥ न चोदना-
विरोधात् ॥३२॥ आर्षेयवदिति चेत् ॥३३॥
न तत्र ह्यचोदितत्वात् ॥३४॥ नियमो वै-
कार्थ्यं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात् ॥
अनियमो वाऽर्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेक-
शब्दभेदाभ्याम् ॥३५॥ रूपाल्लिङ्गाच्च ॥३७॥
छागेन कर्माख्या रूपाल्लिङ्गाभ्याम् ॥३८॥
रूपान्यत्वान्न जातिशब्दस्स्यात् ॥३९॥

विकारो नोत्पत्तिकत्वात् ॥४०॥ स नैमि-

त्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ॥४१॥

जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ॥४२॥

‘अग्नीषोमीयं पशुमालभेत’ इत्यादौ पशुशब्दो न सामान्य-
वचनः । न हि पशुत्वं जातिः प्रमाणाभावात् कार्यतायाः का-
रणताया वाऽनवच्छेदकत्वात् । नापि पुच्छादिमत्त्वं तस्यानु-
गतत्वाभावेन सामान्यत्वाभावात् । अतः पशुशब्दो व्यक्ति-
वाची । ततश्च सर्वासामश्वदिव्यक्तीनामप्युक्तत्वात् नायं स-
न्दिग्धः । अतश्च नार्थवादवदत्र ‘छागस्य वपायाः’ इति मन्त्रस्य
निर्णायकत्वम् । यद्यपि चायं सामान्यवाची भवेत् । तथाऽपि
मन्त्रस्य भिन्नवाक्यत्वात् तद्व्यतिरेकेणैव विधेः सर्वविषयतया
पर्यवसानात् न तत्सङ्कोचकत्वम् । एवं सत्यपि यदि मन्त्रस्य
विधायकता भवेत् तदा ‘आर्षेयं वृणीते त्रीन् वृणीते’ इतिव-
द्भेदपि विशेषणविशेष्यभावो न त्वेतदस्ति । अतो मन्त्रस्य छा-
गपदं छिन्नपुंस्त्वाख्यगमनवत्त्वयोगेन वयोविशेषवचनत्वेन वा
सर्वपशुपरम् । छागपक्षे वाऽयं मन्त्र इति प्राप्ते—

छागशब्दस्याजे रूढत्वेन यौगिकत्वानुपपत्तेः पुंस्त्ववतो
विहितत्वेन यौगिकार्थग्रहणानुपपत्तेश्च न तावद्यौगिकत्वम् । वयोऽ-
वस्थाविशेषवचनत्वेऽपि वा शोणादिशब्दवदजागतस्यैव वयसो
वाच्यत्वादश्वदिग्रहणानुपपत्तेः । छागग्रहणेनापि पशुत्वस्यावि-
रोधोपपत्तौ मन्त्रस्य पाक्षिकत्वकल्पनानुपपत्तेः छागस्यैव ग्र-
हणम् । यद्यपि च पशुशब्दो व्यक्तिवचनस्स्यात् । तथाऽपि युग-
पत्सर्वव्यक्तिग्रहणाभावेनैकव्यक्तिग्रहणे मन्त्रस्य त्वकाशत्वाच्च
छागव्यक्तिमात्रग्रहणेऽपि न किञ्चिद्वाधकम् ॥

वस्तुतस्तु सामान्यवाच्येवायं, तदपि च यद्यपि पुच्छव-
त्त्वादि, तथाऽपि लोमवत्पुच्छत्वावच्छिन्नवत्त्वस्यैवानुगतस्य वक्तुं
शक्यत्वात् न विरोधः । वस्तुतस्तु पुच्छाद्यप्रतीतावपि पशु-
त्वप्रतीतेः पशुत्वं जातिरेवेति सामान्यवचनत्वमव्याहतं तेन युक्तं
एव मन्त्रेण निर्णयः । भिन्नवाक्यत्वेऽपि च पशुछागशब्दयोः
विशेषणविशेष्यभावो वाक्यैकवाक्यतया न विरुध्यते । इदं च
सर्वं 'अजोऽग्नीषोमीयः' इति शाखान्तरवाक्यं नास्तीति कृत्वा-
चिन्तया बोध्यम् । तत् सिद्धं छागवत एवाधिकार इति निरू-
पितोऽधिकारः ॥ ९ ॥

इति श्रोतखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

षष्ठस्याध्यायस्याष्टमः पादः

अध्यायश्च समाप्तः ॥

अथ सप्तमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः

- (१) श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथा-
धिकारं भावस्स्यात् ॥ १ ॥ उत्पत्त्यर्थावि-
भागाद्वा सत्त्ववदैकधर्म्यं स्यात् ॥ २ ॥ चोद-
नाशेषभावाद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरन् उत्पत्तेर्गु-
णभूतत्वत् ॥ ३ ॥ सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सा-
र्वत्रिकं प्रतीयेत ॥ ४ ॥ अविभागात्तु नैवं
स्यात् ॥ ५ ॥ द्वयर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ॥ ६
उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्ति-
स्स्यात्ततश्च कर्मभेदस्स्यात् ॥ ७ ॥ यदि
वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात्सर्वधर्मस्स्यात् ॥
॥ ८ ॥ अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्याद-
भिधानेषु पूर्ववत्त्वात्प्रयोगस्य कर्मणश्शब्द-
भाव्यत्वाद्भिभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिस्स्यात् ॥

स्मृतिरिति चेत् ॥ १० ॥ न पूर्ववत्त्वा-
त् ॥ ११ ॥ अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रक-
रणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावस्स्या-
त् ॥ १२ ॥

एवं साधिकारे उपदेशेऽवगतेऽधुना तदर्धानसिद्धिर्भवे-
देशो निरूप्यते । अतिदेशो नाम यः पदार्थो यादृशोपकार-
द्वारा यदङ्गत्वेनावधारितः तस्य पदार्थस्य तत्सम्बन्धित्वेन
रूपेण तादृशोपकारद्वारैवान्याङ्गताबोधकं प्रमाणम् । भवति हि
प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येत्येवमादिकं वाक्यं प्रयाजादिपदा-
र्थानां यादृशोपकारद्वारा आग्नेयाङ्गत्वेनावधारितानामाग्नेयादि-
सम्बन्धित्वेन रूपेण तादृशोपकारद्वारा सौर्याद्यङ्गत्वबोधकम् ।
'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवीषि' इत्यपि च तदीयब्राह्मणवत्त्वज्ञापन-
द्वारा तदीयधर्माणां ब्राह्मणार्थभूतानामुक्तरीत्यैव विकृत्यङ्गत्वबोध-
कम् । 'मासमग्निहोत्रं' इत्यग्निहोत्रनामापि तदीयधर्मवत्त्वलक्षणया
गौण्यैव बोक्तविधाङ्गत्वबोधकम् । एवं स्थनापत्यतिदेशे, आश्रयतो
धर्मातिदेशेऽपि च लक्षणसमन्वयो बोध्यः । अत्र च दर्शपूर्णमासा-
दीनां स्वर्गाद्यङ्गत्वेनावधारितानां तेनैव द्वारेण पापक्षयाद्यङ्गताबो-
धके यावज्जीवादिवाक्ये अतिप्रसङ्गवारणाय तत्सम्बन्धित्वरूपे-
णेति विशेषणम् । न हि दर्शादेस्स्वर्गसम्बन्धित्वेन रूपेण पापक्षया
र्थता, प्रमाणाभावात् । अपि तु दर्शत्वादिनैव । प्रकृते तु
प्रयाजादीनां आग्नेयेतिकर्तव्यतात्वेनैवानुगमात्तदेव विकृतिसम्ब-
न्धितावच्छेदकम् । पुरोडाशकपालादेश्च पुरोडाशसम्बन्धित्वे-
नावधारितस्य तेनैव रूपेण तुषोपवापाङ्गत्वात् तद्वोधकवाक्येऽ-

तिप्रसङ्गवारणार्थं तादृशोपकारद्वारेति विशेषणम्, पुरोडाशे स्व-
प्रयोजकीभूतश्रपणाधिकरणत्वेन तुषोपवापे स्वाप्रयोजकीभूतोप-
वापकरणत्वेनेति तत्र द्वारभेदात् ।

केचत्तु सादृश्यकल्पितवाक्यत्वमतिदेशत्वामित्याहुः । तद-
तिदेशान्तरेष्वव्यापकत्वादुपेक्षितम् । अतिदेशनिरूपणोपोद्धातत्वे-
नेदं निरूप्यते । किं प्रयाजादीनामुपदेशेन प्रकृतिमात्रार्थत्वं
उत प्रकृतिविकृतिसाधारण्यमेति । साधारण्ये हि अतिदेशवै-
यर्थ्यमित्युपोद्धातता । तत्र यद्यपि प्रयाजादिषु आग्नेया-
दिमात्रविषयप्रकरणादेर्विशेषविषयत्वम् । तथाऽपि तत्कल्प्यस्य
वाक्यस्य 'प्रयाजादिभिर्यजेत' इत्यंतादृशस्यैव कल्पना न तु प्रया-
जदिभिराग्नेयादिः कार्य इति । आग्नेयादिभेदेनानेकवाक्यकल्पना-
पत्तेः । नापि दर्शपूर्णमासौ कार्याविति, तथात्वे उद्देश्यवाचकस्य
विधिवाचकस्य च पदद्वयस्य कल्पनापत्तेः । तत्र च यागत्वस्यैवो-
द्देश्यतावच्छेदकत्वात्सर्वार्थत्वसिद्धिः । न हि तत्र प्रयाजादि-
विशिष्टयागकरणकप्रकृतभावनाविधिः येन विशिष्टक्रयविधिवत्
प्रयाजादीनां प्रकृतभावनायामेवान्वयात्पार्थिकान्वयेऽपि प्रकृतयाग
एवान्वयस्स्यादित्याशङ्क्येत । भावनानामुत्पत्तिवाक्यादेव प्राप्त-
त्वान्न च विशिष्टविध्याशङ्का । उत्पत्तिवाक्येष्वेव तु प्रयाजादिवै-
शिष्ट्यं भिन्नवाक्यत्वादेवासम्भवि । न हि तत्तद्वाक्यार्थबोधवेला-
यामनन्वितस्य प्रयाजादेर्वाक्यैकवाक्यतावेलायामन्वयस्सम्भवी ।
सकृदुच्चरितस्य विधेरैकरूप्येणैकशाब्दबोधजनकत्वनियमात् । अतः
प्रयाजादीनां प्रकृतिमात्रगामित्वम् ।

अथ वा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्यं
स्वर्गसम्बन्धपरं सार्वकाम्यवाक्येनैव प्राप्तेः अपितु समिदादि-

वाक्यैकवाक्यतया यागोद्देशेन प्रयाजादिविधिपरम् । अतश्च तत्र यागत्वस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वात् सर्वार्थता । न च तत्र दर्शपूर्णमासपदं उद्देश्यविशेषणं उद्देश्यसमर्पकं वाऽस्तिवाति शङ्क्यं, विशिष्टोद्देशे वाक्यभेदापत्तेः । धातोरुद्देश्यपरत्वे सम्भवति उपपदस्यान्याय्यत्वाच्च । अतश्च तत्रत्यं दर्शपूर्णमासपदं रूढ्या कालपरमेव सत् सर्वयागेषु 'य इष्ट्या' इति वाक्यप्राप्तकालानुवादकम् । अधिकरणस्यापि करणत्वाच्च तृतीया । तथा स्वर्गकामपदं च अवयुत्यानुवादः सर्वथा सर्वधर्माणां सर्वफलवदर्थत्वमुपदेशेनैवेति न कचिदतिदेशसिद्धिः । एवं च 'समानमितरच्छेद्यनेन' इत्याद्यनुवाद एव । 'अग्निहोत्रं' इत्यादीनामापि सिंहो देवदत्त इति वत्सिद्धसादृश्यं तत्प्रख्यन्यायमेव वाऽऽदायानुवाद इति प्राप्ते—

यद्यपि यागानुवादेन धर्मविधिः तथाऽप्यनुवादस्य सति सम्भवे सन्निहितगामित्वनियमात् 'ब्रोहिभिर्यजेत' इतिवत् प्रकृतमात्रगामित्वं विशेषतश्च नवमाद्यन्यायेन यागस्वरूपे आनर्थक्यादपूर्वसाधनत्वलक्षणार्थमपि प्रकरणानुप्रवेशः -

वस्तुतस्तु — उत्पत्तिवाक्येषु आकाङ्क्षाबलेनेष्टसामान्यस्य भाव्यकत्वकल्पनवत् इतिकर्तव्यतासामान्यस्यापीत्यमिति पदकल्पनयाऽन्वयस्वीकारात्स्वर्गादिवाक्यध्वं प्रयाजादिवाक्यानां विशेषसमर्पकतया तद्वदेव वाक्यैकवाक्यात्वोपपत्तेरंशत्रयाविशिष्टविजातीयभावनाया एव विधानात् पार्ष्टिकान्वये च प्रकृत एव तद्भावनाकरणीभूते यागेऽनुग्राहकत्वकल्पनान्न सर्वार्थत्वमौपदेशिकम् । उत्पत्तिवाक्य इतिकर्तव्यतासामान्यान्वयाच्च न सकृदुच्चरितस्येति विरूपानेकबोधजनकता । वाक्यैकवाक्यताजन्यबोधस्तु न श्रुतशाब्दबोध इति न सरूपनानाबोधजनकत्वम-

प्येकस्य । अतः पारिप्लवत्वाभावादधर्मकाणामैन्द्राग्रचादीनां धर्मा-
काङ्क्षायामितिदशसिद्धिः ॥ १ ॥

यस्तु मूले अतिदेशसिद्धियर्थं याजिप्रयुक्तत्वं वा धर्माणाम-
पूर्वप्रयुक्तत्वं वेति चिन्तान्तरं कृतम् । तत् याजिप्रयुक्तत्वेऽपि
प्रकृतयाजिप्रयुक्तत्वोपपत्तेः इतरथाऽपूर्वप्रयुक्तत्वेऽपि तदनापत्ते-
र्नावमिकेन पौनरुक्त्यापत्तेश्चोपेक्षितम् । स चातिदेशो द्विविधः
वचनातिदेशो नामातिदेशश्चेति । आद्योपि द्विविधः प्रत्यक्षवच-
नातिदेशोऽनुमितवचनातिदेशश्चेति । अनुमितवचनातिदेशोऽपि
त्रिविधः सादृश्यकल्पितवचनातिदेशः स्थानापत्तिकल्पितवचना-
तिदेशः आश्रयोपस्थितिकल्पितवचनातिदेशश्चेति ॥ १ ॥

(२)—समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारस्स्यात् ॥ १३ ॥

इयेनस्येति चेत् ॥ १४ ॥ नासन्निधाना-

त् ॥ १५ ॥ अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरद-

धिकार्ये ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेस्तद्वाचकं समा-

नं स्यात् ॥ १६ ॥

तत्र प्रत्यक्षवचनातिदेशो निरूप्यते । इषुर्नामैकाहो ज्योति-
ष्टोमविकारः । तत्र प्राकृते सास्त्रि वषट्कारनिधनमाज्ञातम् । प्राकृ-
तविष्टुतौ च इष्वाकारत्वं स्तोत्रे प्राकृते सप्ताहाख्यं साम ततः
'समानमितरच्छेद्यनेन' इति श्रुतम् । तत् किमनुवादः उतातिदे-
शविधिरिति चिन्तायां—

इतरशब्दस्य सन्निहितवचनत्वेन लोके प्रासिद्धत्वाभास्या-
सन्निहितइयेनवैशेषिकधर्मवाचित्वं तेषामसन्निहितत्वात् । अपि

तु ये ज्योतिष्टोमातिदेशेन सन्निहितास्तत्परत्वमेव । तेषां च श्येनेऽप्यतिदेशप्राप्तत्वेन श्येनसादृश्योपपत्तेरनुवाद एवायमिति न श्येनवैशेषिकाणां वचनातिदेश इति प्राप्ते—

इतरशब्दस्य सन्निहितवाचित्ववत् पूर्वोक्तेतरतत्सदृशवाचित्वमपि लोकसिद्धम् । 'चैत्रमैत्रयोः कम्बलकौशेये प्रदेये इतर-द्विष्णुमित्राय' इत्यत्र सन्निहितपूर्वोक्तेतरतत्सदृशवस्त्रादेरेव प्रतीतेः । अतश्च वार्तिककारीया पूर्वोक्तसादृश्यस्यावाच्यत्वोक्तिरुपक्षणीयैव । ततश्च यत्सन्निहितं प्राकृतं न तत्पूर्वोक्तसदृशं अप्राकृतानां सप्ताहादीनां पूर्वोक्तत्वाद्यञ्च सदृशं श्येनवैशेषिकं अप्राकृतत्वसाधर्म्यात् न तत्सन्निहितम् । ततश्चावश्यहातव्येऽन्यतरस्मिन् वचनस्यार्थवत्त्वाय सन्निहितं हित्वा सादृश्यपरिग्रहेण श्येनवैशेषिकाणामेवेतरशब्देन ग्रहणम् । न ह्यन्यथा विध्यन्तराशेषभूतस्यानुवादस्यार्थवत्त्वं सम्भवति । ततश्च श्येनसादृश्यवत् यत्पूर्वोक्तसदृशं सत् पूर्वोक्तमिदं तदिषौ कुर्यादिति व्यक्त्यर्थः । श्येनसादृश्यं च श्येनानिष्ठाङ्गवृत्तिधर्मसमानजातीयधर्मवत्त्वम् । भवति हि श्येनानिष्ठाङ्गानां कण्टकवितोदनादीनां ये धर्माः कण्टकवितोदनत्वादयः तत्समानजातीयास्त एव तद्वत्त्वं कण्टकवितोदनादौ । अत एव श्येनपदं श्येनाङ्गपरं, न तु यथाश्रुतम् । न हि श्येनप्रतियोगिकं सादृश्यं कण्टकवितोदनादौ सम्भवति । अतश्च फलतश्श्येनधर्मा एव पूर्वोक्तसदृशाः पूर्वोक्तमित्राश्च कार्या इति पर्यवासितोर्थः ।

पूर्वोक्तसादृश्यं च अप्राकृतत्वेन प्राकृताङ्गमुद्दिश्य विहितत्वेन वा । तेन श्येने ये अपूर्वा धर्माः कण्टकवितोदनादयस्त इहाप्यतिदिश्यन्ते, ये वा श्येने प्राकृताङ्गानुवादेन विहिताः लोहितोष्णीषादयस्त एवातिदिश्यन्ते ।

यत्तु—अस्मिन् पक्षे नैतेषामेव नियम इति तन्त्ररत्नोक्तं तद्वान्तरसादृश्यत्यागे प्रमाणाभावादुपेक्षितम् । अस्मिन् पक्षे इष्टुयागोद्देशेनानेकपदार्थविधानायोगात् पदद्वयेन लक्षणया इयेनीयप्राकृताङ्गसम्बन्धविकारमात्रस्येषाद्देशेन विधानम् ।

यद्वा—इतरपदे सन्निहितत्वत्यागे प्रामाणाभावात्प्राकृताङ्गानामपि चोद्देश्यतया पूर्ववृत्तत्वात् पूर्वोक्तप्राकृताङ्गभिन्नतत्सदृशप्राकृताङ्गान्तराणामेवेतरपदेन ग्रहणम् । तेषामतिदेशेन सन्निहितत्वात्तादृशप्राकृताङ्गोद्देशेनैव च इयेनसादृश्यविधिः । सादृश्यं चास्मिन्पक्षे इयेनीयप्राकृताङ्गवृत्तिधर्मसमानधर्मवत्त्वम् । स च धर्मः इयेनप्राकृताङ्गानुवादेन विहितो विकारो लोहितोष्णीषादिः । अत एव सादृश्यं न इयेनिरूपितं, अपि तु इयेनीयप्राकृताङ्गनिरूपितमेव उपमानतावच्छेदसम्बन्धेन इयेनवृत्तिधर्मस्य लोहितोष्णीषादेस्तेनैव सम्बन्धेन प्राकृताङ्गेष्वभावादुपमानतावच्छेदकसम्बन्धेनोपमेयवृत्तित्व एव उपमानियमात् ।

अत एवास्मिन् पक्षे इयेनपदं इयेनीयप्राकृताङ्गपरम् । ततश्च फलतस्तदादृशधर्मा एवेष्वपूर्वसाधनीभूततादृशप्राकृताङ्गोद्देशेन विधीयन्ते । अत एव विधेयसामर्थ्यानुरोधेन इयेने यो विकारो यत्प्राकृताङ्गे विहितस्तत्प्राकृताङ्ग एव सोऽत्र विधीयते । इतरथा अप्राकृतकार्यकारितापत्तेः । अतोऽस्मिन्नपि पक्षे विवक्षितगत्या इष्टुसम्बन्धित्वेनैव तादृशइयेनीयविकारविधिः । न चैवमस्यातिदेशस्य कल्पितत्वाभावादनुमानिकवचनातिदेशापेक्षया प्राबल्येऽपि इयेनेन समानमिति पदद्वये तादृशविकारलक्षणायाश्चावश्यकत्वात्तामातिदेशापेक्षया प्राबल्ये मानाभावः । नामातिदेशस्थले अग्निहोत्रपदेनानभिहितानामेव धर्माणां लक्षणा । वचनातिदेशे तु समानपदेनोक्तानामेव तादृशधर्माणां विधेय-

तावच्छेदकोभूतश्चेनीयप्राकृताङ्गवृत्तिविकारत्वावच्छिन्नत्वसिद्धयर्थं
लक्षणेति तस्य तदपेक्षया प्राबल्यात् ॥ २ ॥

(३)—पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशस्सन्निधानात् ॥ १७ ॥

सर्वस्य वैकशब्द्यात् ॥ १८ ॥ लिङ्गदर्शना-

च्च ॥ १९ ॥ विहितान्नानन्नेति चेत् ॥ २० ॥

नेतरार्थत्वात् ॥ २१ ॥

चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे पर्वणि आद्यानि पञ्च हवींषि सधर्मे-
काणि विधाय वरुणप्रधुसेषु विहितानि । तेषां च विनिगम-
नाविरहेणाभ्यासात्कर्मान्तरत्वम् । वरुणप्रधासस्थहविस्सन्निधौ च
'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि, यद्ब्राह्मणानीतराणि' इति श्रुतम् ।
इतराणि वैश्वदेविकानीत्यर्थः । अत्र च ब्राह्मणस्यैवातिदेशः ।
यद्यपि चान्यत्रोपकारस्य तत्पृष्ठभावेन पदार्थानामेव वाऽतिदेशो
ने तु पदार्थबोधकशास्त्राणां प्रयोजनाभावात् । तथाऽपीह लक्षणा-
यां प्रमाणाभावाच्छास्त्रस्यैवातिदेशः । न च शास्त्रातिदेशे तद्वोधित-
पदार्थानां प्राकृतोपकाराभावे उपकारान्तरकल्पनादूहवाधानुपप-
त्तिः शास्त्रस्यापि विजातीयोपकारजनकविजातीयपदार्थप्रतिपाद-
कतया निरूपितरूपस्यैवातिदेशादुपकारान्तरकल्पनानुपपत्त्या ऊ-
हवाधोपपत्तेः ।

वस्तुतस्तु ब्राह्मणपदेनार्थविधायकवाक्यस्याक्तत्वाल्लाघवाद-
पेक्षितत्वाच्चात्राप्यर्थस्यैवातिदेशः । अत एवातिदेशलक्षणमपि
नासङ्गतम् ।

तदिहार्थविधायकवाक्यस्यैवैतद्ब्राह्मणपदेनोक्तत्वात्सार्थवाद-
कस्यैव विधायकत्वादाकाङ्क्षाभावेन प्रधानातिदेशाभावेऽपि स्तुति-

मात्रस्यातिदेशो न त्वङ्गानाम् । एतेषां स्वस्वाङ्गविधिविधेयत्वेन हविर्विधिविधेयत्वाभावात् । अत एव वरुणप्रघासेषु 'अग्निं मन्यति, प्रसुवो भवन्ति' इत्यादिविधयोऽप्युपपद्यन्ते अन्यथा अतिदेशादेव प्राप्तत्वेन वैयर्थ्यापत्तेरिति प्राप्ते—

अङ्गविधीनामप्येतद्धविस्सम्बन्ध्यङ्गविधायकत्वेनैतद्ब्राह्मण-
त्वोपपत्तेश्चास्त्रस्य महाविषयत्वसिद्धयर्थमङ्गानां स्तुतिश्चातिदेशः ।
न चापेक्षाक्रमेणैव सर्वत्रान्वयादर्थभावनाया इतिकर्तव्यतापेक्षा-
यामङ्गातिदेशोऽवगते पश्चात्तद्विशिष्टार्थभावनाया विधिसम्बन्धा-
वगमोत्तरं तस्य स्तुत्यपेक्षायां स्तुत्यातिदेश इति विरम्यव्यापारा-
पत्तिः । इष्टसामान्यवादितिकर्तव्यतासामान्याक्षेपादेव ताद्विशिष्टभा-
वनाविधिसिद्धेः स्तुत्यपेक्षावेलायामेवातिदेशप्रवृत्तेः । अत एवानु-
मानिकवचनातिदेशोऽप्यर्थवादातिदेशसिद्धिः । या त्वेवंसति
विश्वजित्यातिदेशिकार्थवादिकफलकल्पनाप्रसक्तिः सा कौस्तुभ
एव निरस्ता ।

वस्तुतस्तु—वाचनिकातिदेशस्य भिन्नवाक्याविधया प्रमाण-
त्वादुत्पत्तिवाक्ये इतिकर्तव्यतासामान्याक्षेप आवश्यक एव । न
च प्राशस्त्यातिदेशे तस्य निरुक्ताङ्गत्वसत्त्वे प्रमाणाभावादति-
देशलक्षणस्याव्याप्तिः लक्षणेऽङ्गत्वपदेन भावनेतिकर्तव्यतात्वेनान्वि-
तस्य विवक्षितत्वात् । अतश्चार्थभावनेतिकर्तव्यतात्वस्य तत्क-
रणोपकारजनकत्वरूपस्य शाब्दभावनेतिकर्तव्यतात्वस्य च रुचि-
रूपतत्करणोपकारजनकज्ञानविषयत्वाख्यस्य द्विविधस्यापि संग्र-
हः । अन्वितपदोपादानाच्च आर्थिके प्रासङ्गिके उपकारजनकेऽ-
पि नातिदेशः । तस्य प्रकृतिभावनान्वितत्वात् । तस्मादुभया-
तिदेशः । अग्निमथनादीनां तु दक्षिणाविहारे प्राप्यभावात् युक्त-

स्तदर्थं पुनर्विधिः । अत एव नवप्रयाजत्वादेरतिदेशात् 'वाजिनो यजान्ति आहुतीनां सम्पत्त्यै त्रिंशत्त्वाय' इति लिङ्गमप्युपपद्यते । इतरथा त्रिंशत्त्वानुपपत्तेरिति सूत्रकारभाष्यकारौ ।

वस्तुतस्तु—मारुतियागस्यापि वैश्वदेविकामिक्षायागविकारत्वान्नवप्रयाजत्वादिवदेवाग्निमथनादीनामपि प्राप्तिर्संभवान्नायं वैयर्थ्यपरिहारः । आग्निक्षैककपालानुरोधेनैव च नवप्रयाजत्वादिसिद्धेः त्रिंशत्त्वस्याप्युपपत्तिः । न च भूयसां दर्शपूर्णमासविकारत्वात्तदनुरोधेन पञ्चप्रयाजत्वं, पशुपुरोडाशवन्नवावृत्तावपि पञ्चत्वाविरोधात् । अतो भाष्यमनादृत्य सूत्रमेवं व्याख्येयम् । अग्निमन्थनादिवाक्यानामौचित्येनातिदेशविधिस्तुत्यर्थत्वात् नेतरार्थत्वादिति सूत्रं विधायकत्वातिरिक्तस्तावकत्वरूपप्रयोजनकथनार्थं तदेव चातिदेशवाक्यस्थाङ्गविधिपरत्वे लिङ्गमिति लिङ्गदर्शनसूत्रस्यार्थः । अतस्सिद्धमङ्गानामप्यतिदेश इति । न चाग्निक्षैककपालयागानुरोधेनैव वैश्वदेविकधर्मप्राप्तिसिद्धेरातिदेशविधानार्थक्यं यत्र धाय्याविराजादिविरुद्धनानाधर्मविषये मुख्यत्वभूयस्त्वाभ्यां, दार्शिकधर्मप्रसाक्तिस्तद्विषये वैश्वदेविकधर्मप्राप्त्यर्थत्वेन सार्थक्यात् ॥ ३ ॥

(४)—एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ॥ २२ ॥

एवं साक्रमेधे श्रुतयोरैन्द्राग्नौ एककपालयोरपि "एतद्ब्राह्मण ऐन्द्राग्नः यद्ब्राह्मण इतरः । एतद्ब्राह्मण एककपालो यद्ब्राह्मण इतरः" इति वाक्याभ्यां सार्थवादिकसाङ्गविधिकण्डस्यातिदेश इत्युत्तरविवक्षया स्मार्यते ॥ ४ ॥

(५)—एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिराग्न

यणे सर्वहोमापरिवृत्तिदर्शनादवभृथे च सकृत्द्वयवदानस्य वचनात् ॥ २३ ॥

एककपालस्य प्रकृतिभूत एककपालो वारुणप्रधासिक एव । न तु धर्मभूयस्त्वेऽपि वैश्वदेविकः वक्ष्यमाणात्सर्वैककपालेषु चोदनालिङ्गातिदेशादेव वैश्वदेविकधर्मप्राप्तिसिद्धेः । अन्यलभ्यकतिपयधर्मप्राप्त्यर्थं वारुणप्रधासिक एव । एवं चैन्द्राग्नप्रायपाठोऽप्युपपद्यते । तत्र हि न दार्शिकैन्द्राग्नान्तराणां चोदनालिङ्गातिदेशादेव सिद्धेः । नाप्यैन्द्राग्नान्तराणां, अनुपस्थितत्वात् । अत एव चातुर्मास्यप्रकरणस्थत्वेनोपस्थितत्वाद्देवदेवे चैन्द्राग्नभावाद्धारुणप्रधासिकस्यैव । अतस्तत्प्रायपाठादपि साकमेधैककपालस्य वारुणप्रधासिकैककपालप्रकृतिकत्वम् । धर्माश्च 'हिरण्यमयः स्रुचो भवन्ति' इत्यादयस्सामान्यविहिता इति भाष्यकारः ।

वस्तुतस्तु—साकमेधस्थपञ्चसञ्चरेषु अतिदेशविधिरस्ति न वा ? अन्ये दर्शपूर्णमासविकारत्वा पक्षेः भूयोऽनुग्रहाय न हिरण्यमयत्वादिप्रसक्तिः । आद्येऽप्येतदधिकरणन्यायस्यान्यलभ्यत्वस्याभावात् धर्मभूयस्त्वलाभाय वैश्वदेविकपञ्चसञ्चराणामेव धर्मातिदेशात् तथैव वारुणप्रधासिकहिरण्यमयत्वाद्यप्राप्तिः ।

वस्तुतस्तु—याज्ञिकाचाराद्यत्र वारुणप्रधासेषु स्रुगन्तरोत्पत्तिप्रसक्तिस्तत्रैव हिरण्यमयत्वशमीमयत्वादेर्विध्यौचित्येन दक्षिणविहार एव तन्निवेशादैन्द्राग्नैककपालयोरपि न हिरण्यमयत्वाद्यतिदेशः । अस्तु वा सः । तथाऽपि यद्येन्द्राग्नान्तराणां अतिदेशविधेर्वैयर्थ्याभियैव भूयसामनुग्रहमप्यनङ्गीकृत्य हिरण्यमयत्वाद्यभ्यनुज्ञानमित्युच्येत । तत ऐन्द्राग्नैककपालयोर्मध्येऽन्यतरातिदेशेनैव तत्प्रा-

सिसिद्धेरितरानर्थक्यं, अतोऽवश्यं तन्नाद्विशेषविहितधर्मप्राप्तिसि-
द्धयर्थमेवेदमतिदेशद्वयम् । विशेषविहितधर्माश्च ऐन्द्रग्रे याज्या-
दयः । एककपालेऽपि केचिच्छाखान्तरेष्वनुसन्धेया इति ध्येयम् ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

सप्तमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः

अथ सप्तमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः

(१)—साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिस्स्याद्यथाशि-
ष्टम् ॥ १ ॥ शब्दैस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽ-
प्रवृत्तिस्स्यात्पृथग्भावात्क्रियाया ह्यभिसम्ब-
न्धः ॥ २ ॥ स्वार्थे वा स्यात्प्रयोजनं क्रि-
यायास्तदङ्गभावेनोपदिश्येरन् ॥ ३ ॥ श-
ब्दमात्रमिति चेत् ॥ ४ ॥ नोत्पत्तिकत्वा-
त् ॥ ५ ॥ शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात् ॥ ६ ॥
स्वरस्येति चेत् ॥ ७ ॥ नार्थाभावाच्छ्रुते-
रसम्बन्धः ॥ ८ ॥ स्वरस्तूत्पत्तिषु स्या-
न्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ॥ ९ ॥ लिङ्गदर्श-
नाच्च ॥ १० ॥ अश्रुतेस्तु विकारस्योत्त-
रासु यथाश्रुति ॥ ११ ॥ शब्दानां चा-

सामञ्जस्यम् ॥ १२ ॥ अपि तु कर्मश-
ब्दस्याद्वावोर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्विकारो
ह्यविशिष्टोऽन्यैः ॥ १३ ॥ अद्रव्यं चापि
दृश्यते ॥ १४ ॥ तस्य च क्रिया ग्रह-
णार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्थो ह्यासाम-
लौकिको विधानात् ॥ १५ ॥ तस्मिन्
संज्ञाविशेषास्स्युर्विकारपृथक्त्वात् ॥ १६ ॥
योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते ॥
अयोनौ चापि दृश्यतेऽतथायोनि ॥ १७ ॥
ऐकाग्र्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत् ॥ १८ ॥
स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथापाके ॥ २० ॥
शब्दानां च सामञ्जस्यम् ॥ २१ ॥

प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे अग्निषत्यामुत्पन्नं रथन्तरं विकृतिवि-
शेषे अविवाक्यादौ कवतीषु कर्तव्यत्वेन श्रूयते 'कवतीषु रथ-
न्तरं गायति' इत्यादिना । 'तथा यद्योन्यां गायति तदुत्तरयोर्गा-
यति' इति च श्रुतम् । तत्र रथन्तरादिशब्दानां गीतिविशेष-
विशिष्टायां ऋचि प्रयोगाद्विशिष्टवाचित्वे प्राप्ते—

आकृत्यधिकरणन्यायेनैव गीतिविशेषमात्रं विजातीयगीतित्व-
मात्रं वा वाच्यम् । एवं सामशब्दस्यापि गीतिमात्रं गीतित्व-
मात्रं वा वाच्यं न तु गीतिस्तद्विशिष्टा वा ऋक् । तस्या व्यक्ति-
न्यायेन अरुणापद इव सति मुख्यार्थबाधे लक्षणया बोधोपप-

स्तेः । आकृत्यधिकरणस्यैव तु प्रयोजनकथनार्थानि सूत्राणि । यदि हि ऋगवाचित्वं भवेत् तदा ऋचि ऋगतिदेशासम्भवात् कवतीशब्दः कार्यलक्षणार्थः । तत्कार्यमर्थप्रकाशनं लक्षणादिना अभीवत्या तु कुर्यादिति कवतीकार्ये ऋगन्तरस्यातिदेशः । देशलक्षणार्थो वा । कवतीदेशे अभिवर्ती पठेदिति जघन्यं रथन्तरपदं वा तद्धर्मलक्षणार्थं सत्तद्धर्मातिदेशार्थं कवतीषु सम्मीलनादीन् रथन्तरधर्मान् कुर्यादित्यर्थः । अन्ये तु भाष्यस्थाः पक्षाः असम्भवदुक्तिकत्वात् लिखिताः ।

सिद्धान्ते तु लक्षणायां प्रमाणाभावात् ऋच इह बोधस्यैवाभावेन गीतिमात्रस्यैव कवतीष्वतिदेश इति प्रयोजनम् । प्रसङ्गादाकृत्यधिकरणासिद्धस्यैव गीतिवाचित्वस्योपोद्बलकानिकानिचिलिङ्गदर्शनसूत्राणीति द्रष्टव्यम् । न च 'यद्योन्यां गायति' इत्यादौ योनिसम्बन्धित्वेन रूपेण विधेयत्वादतिदेशलक्षणोपपत्तावपि 'कवतीषु रथन्तरं गायति' इत्यादौ रथन्तरत्वस्यैव विधेयतावच्छेदकत्वादतिदेशत्वानुपपत्तिरिति वाच्यं, तत्रापि धर्मग्राहककृतोकारलाभार्थं अभिवतीसम्बन्धित्वस्यैव विधेयतावच्छेदकत्वात् ।

वस्तुतस्तु—गृहमेधीये आज्यभागविधेरतिदेशत्वाभाववदस्याप्यातिदेशत्वाभावे न काचित् क्षतिः । लाघवेनाभिवतीषु येन रूपेणोपकारकत्वं तेनैव रूपेण कवतीषूपकारकत्वस्वीकारेणोहोपपत्तेः ॥ १ ॥

इति श्री खण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

सप्तमस्याध्ययस्य द्वितीयः पादः

अथ सप्तमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः

(१)—उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधि-
प्रदेशस्स्यात् ॥ १ ॥ अपूर्वे वाऽपि भागि-
त्वात् ॥ २ ॥ नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ॥ ३ ॥
द्रुणसंयोगात्क्रियाभिधानं स्यात् तदभावेऽ-
प्रसिद्धं स्यात् ॥ ४ ॥

इदानीं नामातिदेशः प्रस्तूयते । 'मासमाग्निहोत्रं जुहोति'
इत्यादौ नैयामिकाग्निहोत्रवाचिनो नाम्नो न तावत्कर्मान्तरवाच-
कत्वं, अनेकशक्तिकल्पनापत्तेः । दर्वीहोमत्वेन चोदनालिङ्गाति-
देशाभावात् नामातिदेशाभावेऽग्निदेवताकत्वे प्रमाणाभावेन तत्प्र-
ख्यन्यायानुपपत्तेश्च । न च 'यदाहवनीये जुहोति' इत्यनेनाग्नेः प्राप्त-
त्वाद्ग्रन्थधिकरणकत्वेन योगोपपत्तिः । तस्यातिप्रसक्तत्वेन रूढ्या-
दिकल्पने पुनर्गौरवतादवस्थ्यात् अन्तोदात्तस्वरस्य सप्तमीबहु-
व्रीहावनुपपत्तेश्च । सप्तमीतत्पुरुषस्य शौण्डादिगणे पाठाभावे-
नानुपपत्तेश्च । यदि तु नित्याग्निहोत्र इव अग्नेः होत्रं होम
इति व्युत्पत्त्या अधिकरणत्वं षष्ठ्यर्थमङ्गीकृत्य मासाग्निहोत्रेऽपि
योग आश्रीयेत तदाऽपि प्रचुरप्रयोगादग्निहोत्रपदस्य निरूढलक्ष-
णया नित्याग्निहोत्रे प्रयोगात् तस्याश्च शक्तितुल्यत्वेन मासाग्नि-
होत्रे तदसम्भवात् गौणत्वमावश्यकम् ।

अनयैव च दिशा 'मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां' इत्यादौ गौण-

त्वोपपादनं द्रष्टव्यम् । अन्यथा 'य इष्ट्या' इत्यादिना पौर्णमा-
सीकालकत्वप्राप्त्युभयत्वलाक्षणीकत्वाविशेषात् । दर्शादिकाल-
प्राप्तावपि वा एकत्र मुख्यस्यापरत्र गौणत्वनियमात् प्रसिद्धद-
र्शादौ निरूढलक्षणाऽऽवश्यक्येव । सौमिकचोदनालिङ्गातिदेशादेव-
रूपलाभोपपत्तौ तदभावस्याप्यत्रासाधकत्वाच्च । एतेन गौणत्वा-
भावेऽप्येकनामकत्वसादृश्येन चोदनालिङ्गातिदेशादेवाग्निहोत्रधर्म-
लाभ इत्यपास्तं, उभयत्र निरूढलक्षणायां प्रमाणाभावेनैकनाम-
कल्पनासिद्धेः । न च तथाऽपि देवताकालादिरूपगुणाविधाय-
कत्वेनैवोपपत्तौ गौणत्वे प्रमाणाभावः । तत्प्रख्याधिकरणोक्तकौ-
स्तुभोक्तरीत्या समासासम्भवेन देवताविध्यनुपपत्तेः । कालस्य
प्राप्तत्वादिना विध्यनुपपत्तेश्च । अतश्चाग्निहोत्रादिशब्दाः कर्मा-
न्तरे गौणाः । तत्र वत्यर्थरूपधर्मलक्षणापूर्वकं कर्मान्तरे गौणी-
ति प्राञ्चः । तत्सिद्धिसूत्रोक्तकौस्तुभरीत्या तु गौणीज्ञानकार्यता-
वच्छेदकमेवाग्निहोत्रीयधर्मविशिष्टकर्मान्तरशाब्दबोधत्वामेत्यपि श-
क्यं वक्तुम् ।

तत्र च सिंहो देवदत्त इतिवत् प्रमाणान्तरसिद्धसादृश्येन
गौणत्वासम्भवेऽप्यस्मिन्नेव वाक्ये तदयिधर्मविशिष्टकर्मान्तरवि-
धानेन साध्यसादृश्येन गौणत्वोपपत्तिरिति सिद्धो नामातिदेशः ।
पदार्थातिदेशेऽपि च निरूपितरूपस्यैवातिदेशादूहबाधसिद्धिः ॥

(२)-अपि वा सत्रकर्माणि गुणार्थैषा श्रुति-
स्स्यात् ॥ ५ ॥

द्वादशाहे प्रथममहः प्रायणीयं सधर्मकं विधाय गवाम-
यने 'वैश्वानरो ज्योतिष्टोमः प्रायणीयमहर्भवति' इति श्रुतम् । तदेते
द्वे कर्मणी विनिगमनाविरहादिति निर्णीतं प्रकरणान्तराधिकरणे

कौस्तुभे । तदत्र गावामयनिकं प्रायणीयपदं पूर्वन्यायेनैव द्वाद-
शाहिकप्रायणीयधर्मातिदेशार्थम् । न च चोदनालिङ्गातिदेशादेव
तत्प्राप्तिसिद्धेर्नामातिदेशवैयर्थ्यं, गणत्वसाम्येऽपि द्वादशाहान्तर्गत-
दशाहस्यैव चोदनालिङ्गातिदेशेन धर्मप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वादिति प्राप्ते-

येनैव प्रथमं यन्ति अनेनेति व्युत्पत्त्या प्राथम्यगुणयोगेन
द्वादशाहिकेऽहनि प्रवृत्तिस्तेनैव गावामयनिकेऽपीति प्राथम्य-
योगेनोभयत्रापि मुख्यतयैव प्रवृत्तौ गौणत्वे प्रमाणाभावः । न
चात्र पूर्ववत् द्वादशाहिके प्रचुरतरप्रयोगो येन तत्रैव रूढिर्निरूढ-
लक्षणा वा अन्यत्र गौणीत्याश्रीयेत अतोऽत्र न नामातिदेशः प्राय-
णीयपदे । वैश्वनरपदं तु प्रकरणे वैश्वानरग्रहविधानात् तत्प्रख्यन्या-
येन नामधेयमपि वैश्वानरसंज्ञकस्य कर्मान्तरस्याप्रसिद्धेः नैवाति-
देशिकम् । ज्योतिष्टोमपदं तु ज्योतिष्टोमधर्मप्रतिप्रसवार्थं सङ्ग-
वत्येवातिदेशिकम् । तेनैतत्सुत्यायां विरोधेन गणत्वसामान्यात्
द्वादशाहिकद्वितीयाहधर्माः । अपि तु ज्यौतिष्टोमिकाः । साधार-
णास्तु भूयोऽनुग्रहात् द्वादशाहिका एव ।

इदं चाधिकरणं गावामयनिके प्रथमेऽहनि प्रायणीयपदस्य
भाष्यकारादिलेखनादवगन्तव्यम् । यदा तु छन्दोगसूत्रानुसा-
रेण प्रायणीयपदस्य गावामयनिके द्वितीये चतुर्विंशेऽहनि
प्रयोगः तदाऽतिदेशो भवत्येवेति ध्येयम् ॥ २ ॥

(३)—विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वाज्ज्यौति-
ष्टोमिकानि पृष्ठानि अस्ति च पृष्ठशब्दः ॥
षडहाद्वा तत्र हि चोदनाः ॥ ७ ॥ लि-
ङ्गाच्च ॥ ८ ॥ उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टो-

मः ॥ ९ ॥ द्वयोर्विधिरिति चेत् ॥ १० ॥

न व्यर्थत्वात्सर्वशब्दस्य ॥ ११ ॥

‘विश्वजित् सर्वपृष्ठोऽतिरात्रः’ इत्यत्र सर्वपृष्ठशब्दोऽनुवादः ? अथवा षाडहिकानां रथन्तरबृहद्वैरूपवैराजशाकवररैवतानां साम्नां विधिरिति चिन्तायां—पृष्ठशब्दस्य स्तोत्रवाचित्वात् सामपरत्वे विधौ लक्षणापत्तेः ज्योतिष्टोमे च ‘पृष्ठैस्तुवते’ इत्यनेन षण्णां पृष्ठस्तोत्राणां विधानस्य चित्राधिकरणे कौस्तुभे व्युत्पादितत्वादिहातिदेशेन बहुत्वप्राप्त्युपपत्तेः विशिष्टविधिगौरवाच्च अनुवाद एवायमिति प्राप्ते—

अनुवादत्वे वैयर्थ्यापत्तेः ‘पवमाने रथन्तरमार्भवे बृहत् मध्यत इतराणि वैरूपं होतुः पृष्ठे वैराजं मैत्रावरुणस्य रैवतं ब्राह्मणाच्छंसिनः शाक्वरमच्छावाकस्य’ इति सन्निवेशमात्रविधिरूपतात्पर्यग्राहकबलेन सर्वपृष्ठशब्दस्य निरुद्धलक्षणया षाडहिकरथन्तरादिसामपरत्वावगतं स्तेपामेव विधिः । निरूपितश्च पृष्ठशब्दस्य निरुद्धलक्षणान्वाख्यानार्थोऽर्थवादः कौस्तुभे । अत एव सर्वपदेनातिदेशप्राप्तयोर्वैकल्पिकयोः बृहद्रथन्तरयोस्समुच्चयविधिरित्यपास्तम् । होतुः पृष्ठे वैरूपस्यौपदेशिकत्वेन तयोर्बाधात् । सर्वशब्दस्य बहुत्वापेक्षत्वेन द्वयोरसम्भवाच्च । अतः षाडहिकानां विधिः ।

यन्मते तु एकमेव प्रकृतौ प्रष्टस्तेत्रं प्रष्टद्वयं वा तन्मतेऽप्राप्तत्वादपि नानुवादः । अयं च यद्यपि न नामातिदेशः, सर्वपृष्ठशब्दस्य षडहवाचित्वाभावात् विश्वजिति बहुव्रीहिणैव प्रवृत्तगौणत्वाभावाच्च । न वाऽयं वचनातिदेशः, गृहमेधीये ‘आज्य-

भागौ यजति' इतिवदेव षडहीयत्वस्य विधेयतानवच्छेदक-
त्वात् । तथाऽप्युपदेश एवायं रथन्तरादीनाम् । अत एव न
षडहधर्म्मन्तराणामिह करणम् । अन्यकर्माङ्गत्वस्यैतद्वाक्यप्रवृ-
त्तेः पूर्वावगमसाम्यात् । कर्मसमानाधिकरणपदगम्यत्वसाम्याच्च
सप्तमे नामातिदेशप्रस्तावे समारम्भः । 'प्रधानं नायमानम्'
इति न्यायेनैव च रथन्तरादिधर्म्माणामावश्यकस्तोभादीनां पव-
मानादिकार्यान्तरोपयोगिरथन्तरादिसाधनत्वेनापि प्राप्तिरविरुद्धा ॥

(४)—तथाऽवभृथस्सोमात् ॥ १२ ॥ प्रकृतेरिति
चेत् ॥ १३ ॥ न भक्तित्वात् ॥ १४ ॥
लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १५ ॥ द्रव्यादेशे तद्-
व्यश्रुतिसंयोगात्पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्र-
कृतित्वात् ॥ १६ ॥

वरुणप्रधासेषु 'वारुण्या निष्कासेन तुषैश्चावभृथं यन्नि'
इति श्रुतम् । तत्र दार्शपूर्णमासिकमपां व्युत्सेकमवभृथपदेना-
नूद्य लाघवात्तुषनिष्कासौ विधीयते षष्ठीबलाच्च शब्दस्य निपा-
तत्वाच्च परस्परान्वयस्य व्युत्पन्नत्वेन न विधेयानेकतादोषाय ।
अस्ति चापां व्युत्सेकेऽप्यवभृथपदप्रयोगः 'एष वै दर्शपूर्णमास-
योरवभृथः' इत्यादौ । अतो नात्र विशिष्टकर्मान्तरविधिः न
चाऽवभृथशब्दस्य च विधौ गौणत्वमङ्गीकृत्य नामातिदेशकत्व-
मिति प्राप्ते—

अनेकशक्तिकल्पनाभिया अपां व्युत्सेके आर्थवादिकाव-
भृथशब्दस्य जलसम्बन्धित्वसादृश्येन गौणत्वात् प्राप्तकर्मानुवा-
देनानेकगुणविधाने वाक्यभेदापत्तेश्च कर्शान्तरविधिरेवायम् ।

सत्यामपि च निपातस्योपपदार्थान्वयव्युत्पत्तौ उपपदार्थ-
द्वयस्य परस्परान्वयव्युत्पत्त्यभावात् विधेयानेकता स्पष्टैव ।
अतश्च गुणात्प्रकरणान्तराद्वाऽत्र कर्मभेदः । वारुणीनिष्कासस्य
वैमृधन्यायेन पदान्तरकल्पनया संस्कार्यत्वादेकादशे वक्ष्यमाण-
मर्थकर्मत्वं परं तुषांश इत्युक्तं प्रकरणान्तराधिकरणे कौस्तुभे ।
अतश्च तत्रावभृथनाम्ना सौमिकावभृथधर्मातिदेशः । अत एव
'नायुर्दी जुहोति न साम गायति न गमनमन्त्रं जपति' इत्यदि-
निषेधोपि सङ्गच्छते । अतिदेशोऽपि च न तदयिद्रव्यस्यैक-
कपालस्यातिदेशः । औपदेशिकेन विशेषविहितेन च तुषानि-
ष्कासद्रव्येण लाक्षणिकस्य सामान्यविहितस्यातिदेशप्राप्तस्य
द्रव्यस्य बाधात् ॥ ४ ॥

(५)—गुणविधिस्तु न गृह्णीयात्समत्वात् ॥ १ ७ ॥

सोमे आतिथ्योष्टिः 'वैष्णवो नवकपालः' इत्यनेन वैशेषिक-
धर्मयुक्ता विहिता । राजसूये च 'वैष्णवस्त्रिकपाल' इति श्रुतम् ।
तत्र वैष्णवशब्दस्य न धर्मातिदेशकत्वं सत्यप्युत्पत्तिशिष्टगुणा-
वरोधादिनोभयत्र कर्मविधित्वे वैष्णवशब्दस्योभयत्रापि देवता-
विधायकत्वेन धर्मातिदेशकत्वानुपपत्तेः । न चातिदेशेनैव देव-
तायाः प्राप्तिसम्भवेन बह्वर्थलाभाय धर्मातिदेशकत्वाङ्गकिरणं, गौ-
णत्वे प्रमाणाभावात् । बह्वर्थलाभाय जघन्यवृत्त्यङ्गीकारेऽति-
प्रसङ्गात् ॥ ५ ॥

(६)—निर्मन्थ्यादिषु चैवम् ॥ १ ८ ॥

अग्नौ 'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' इति । पशौ 'बर्हिषा यूपा-
वटमवस्तृणाति, आज्येन पशुमनक्ति' इति श्रुतम् । ततः पूर्वव-

देव निर्मन्थ्यशब्दो मन्थनक्रियाविधायकत्वेन गौणत्वायोगान्न पाशुकानां मथनधर्माणामतिदेशार्थः । बर्हिंराज्यशब्दै च द्रव्यविधित्वान्न दार्शपूर्णमासिकबर्हिंराज्यधर्मातिदेशार्थः । न च त्रिकपालस्य नामातिदेशेन धर्मप्राप्त्यभावेऽपि ऐष्टिकधर्मातिदेशेन निराकाङ्क्षत्वान्न गौणत्वाङ्गीकारः । प्रकृते तु धर्माकाङ्क्षयैव गौणत्वाङ्गीकारान्नमातिदेशोपपत्तिरिति वाच्यं, लोकतोपि मथनादिधर्मलाभेन श्रुत्यर्थत्यागे प्रमाणाभावात् ॥ ६ ॥

(७)—प्रणयनं तु सैमिकमवाच्यं हीतरत् ॥ १९

उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥ २० ॥ प्राकृतं

तं वाऽनामत्वात् ॥ २१ ॥ परिसङ्ख्यार्थं

श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ॥ २२ ॥ प्रथ-

मोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ॥

मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ॥ २४ ॥ औत्त-

रवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

चातुर्मास्येषु 'वैश्वदेवरुणप्रधाससाकमेधशुनासीरीयाख्यानि चत्वारि पर्वाणि । तत्र 'द्वयोः प्रणयन्ति द्वाभ्यामेति' इति श्रुतम् । तत्र भाष्यकारः सप्तभिस्सूत्रैरधिकरणद्वयमेवं व्याचख्यौ-तत्राद्ये तावत् सैमिकं सधर्मकं प्रणयनमिदं उत प्राकृतमधर्मकं गार्हपत्यादाहवनीयं प्रतीति चिन्तायां--

प्राकृतस्य चोदकेनैव प्राप्तत्वेन विधिवैयर्थ्यापत्तेर्वचनार्थवत्त्वाय प्रणयतिरयं सैमिकप्रणयनपरस्तद्विधानार्थः । अत एव तत्रोत्तरवेदेऽस्त्विति तत्प्राप्तौ 'न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपवपति न

शुनासीरीये' इति तत्पर्युदासोपि सङ्गच्छते । तेन तयोरुत्तर-
वेदिव्यतिस्कितास्सौमिकप्रणयनधर्माः कार्याः । यत्तु 'उपात्र व-
पान्ति' इत्युत्तरवेदेरुत्पत्तिवाक्यं यच्च 'उत्तरवेद्यामग्निं निदधाति'
इति तस्याः विनियोगवाक्यं तन्मध्यमयोः पर्वणोः प्राकृतप्रणयन-
काल एवोत्तरवेदिमात्रविधायकमिति प्राप्ते—

न प्रणयतिस्सौमिकप्रणयनस्यैव विशिष्योपस्थपकः सन्नि-
हितत्वात्तु प्राकृतमेवोपस्थापयति । अतस्तस्यैवातिदेशप्राप्तेः
पूर्वप्रवृत्त्या विधिरनुवाद एव वा । तत्प्रयोजनं च यद्यपि नेत-
रयोः परिसङ्ख्या त्रैदोष्याद्यापत्तेः, प्रणयनाभावे इतरपर्वणोरग्न्य-
भावेन यागानुपपत्तेश्च । नाप्यर्थवादोपपत्तिः विध्यभावेऽर्थवादत्व-
स्यैवानुपपत्तेः तथाऽप्युत्तरवेदिरूपगुणार्थं पुनश्श्रुतिः । एतदभा-
वेहि चतुर्ष्वपि प्राकृतप्रणयनप्राप्तौ देशापेक्षायामुत्तरवेदिवि-
धानं चतुर्ष्वपि प्राप्नुयात् । एतत्सत्त्वे तु पर्वद्वयवृत्तिप्रणयन-
स्यैव विशिष्योपदेशेनोपस्थितत्वात्तत्रैवोत्तरवेदिस्तदीयग्निनिधा-
नमेव च द्वारमिति सिद्ध्यति । अतः इतरपर्वणोरुत्तरवेदिपरि-
सङ्ख्यैवानुवादप्रयोजनमिति ।

द्वितीयाधिकरणे तु सोऽयमनुवादः प्रथमोत्तमयोः मध्य-
मयोर्वेति चिन्तायां मध्यमविषयत्वे तत्रैवोत्तरवेदिप्राप्तेः प्रथमो-
त्तमयोस्तत्पर्युदासानुपपत्तिप्रसङ्गात् प्रथमोत्तमविषयत्वमेव ।
ततश्च तत्रैवोत्तरवेदिप्राप्तौ तत्रैवायं निषेध इति तयो-
रुत्तरवेदेर्विकल्पः । 'द्वाभ्यामेति ऊरू वा एतौ यज्ञस्य यद्व-
रुणप्रघासाः साकमेध्राश्च' इति प्रणयनार्थवादस्तु लक्षणया प्रथमो-
त्तमपर इति प्राप्ते—

लक्षणाया विकल्पस्य चान्याय्यत्वात् मध्यमविषय एवाय-
मनुवादः उत्तरवेदुत्थपसंहारार्थः । एवं च प्रथमोत्तमयोरुत्तर-

वेदिप्राप्त्यभावात्तत्र तत्प्रतिषेधो नित्यानुवादः । तत्प्रयोजनं च 'उपात्र वपन्ति' इत्यादेर्वरुणप्रघासावान्तरप्रकरणबाधः । एतदभावे हि तदवान्तरप्रकरणे पठिताया उत्तरवेदेस्तन्मात्राङ्गत्वप्रसक्तौ तदितरेषु त्रिषु पर्वसु नित्यानुवादस्स्यात् न द्वयोः । अतो द्वयोर्नित्यानुवादबलादवान्तरप्रकरणबाधेन महाप्रकरणात्सर्वाङ्गत्वप्रसक्तौ 'द्वयोः प्रणयन्ति' इत्यनेन मध्यमयोरुत्तरवेदुचपसंहारो युज्यते । न चैवमपि प्रथमोत्तमयोः पर्युदासवशेनावान्तरप्रकरणबाधवन्मध्यममात्रविषयत्वस्यापुचत्तरेवदुचत्पत्तिविनियोगयोस्सिद्धेः 'द्वयोः प्रणयन्ति' इत्यस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । 'उत्तरवेद्यामग्निं निदधाति' इत्यनेन हि न निधानानुवादेनोत्तरवेदिर्विधीयते अतिप्रसङ्गात् । नाप्यग्निनिधानानुवादेन विशिष्टोद्देशापत्तेः । नाप्यग्निमात्रोद्देशेन गार्हपत्यादावप्युत्तरवेद्यापत्तेः । किन्तु अतिदेशप्राप्तेः पूर्वप्रवृत्त्या उत्तरवेदिविशिष्टप्राकृतनिधानमेवाग्न्युद्देशेन विधीयते उत्तरवेदिमात्रफलकं अतश्चौपदेशिकप्रणयनविध्यभावे प्रणीताग्निनिधान इव कपालतापार्थाग्निनिधानेऽपि तदापत्तिः ।

औपदेशिकप्रणयनविधिसत्त्वे तु तस्यैव पुरस्स्फूर्तिकस्य देशापेक्षायामातिदेशिकविधितः पूर्वमुत्तरवेदिरूपदेशविधानाच्च तापाद्यर्थाग्निनिधाने उत्तरवेदिप्राप्त्यापत्तिः । अत एवौपदेशिकप्रणयनविधिसत्त्वेऽपीतरयोरातिदेशिकप्रणयनसत्त्वादुत्तरवेद्यापत्तिरित्यपास्तम् । औपदेशिकप्रणयनस्य पुरस्स्फूर्तिकत्वेन तत्रैवोत्तरवेदिविधानात् । अतो भाष्यकारमतेऽपि न वार्तिकोक्तदूषणावकाशः ।

वार्तिककारगतोपपादनं तु एवं—सप्तभिस्सूत्रैस्त्रिपक्षकमेकमाधिकरणम् । तत्र प्राकृतं सौमिकं वा प्रणयनमिति पूर्वपक्ष-

द्वयं कृत्वा अपूर्वं प्रणयनान्तरमत्र विधीयते न तु सौमिकं तस्यानुपस्थितत्वात् । नापि प्राकृतं प्राकृतप्रणयनस्याहवनीयो-
त्पादकत्वेनाहवनीयापादानकत्वासम्भवात् 'आहवनीयाद्वावग्नी प्र-
णयतोऽध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता च' इति शाखान्तरवचनेऽवश्यं प्राकृ-
तप्रणयनोत्तरमाहवनीयापादाकप्रणयनान्तरविधानावगतेः । सा-
कमेधेऽपि च बोधायनादिकल्पसूत्रानुसारेणैतत्समानार्थकस्याह-
वनीयापादनकप्रणयनान्तरविधायकविधेः कल्पनेन प्रणयनान्तर-
विधानावगतेस्तदुभयसमानार्थकतया 'द्वयोः प्रणयन्ति' इत्यस्या-
प्याहवनीयापादानकप्रणयनान्तरविधायकत्वस्यैव निश्चयेन प्राकृत-
प्रणयनानुवादकत्वानुपपत्तेः ।

अतः प्राकृतप्रणयनोत्तरमाहवनीयापादानकं प्रणयनान्तरम-
पूर्वं विधीयते । तच्च गत्यर्थवादान्मध्यमयोरेव । तस्य चापेक्षितो-
द्देशविशेष उत्तरवेदिरुत्पत्तिविनियोगविधिभ्यां विधीयत इति
तावपि मध्यमविषयावेव । एवं च प्रथमोत्तमयोस्तत्प्रतिषेधोपि
नित्यानुवाद एव भाष्यकारमत इवावान्तरप्रकरणबाधार्थमिति
सर्वमनाकुलम् । याज्ञिकास्तु पशुबन्धवत् सौमिकानेव धर्मान-
नुतिष्ठन्ति । उत्तरवेदिपरिमाणं परं शम्यामात्रमौपदेशिकं कु-
र्वन्ति । तन्मते 'प्रणयन्ति' इति बहुवचनमपि ब्रह्महोत्रादिसद्भा-
वादुपपद्यत इति ध्येयम् ॥ ७ ॥

(८)—स्वरसामैककपालामिक्षं च लिङ्गदर्श

नात् ॥ २६ ॥ चोदनासामान्याद्वा ॥ २७

पूर्वमुत्तरवेदिप्रतिषेधरूपेण लिङ्गेन सौमिकप्रणयनातिदेशो
निरस्ते अधुना लिङ्गादप्यतिदेशोऽस्तीत्येवं तदपवादः प्रस्तूयते ।

गवामयने 'त्रयस्स्वरसामानः' इति सप्तदशस्तोमकत्वादिधर्मका यागास्समाम्नाताः । अन्यत्रापि 'द्वौ स्वरसामानौ' इति । तथा वैश्वदेवे पर्वणि 'वैश्वदेव्यामिक्षा द्यावापृथिव्य एककपालः' इति सधर्मकौ यागौ । अन्यत्रापि 'मैत्रावरुण्यामिक्षा काय एककपालः' इत्याद्यामिक्षैककपालद्रव्यका यागाश्श्रुताः । ते किं स्वरसामानौ गवामयनिकस्वरसामप्रकृतिकाः ? अन्ये आमिक्षायागाश्च वैश्वदेविकामिक्षायागस्य ? अन्ये एककपालाश्च वैश्वदेविकैककपालस्य ? उत नेति चिन्तायां—गुणत्वादिनैव कल्पितेनातिदेशेनेतिकर्तव्यताकाङ्क्षाशान्तेस्स्वरसामादिशब्दानां च स्वराख्यसामादिरूपगुणविधायकत्वेनानतिदेशकत्वान्नोक्तयागप्रकृतिकत्वमिति प्राप्ते—

गुणत्वादिसादृश्यापेक्षया स्वरसामकत्वादिविशेषसादृश्येन लिङ्गोपबृंहितेनातिदेशकल्पनाच्चोदनालिङ्गातिदेशेन तत्प्रकृतिकत्वम् । लिङ्गानि च स्वरसामसु तावत् 'पृष्ठयः षडहो द्वौ स्वरसामानौ' इत्युक्त्वा आह—'तत्र यत्तृतीयं सप्तदशमहस्तं त्रयस्त्रिंशत्स्तोमकस्य स्थानमभिपर्याहरन्ति स उत्तराणां स्तोमानामव्यवायाय त्रयाणां सप्तदशानामनूचीनतायै' इति द्वयोस्स्वरसाम्नोस्सप्तदशस्तोमकत्वदर्शनम् । मैत्रावरुण्यामिक्षायां च 'न वाजिनेन प्रचरन्ति' इति प्रतिषेधवचनम् । आग्रयणे द्यावापृथिव्यमेककपालं विधाय 'यत्सर्वहुतं जुहोति सा त्वेका परिचक्षा हुतोऽहुतः पर्यावर्तते सा द्वितीया आज्यस्यैव द्यावापृथिव्यौ यजेत' इति एककपालयागे सर्वहुतत्वादिप्रयुक्तं दोषमभिधाय वैकल्पिकाज्ययागविधिपरं वचनम् । न श्रुक्तातिदेशाभावे सप्तदशस्तोमकत्ववाजिनेज्यासर्वहुतत्वादीनां प्राप्तिस्सम्भवति तस्मादतिदेशः । अयं च तत्तदसाधारणध-

र्माणां साधारणधर्माणां च नवप्रयाजत्वप्रसूनमयत्वादीनां जाति-
देशः । मुख्यानां भूयसां च प्रधानान्तराणामनुरोधेन तु क्वचि-
द्विरोधे साधारणधर्माणां वा बाधः । याज्ञिकास्तु असाधारणा-
नामेवातिदशं मन्यन्ते ॥

(१)—कर्मजे कर्म यूपवत् ॥ २८ ॥ रूपं वाऽ-
शेषभूतत्वात् ॥ २९ ॥

कर्मनामधेयानामग्निहोत्रादिपदानामतिदेशकत्वमुक्तम् । तद्व-
देव च संस्कारनाम्नामपि यूपादिशब्दानां 'खलेवाली यूपो भवति'
इत्यादौ सिद्धमेवातिदेशकत्वम् । तद्वत्तु अनोवासःप्रभृतीनां
पदानां किं तत्तदुत्पादकक्रियानिमित्तत्वं उत जातिनिमित्त-
तेत्यातिदेशसिद्धयर्थं विचार्यते । तत्र तक्षणादिक्रियाभावे तच्छ-
ब्दप्रयोगाभावात्तत्र क्रियानिमित्तका एवैते शब्दाः निर्मन्थ्ययू-
पादिशब्दवत् । अतश्च तद्वदेव 'अनो ददाति, वासो ददाति'
इत्यादौ तक्षणवानरूपक्रियाविशिष्टद्रव्यस्यैव दानाङ्गतया विधा-
नात् तक्षणं वानं च प्रयोगमध्ये कृत्वा अनो वासश्च देयम् ।
अत्र च तक्षणक्रियाया वस्तुत उपदेशोऽप्यन्यत्र लोकादौ
कृत्वाया एव विधानादतिदेशत्वव्यवहारो भाक्त इति ध्येयम् ।
सर्वथा तक्षणादि प्रयोगमध्येऽनुष्ठेयमिति प्राप्ते—

क्रियानाशोत्तरमपि जातिदशायां प्रयोगाल्लाघवाद्यौगिक-
त्वाभावाच्च जातावेव शक्तिः । जातिस्तु परं क्रियाभिव्यङ्ग्या
तज्जनितसंयोगविशेषादिरूपफलाभिव्यङ्ग्या वेति तदुत्तरमेव
शब्दप्रयोगः । न त्वेतावता शब्दः क्रियावाचीति तस्या अवि-
धेयत्वेनानङ्गत्वाल्लौकिकमेव सिद्धमनो वासश्च देयम् । निर्मन्थ्य-

शब्दस्तु यौगिक इति युक्तं तस्य मथनक्रियाविधायकत्वम् ।
यूपशब्दे तु क्रियानाशोत्तरं प्रयोगेऽपि तज्जन्यादृष्टविशिष्टकाष्ठ-
वाचित्वान्न शुद्धजातिवाचित्वमिति युक्त एव तत्र संस्काराति-
देशः । वस्तुतस्तु—यूपकार्ये खलेवालीविधानात् यूपशब्दस्य न
संस्कारादिशक्तत्वम् । संस्कारातिदेशस्तु स्थानापत्त्येति सूत्रो-
क्तयूपपददृष्टान्तोप्यसङ्गत एव ॥

(१०)—विशये लौकिकस्स्यात्सर्वार्थत्वात् ॥
न वैदिकमर्थनिर्देशात् ॥ ३१ ॥ तथो-
त्पात्तिरितरेषां समत्वात् ॥ ३२ ॥

गर्गाग्निरात्रे आज्यद्रोहानि सामानि प्रकृत्य 'अग्निमुपनिधाय
स्तुवीत' इति श्रुतम् । तत्राग्निः किं वैदिको लौकिको वेति
चिन्तायां—यद्यपि द्वादशे आहवनीयादीनां योग्यतया लौकि-
कपाकाद्यर्थत्वं निरस्यते तथाऽपि 'यैरस्म्यधिकृतो यांश्च शक्ये
प्रयोक्तुम्' इति सामान्यवचनेन वैदिककर्ममात्रार्थत्वावगतेः वैदिक
एवेति प्राप्ते—

'आहवनीये जुहोति' इत्यादिविशेषवचनानामुपलक्षणत्वे प्रमा-
णाभावात् 'यैरस्म्यधिकृतः' इत्यस्य च होमादिमात्रविषयत्वेऽपि
सार्थक्यादुपधानविधेः लौकिकाग्निग्रहणेऽपि चरितार्थतया आह-
वनीयादीनां 'वि वा एष इन्द्रियेण वीर्येण धर्धते । यस्याहिता-
ग्नोरग्निरपक्षायति' इति वचनेन निषिद्धस्यायतनाच्चलनस्याक्षेप्तु-
मशक्यत्वालौकिकाग्नौरेव ग्रहणम् । अत एव धिषण्याग्नौनामपि
व्याधारणमात्रप्रयोजनत्वादग्रहणम् । यदि परं व्याधारणोत्तरं लौकि-
कत्वाविशेषादुपस्थितत्वात्तेषामेव ग्रहणमित्याशङ्क्येत तदाऽ-
स्तु नाम तत् ॥

(११)—संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् ॥ ३३ ॥

भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद्गुणानामभिधान-
त्वात् ॥ ३४ ॥

यूपैकादशिन्यां यूपसमीपे एकं काष्ठं स्थापनीयामिति
विधाय 'उपशयो यूपो भवति' इति श्रुतम् । तत्रोपशये काष्ठे यूप-
शब्दोऽयं यूपधर्मान् जोषणादीन् संस्कारनिमित्तत्वादसत्यपि
स्थानापत्यतिदेशे नामातिदेशविधयाऽतिदिशेदिति प्राप्ते—

अस्य गौण्या शक्त्यैव वा धर्मविधायित्वे वाक्यभेदाप-
त्तेरुपशयस्तुत्यर्थत्वेन तद्विधेयकवाक्यतापन्नस्यास्य पृथग्विधि-
त्वानुपपत्तेः अर्थप्राप्तकतिपयछेदनादिधर्मयोगेन गौण्या वृत्त्या उप-
शयस्तुतिरेवेदं न तु नामातिदेशकम् ॥

कर्मणः पृष्ठशब्दस्स्यात्तथाभूतोपदेशात् ॥

अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद्गोच्येषु पृष्ठ-
शब्दस्स्यात् ॥ ३६ ॥

अग्नौ 'पृष्ठैरुपतिष्ठते' इति श्रुतम् । तत्र पृष्ठशब्देन किं
विधीयत इति चिन्तायां पृष्ठशब्दस्य स्तोत्रविशेषवचनत्वात्
तस्य च बहुत्वाभावेन चयनाङ्गतया विधानानुपपत्तेः प्रत्यया-
भिहितभावनान्तराण्येव पृष्ठधर्मकाणि धातूपात्तसमीपावस्थानेति-
कर्तव्यताकानि विधीयन्ते पृष्ठधर्मकत्वाच्च तेषां स्तोत्ररूपतासिद्धिः
धातूपात्तमपि च समीपावस्थानमकल्पसकार्यत्वात्कर्मान्तराङ्गमेव ।
अथवा पाशाधिकरणन्यायेन बहुवचनानुरोधेन पृष्ठप्रातिपादके
गौण्यङ्गीकारस्यायुक्तत्वात् बहुवचनेनैकत्वादि लक्षयित्वा चयना-

ङ्गतया ज्योतिष्टोमपृष्ठविधिरेवायम् ! समीपस्थितिस्तु पूर्ववत् पृष्ठस्तोत्रस्यैवाङ्गम् । वस्तुतस्तु—पृष्ठबहुत्वस्यापि ज्योतिष्टोमे साधितत्वात् सर्वाण्येव पृष्ठस्तोत्राणि चयनाङ्गतया विधीयन्ते । न तु पृष्ठमन्त्राणां रथन्तरादिसाक्षां वा विधानं, उपक्रमस्थ-पृष्ठपदे लक्षणाप्रसङ्गात् । एवं च जघन्यमात्मनेपदमेव बाहुल-कतया साधुत्वार्थं व्याख्येयमिति प्राप्ते—

पृष्ठशब्दस्य शरीरावयवेऽपि शक्तत्वेन तत्करणकसमीपाव-स्थितेरपि विधिसम्भवेन स्तोत्रविधावेव नियामकाभावेन सन्दि-ग्धत्वाग्निस्सन्दिग्धात्मनेपदानुरोधेन पृष्ठपदमेवान्यथा नेतुमुचि-तम् । तथाहि 'उपान्मन्त्रकरणे' इति स्मृत्या आत्मनेपदबला-त्समीपावस्थाने मन्त्रस्य करणत्वावगतेः साक्षात्सम्बन्धेनाभिधा-नातिरिक्ते व्यापारे मन्त्रस्य करणत्वासम्भवेऽपि समीपावस्था-नप्रयोजनीभूताभिधानद्वारा समीपावस्थानं प्रति करणत्वाङ्गी-कारात् तदनुरोधेन पृष्ठशब्दस्य मन्त्रपरत्वावगतिः । अत एव समीपावस्थानजन्याभिधानजनकत्वसंसर्गेण मन्त्राणां समीपाव-स्थानं प्रति करणत्वमिति नाभिधानलक्षणाऽपि ।

वस्तुतस्तु—ऐन्द्रचधिकरणस्थकौस्तुभोक्तन्यायेन लक्षणयाऽ-भिधानमेव प्रकृताग्निकर्मकं धातुना विधीयते तत्रैव पृष्ठपदार्थस्य करणत्वं समीपावस्थानं परमत्र 'अभि त्वा' इत्यादिमन्त्रलिङ्गादेव प्राप्तमनूयते । पृष्ठपदेन तु आत्मनेपदानुरोधेन पृष्ठस्तोत्रसाध-नीभूता मन्त्रा लक्ष्यन्ते ।

वस्तुतस्तु—षाडहिकेषु रथन्तरादिषु षट्सु सामसु पृष्ठशब्दा-न्वाख्यानाथार्थवादबलेन निरुद्धलक्षणायाश्चित्राधिकरणकौस्तुभे व्यस्यस्थापितत्वात् तान्येवाभिधानं प्रति करणत्वेन विधीयन्ते सम्भवति च स्तोत्रे इहाभिधानं प्रति साक्षाः करणत्वं अगक्ष-

राभिव्यक्तिद्वारा । अत एव तदाधारभूतातां योनिऋचामण्याभि-
धानाङ्गत्वं उत्तरयोस्तु 'एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयम्' इति
स्तोत्र एव विनियोगाभ्यामभिधानाङ्गत्वप्रसक्तिः । अतश्च योन्या-
धारकरथन्तरादिषाडहिकसामविशिष्टाभिधानमेवात्र स्थण्डिल-
संस्कारकत्वेन विधीयत इति सिद्धम् । सामांशे उपदेशोऽप्य-
यमन्याङ्गत्वस्य पूर्ववगममात्रेणैव चिन्तितः ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितायां भाट्टदीपिकायां

सप्तमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथ सप्तमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः

(१)—इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ॥

स लौकिकस्स्याद्दृष्टप्रवृत्तित्वात् ॥ २ ॥

वचनात्तु ततोऽन्यत्वम् ॥ ३ ॥ लिङ्गेन

वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ॥ ४ ॥

अपि वा न्यायपूर्वत्वात् यत्र नित्यानु-

वादवचनानि स्युः ॥ ५ ॥ मिथो विप्रति-

षेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ॥ ६ ॥

भागित्वात्तु नियम्येत गुणानामभिधा-

नत्वात्सम्बन्धादभिधानवद्यथा धेनुः किशो-

रेण ॥ ७ ॥ उत्पत्तीनां समत्वाद्वा
 यथाऽधिकारं भावस्स्यात् ॥ ८ ॥ उत्प-
 त्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन् ॥
 विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्तेत
 यथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥ १० ॥ लिङ्ग-
 हेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ॥ ११ ॥
 लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दसामान्या-
 देकेनापि निरूप्येत यथा स्थाली-
 पुलाकेन ॥ १२ ॥

तदेवं सप्रसङ्गो नामातिदेशो निरूपितः । इदानीं कल्पित-
 वचनातिदेशो निरूप्यते । यत्रोद्भिद्सौर्यादौ नैवेतिकर्तव्यताऽऽ-
 स्नाता । यत्र वा द्रव्यदेवतोपहोमादिरूपा समान्नाताऽपि न
 निराकाङ्क्षीकरणसमर्था तत्र भावनास्वाभाव्येन तस्याः करणानु-
 ग्राहकव्यापाररूपेतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणसादृश्येन प्रकृ-
 तिभावनोपस्थितौ तदंशत्रयस्याप्युपस्थितेस्तत्र च फलकरणयो-
 रनपेक्षितत्वादिनाऽतिदेशस्य निराकरिष्यमाणत्वादितिकर्तव्यतैव
 प्रकृतिवत् इत्येवंकल्पितेन विकृतिवाक्यशेषरूपातिदेशेन विकृ-
 त्यङ्गतया विधीयते । न च प्रबलप्रमाणेन प्रकृत्यङ्गतयाऽ-
 वगतायाः कथं विकृत्यङ्गत्वमिति वाच्यं, प्रबलस्यापि विकृतिवि-
 धेरितिकर्तव्यताकाङ्क्षाशान्त्यभावेनानर्थक्यप्रसङ्गात् दुर्बलप्रमाण-
 बाधकत्वानुपपत्तेः । अतस्सर्वत्रानाम्नातेतिकर्तव्यताकस्थले आ-
 स्नातेतिकर्तव्यताकस्यातिदेशः । आस्नातेतिकर्तव्यताकाश्च सोम-

दर्शपूर्णमासादयश्श्रुतास्त्रेताग्निसाध्याः । पार्वणरथालीपाकादयश्च
स्मार्ताग्निसाध्याः । अत एव मूले लौकिकपदेनोच्यन्ते । तत्रावि-
शेषात्सौर्यादावुभयोरप्यतिदेशः । यदि तु प्रकृतावेकैकस्याः प्रत्येकं
निराकांक्षीकरणसमर्थाया इह समुच्चयेन मिलिताया निराका-
ङ्क्षीकरणसामर्थ्यकल्पने प्रमाणाभावादेकस्या एवातिदेशः इत्याश-
ङ्क्येत ततोऽस्तु लौकिक्या एवातिदेशः । तस्याः कल्पसूत्रका-
रादिवचनैराग्रहायणिककर्मादावतिदेशस्य कृतत्वेन दृष्टप्रवृत्तिक-
तया सौर्यादावपि तस्या एवातिदेशात् ।

यत्तु सौर्यादौ 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' ऐन्द्राबा-
हते अर्धं बर्हिषो जुनाति, पितृयज्ञे न होतारं वृणीते, गृहमेधीये
आज्यभागौ यजति' इत्यादिलिङ्गदर्शनं तत् यत्र नित्यानुवादव-
चनानि स्युः इत्येषं परिहर्तव्यम् । तथा हि यत्र प्रयाजदर्श-
पूर्णमासादौ तत्र कृष्णलहोमविधिरिति तन्त्ररत्नकारः ।

वस्तुतस्तु--प्रयाजोद्देशेन कृष्णलहोमान्तराविधौ आरादुप-
कारकत्वेन सर्वप्रयाजार्थं तन्त्रेणानुष्ठानापत्तेः । 'प्रयाजे प्रयाजे'
इति वीप्साऽनुवादानुपपत्तिः । प्रयाजीयहोमेद्देशेन कृष्णलमात्रविधौ
विशिष्टोद्देशः । होममात्रोद्देशेन विधावतिप्रसङ्गः । अतः प्रया-
जोद्देशेन कृष्णलमात्रं पूर्वपक्षे आज्येन सह विकल्पेन प्रातिनि-
धित्वेन वा विधीयते । सिद्धान्ते तु तद्वाधकत्वेन । प्रयाजाश्च
पूर्वपक्षे दर्शपूर्णमासीयाः । सिद्धान्ते सौरीया इत्येतावान् विशेषः ।
जुहोतिस्तु संस्कारकत्वेन प्राप्तोऽनूद्यते ।

अत एव भाष्यकारोक्तमस्य वचनोदाहरणत्वमपि पञ्चम-
विधिप्रकारापत्तेरयुक्तम् । याज्ञिकास्तु आज्येनैव प्रयाजहोमं
कृष्णलप्रक्षेपमधिकं कुर्वन्ति । एवं 'अर्धं बर्हिषः' इत्यत्रापि । यत्र

दर्शादौ बर्हिर्लवनं तत्र लवनानुवादेनार्थत्वविधिः । 'न होतारं'
इति तु नित्यानुवादः । आज्यभागविधिस्तु अपूर्वविधितया
वचनमिति द्रष्टव्यम् । यत्र हि गुणोपादानं भवेत् तत्र सर्वत्र
तृतीयविधिप्रकारलोभेन यत्र इत्यस्यैवोदाहरणत्वं भवेत् न
वचनस्य । अस्तु वा यत्र प्राकरणिकगुणावरुद्धे गुणान्तरस्य
प्रतिनिधित्वादिनाऽपि कथंचिन्निवेशासम्भवस्तत् वचनोदाहरणम् ।
सर्वथाऽतिदेशाभावेऽपि लिङ्गोपपत्तिरिति प्राप्ते—

स्वप्रत्यक्षपठितवेदविहितत्वसादृश्यात् वैतानिकाग्निसाध्यत्व-
सादृश्याच्च वैदिक्या एवातिदेशः । अतिदेशाभावेऽपि हि सौर्या-
दीनां गृह्यसूत्रेष्वनुक्तत्वात् न स्मार्ताग्निसाध्यत्वम् । अतस्सा-
मान्यविहिताहवनीयादिसाध्यत्वे बाधकाभावात् सादृश्योपपत्तिः ।
अत एवजातीयकेषु दर्शपूर्णमासादिधर्माणामेवातिदेश इति सि-
द्धम् । लिङ्गान्यप्येवं सत्युपपन्नानि भवन्ति, इतरथा प्रकरण-
बाधो वाक्यानर्थक्यं वा प्रसज्येत ॥

(२)—द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वादैकाहि-
कमधिकागमात्तदाख्यं स्यादेकाहवत् ॥
लिङ्गाच्च ॥ १४ ॥ न वा क्रत्वभिधानाद-
धिकानामशब्दत्वम् ॥ १५ ॥ लिङ्गं सङ्घा-
तधर्मः स्यात्तदर्थपत्तेर्द्रव्यवत् ॥ १६ ॥
न वाऽर्थधर्मत्वात् सङ्घातस्य गुणत्वात् ॥
अर्थापत्तेर्द्रव्येषु धर्मलाभस्स्यात् ॥ १८ ॥
प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ॥ १९ ॥

विहारदर्शनं विशिष्टस्यानारभ्यवादानां प्र- कृत्यर्थत्वात् ॥ २० ॥

तदेवं निरूपितस्त्रिविधोऽतिदेशः । तत्र प्रत्यक्षवचनातिदे-
शस्य द्विविधादप्यतिदेशात्प्राबल्यं धर्माणामुपात्तत्वात् वाक्य-
वैयर्थ्यापत्तेश्च पूर्वमेव प्रसङ्गादुपपादितम् । अतस्तादृशविषये
चोदनालिङ्गातिदेशस्य नैव कल्पना । नास्मस्तु यदि समानवि-
षयत्व तदा प्रत्यक्षवचनापादितसिद्धसादृश्यमादायैव नास्मो
गौणत्वापत्तेर्नातिदेशकत्वम् । यदि तु भिन्नविषयत्वेन न सादृश्य-
सम्पत्तिस्तदा नास्मोऽप्यविरुद्धधर्मातिदेशकत्वमवधेयम् ।

एवं नामातिदेशसत्त्वेऽपि समाने असमाने वा विषये
चोदनालिङ्गातिदेशस्य नैव कल्पना नास्मः प्रत्यक्षत्वेन तेनैवेति-
कर्तव्यताकाङ्क्षाशान्तेः । अत एव गवामयने 'ज्योतिर्गौरायुः' इत्येव-
मादिष्वहस्तु एकाहकाण्डपठितज्योतिरादिधर्माणां नास्मा प्राप्तिः
न तु गणत्वसादृश्याद्वादशाहधर्माणाम् । न चाहरन्तरार्थमव-
श्यकल्प्येन गणत्वसादृश्याद्गवामयननिष्ठद्वादशाहिकातिदेशेनैव त-
द्धर्मप्राप्तिरेवावश्यकी । तत्तदहकृत्पत्तिवाक्येष्वेव भावनाया इति-
कर्तव्यताकाङ्क्षायां गणान्तर्गतत्वसादृश्येन चातुर्मास्यान्तर्गताग्नेया-
दिष्वद् प्रत्येकमेवातिदेशकल्पनेन ज्योतिरादिनामातिदेशसत्त्वेन
चोदनालिङ्गातिदेशस्यैवाकल्पनात् । न च लाघवाद्गवामयने एक
एवातिदेशः गवामयनत्वस्य प्रत्येकवृत्तित्वेन प्रत्येकमेव फलस-
म्बन्धात् साधनानां समुच्चयेऽपि तत्तत्साधनानां प्रत्येकमेवेति-
कर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रत्येकमेव तत्कल्पनात् । अतो ज्योतिरादौ नैव
चोदनालिङ्गातिदेशः । नचैवं तेषु त्रुचपसत्त्वस्यैव प्राप्तेः 'द्वाभ्यां

लोमावद्यति द्वाभ्यां मांसम् ' इत्यादि षाड्विकाननुक्रम्य यद्वाद-
शोपसदो भवन्ति ' इति द्वादशाहिकद्वादशोपसत्त्वदर्शनानुपपत्तिः
तस्य भूयोऽहरन्तरानुगोधेन नामातिदेशप्रापितत्रित्वबाधकत्वो-
पपत्तेः द्वादशसु तिसृणामप्युपकारकत्वोपपत्तेश्च । तस्मात् तत्त-
त्सुत्याकालिनाङ्गानामन्येषामपि वा त्रित्वाद्यतिरिक्तानामेव नामा-
तिदेश इति सिद्धम् ।

नन्वेवमप्येकादशिन्यां विहारदर्शनानुपपत्तिः । तथाहि—ज्यो-
तिष्ठोमे सौत्येऽहनि वैकल्पिकी एकादशिनी समास्नाता, तस्याश्च
द्वादशाहे विहरश्श्रुतः । तस्यातिदेशेन गवामयने एकषष्ठ्यधि-
कशतत्रयसुत्यात्मके प्राप्ताविदं श्रुतं 'यस्यातिरिक्तमेकादशि-
न्यामालभेरन् अप्रियं भ्रातृव्यमतिरिच्येत द्वौद्वौ पशू समस्ये-
युः कनीय आयुः कुर्वीरन् यदेते ब्राह्मणवन्तः नव पशव आल-
भ्यन्ते नाप्रियं भ्रातृव्यमतिरिच्यते न कनीय आयुः कुर्वीत'
इति । गवामयने हि सम्पूर्णैकादशिन्या द्वात्रिंशद्धारमावृत्तौ द्विप-
ञ्चाशदधिकशतत्रयमहानि पूर्यन्ते अवशिष्टानि नव तत्र पुनरे-
कादशिनीकरणे अतिरेकः समासो वाऽऽपद्येत । अतो ब्राह्मणव-
तां तेषु विधानम् । तद्यदि चोदनालिङ्गातिदेशेन ज्योतिरादिसुत्या-
स्वपि विहारः प्राप्यते तत एव तल्लिङ्गमुपपद्येत । यदि तु नामा-
तिदेशप्राबल्यं तदा तद्वलेन ज्योतिरादिसुत्यासु सम्पूर्णया
एकादशिन्या एव प्राप्तेः विहारदर्शनानुपपत्तिरिति चेन्न—

एकादशिनीविरहस्यानारभ्यास्नातस्य गवामयने औपदे-
शिकत्वेन तदंशे नामातिदेशबाधात् । तथाहि 'यथा हि प्रभवः
पशवस्स्युः तानेताननूचीनानालभेरन् आग्नेयमेव प्रथमेऽहन्याल-
भेरन् सारस्वतीं मेष्ठीं द्वितीये सौम्यं बभ्रुं तृतीये वारुणम-

स्ततः । अथ पुनर्ज्योतिरादीनां पर्यावर्तेषु आग्नेयमेव प्रथमेऽहनि ।
इत्याद्यनारभ्यार्धतस्यैकादशिनीविहारस्य प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे
द्वादशाहे वा ज्योतिराद्यहस्तमूहाभावेन निवेशानुपपत्तेः तृती-
यप्रकृतौ गवामयने निवेशः । अन्ततः एकादशेऽहनि । अतश्चौ-
पदेशिकत्वान्नामातिदेशस्तदंश एव बाध्येतेत्युपपन्नं छिद्म ॥ २ ॥

इति श्रीखण्डदेवविरचितयां भाट्टदीपिकायां

सप्तमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

अध्यायश्च समाप्तः

